श्री नरसिंहाराव सरकार के कार्यकाल में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

इलाहाबाद विश्वविद्यालय
की डी0 फिल्0 उपाधि
के लिये प्रस्तुत शोध प्रबन्ध

निर्देशक
डॉ० मोहम्मद शाहिद

प्रस्तुतकर्त्ता
केशवी राजे सिंह

राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद
2002

राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

डॉ0 मोहम्मद शाहिद
वरिष्ठ प्राध्यापक

प्रमाण-पत्र

प्रमाणित किया जाता है कि ***केशवी राजे सिंह*** ने **"श्री नरसिंहाराव सरकार के कार्यकाल में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध"** विषय पर मूल स्रोतों एवं सहायक सन्दर्भो का गहन अध्ययन करते हुये परिश्रमपूर्वक शोध कार्य पूरा किया है । हमारे विश्वविद्यालय में इस विषय पर कोई काम नही हुआ है और इस प्रकार से यह एक आद्यतन प्रयास है जिसकी सराहना की जानी चाहिए । मैं अपने इस शोध छात्रा के उज्जवल भविष्य की शुभकामना करता हूँ ।

दिनाँक : 9-9-2002

(मोहम्मद शाहिद)

वरिष्ठ प्राध्यापक
राजनीति विज्ञान विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय,
इलाहाबाद-211 002
फोन नं॰ (0532)-546647

प्राक्कथन

जब मैंने एम० ए० किया तो उस समय में भारत श्री नरसिंहाराव की सरकार थी । वह सवैधानिक संकट से उबर कर एक पूर्ण बहुमत प्राप्त सरकार में परिवर्तित हो चुकी थी । 1989 से 1991 के बीच भारत को दो अल्पकालीक साझा सरकारों का कटु अनुभव करना पड़ा था । भारतीय अर्थव्यवस्था अत्यधिक संकट में आ चुकी थी । 1990-91 के खाड़ी युद्ध के समय में विदेशी सम्बन्धों के क्षेत्र में भारत की आबादी का कोई वजन नहीं था । 1991 के लोकसभा चुनाव के समय कांग्रेस सबसे बड़े दल के रूप में उभर कर सामने आयी । आन्तरिक राजनीति के क्षेत्र में भारतीय राज्यों में क्षेत्रीय दलों का उदय वास्तविकता बन चुका था । उस समय कि कठोर समस्यायें भारत की राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न करने में लगी हुई थी । इस परिवेश में श्री नरसिंहाराव के कन्धों पर भारतीय व्यवस्था का बोझ रखा गया उस समय मेरे मन में यह बात थी कि श्री नरसिंहाराव के कार्यकाल में राजनीतिक व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का अध्ययन किया जाये । श्री नरसिंहाराव की विदेश नीति और आर्थिक उदारीकरण पर बहुत से लोगों ने कार्य किया है । मैंने श्री नरसिंहाराव के कार्यकाल में शोध कार्य करने का निर्णय लिया इसके लिये राजनीति विज्ञान विभाग के वरिष्ठ प्रवक्ता डॉ० मोहम्मद शाहिद से इस समस्या के सम्बन्ध में बातचीत हुई और वह शोध का निर्देशन करने को तैयार हो गये ।

भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध का अध्ययन अत्यन्त रोचक विषय रहा है तथा भारत में राज्यों का केन्द्र के साथ समय-समय पर कैसा सम्बन्ध रहा है यह अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय है । केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में आपसी संघर्ष की उत्पत्ति और उनमें इतिहास की क्या भूमिका रही है इसका वर्णन इस शोध ग्रन्थ में किया गया है । स्वतन्त्रता के पूर्व भारत में राज्यों की स्थिति कैसी थी उनका शासन किस प्रकार होता था और स्वतन्त्रता के बाद किस प्रकार राज्यों का पुनर्गठन हुआ, भारत में राज्यों की स्थापना कैसे हुई तथा जब भारत में राज्यों की स्थापना हो गई तो यह समस्या आयी कि किस प्रकार का शासन स्थापित किया जाये । संघात्मक शासन व एकात्मक शासन, परन्तु भारत में संघात्मक

शासन की स्थापना की गयी क्योंकि 15 अगस्त 1947 को देश का विभाजन हुआ तो देश के संविधान सभा के कार्य में जो रूकावट खड़ी हो गयी थी, वे दूर हो गयी और भारतीय गणराज्य एक संघ बन गया जिससे संविधान में संघवाद के सिद्धान्त आवश्यक परिवर्तन के साथ अपना लिये गये । हमारे सविधान में भारत को राज्यो का संघ कहा गया है जब भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई तो उस समय उसका रूप अति केन्द्र प्रधान व एकात्मक था । संघात्मक व्यवस्था में जब दो या दो से अधिक राज्य मिलकर एक ऐसी राज्य व्यवस्था स्थापित करते हैं जिनमें कुछ सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिये गिनी हुई शक्तियॉ अपने पास रख लेते हैं तो वे एक संघ का निर्माण करते हैं । भारत में संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है । भारतीय संविधान में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को तीन भागों विधायिनी, प्रशासकीय तथा वित्तीय में विभाजित किया गया है । संकटकाल में केन्द्र सरकार राज्य सरकारों के ऊपर पूर्णरूपेण से नियन्त्रण रखती है ।

1967 से पूर्व केन्द्र व राज्यों के बीच कुछ मामलों में विरोध की स्थिति उत्पन्न हुई मगर उन्हे परिवारिक झगड़ों से ज्यादा महत्व नहीं दिया जा सकता था । 1967 तक भारत में केन्द्र तथा राज्य सम्बन्ध सहयोग और सद्भावना पर आधारित थे । उनके बीच कोई टकराव की स्थिति नहीं उत्पन्न हुई । प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव के कार्यकाल में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध बनते विगड़ते रहे और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में सदैव जटिलता उत्पन्न होती रही । केन्द्र-राज्य के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय इस आधारभूत सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए की संघात्मक शासन में विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्र तथा राज्यों के बीच वितरण स्वयं संविधान द्वारा किया गया है केन्द्र द्वारा निर्मित विधि द्वारा नहीं ।

भारत संघ के राज्यों में अक्षम नेतृत्व, दलबदल, दलों की आन्तरिक गुटबन्दी आदि के कारण राजनीतिक स्थायित्व प्रायः कम ही रहा है । अधिकांश राज्य काफी हद तक राजनीतिक अस्थिरता के शिकार रहे हैं । वहॉ संवैधानिक संकट पैदा होते रहे हैं और फलस्वरूप बार-बार राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ता है अतः संसद को इस बात के लिये सतर्क रहने की आवश्यकता है कि वह यह परीक्षण करती रहे कि संविधान के अनुच्छेद 352, 356, 360 तक के विभिन्न आपात उपबन्धों के अधीन राष्ट्रपति को प्राप्त व्यापक शक्तियों का उचित उपयोग हो । केन्द्र वित्तीय क्षेत्र में राज्यों के प्रति निरन्तर

उदार होता जा रहा है अतः इसका ज्वलंत प्रमाण सातवें व आठवें वित्त आयोगों की सिफारिशें हैं । इन सिफारिशों में केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों को काफी हद तक सुधारा गया है । केन्द्र-राज्य सम्बन्धों को पुनः निर्धारित करने के लिये 19 अगस्त 1969 को राजमन्नार समिति का गठन किया गया । केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की समीक्षा करने के लिये सरकार द्वारा 24 मार्च 1983 को सरकारिया आयोग की नियुक्ति की गयी । तीन सदस्यीय आयोग ने 1987 को अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की । संविधान में संशोधन की प्रक्रिया को सरल रखा गया है, ताकि सामाजिक स्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन किया जा सके । वित्त आयोग और चुनाव आयोग जैसे स्वायत्त प्राधिकरणों को कार्य विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन के अधिकार प्राप्त हैं । विशेष अधिकार प्राप्त सम्मेलन व आयोगों के जरिये केन्द्र व राज्य में मतभेद कम करने की व्यवस्था की गयी है ।

प्रस्तुत शोध ग्रन्थ छः (6) अध्यायों में विभाजित है :

प्रथम अध्याय में ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का वर्णन किया गया है कि स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व व स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद ऐतिहासिक पृष्ठभूमि किस प्रकार की रही है ।

द्वितीय अध्याय में राज्यों का पुनर्गठन तथा प्रशासन का केन्द्र के साथ सम्बन्ध का वर्णन किया गया है ।

तृतीय अध्याय में संघवादी व्यवस्था के बारे में वर्णन किया गया है कि किस प्रकार भारत में संघात्मक शासन की स्थापना की गई ।

चतुर्थ अध्याय में श्री नरसिंहाराव सरकार के पूर्व केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की प्रकृति का वर्णन है ।

पंचम अध्याय में श्री नरसिंहाराव सरकार के कार्य-काल में केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का वर्णन किया गया है ।

अन्तिम व **छठे अध्याय** उपसंहार में यह बतलाया गया है कि केन्द्र राज्य सम्बन्ध किन संवैधानिक आधारों पर सामन्जस्य स्थापित कर सकते हैं ।

आभार

सर्वप्रथम मैं अपने निर्देशक श्रद्धेय *डॉ० मोहम्मद शाहिद,* वरिष्ठ प्राध्यापक राजनीति विज्ञान विभाग इलाहाबाद विश्वविद्यालय, की हृदय से आभारी हूँ जिनकी प्रेरणा वरदहस्त एवं आर्शीवाद के बिना यह श्रमसाध्य कार्य सम्भव नही था । उन्होने मुझे इस कार्य में पूर्ण सहयोग प्रदान किया, आवश्यक चीजें समझायी, पुस्तकें व अन्य सामग्री देकर मुझे इस कार्य में काफी सहायता दी तभी मेरा यह श्रमसाध्य कार्य पूर्ण हो सका । अतः मै उनकी हृदय से आभारी हूँ ।

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के विभागाध्यक्ष *प्रो० आलोकपंत जी* की भी मै ऋणी हूँ जिनका सहयोग मुझे प्राप्त होता रहा । मैं राजनीति विज्ञान विभाग के डॉ० *मोहम्मद असलम, डॉ०(श्रीमती) कृष्णा गुप्ता, डॉ० एम० एफ० काजमी, डॉ० डी० डी० कौशिक, डॉ० वी० के० राय, डॉ० पंकज श्रीवास्तव, डॉ०(श्रीमती) अनुराधा अग्रवाल* व अन्य सभी वर्तमान एवं अवकाश प्राप्त प्रोफेसर, रीडर व लेक्चरर की भी ऋणी हूँ जिन्होने मुझे सहयोग प्रदान किया । जिनकी प्रेरणा और प्रोत्साहन मुझे मिलता रहा । सभी के प्रति मैं अपना आभार व्यक्त करती हूँ ।

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय के राजनीति विज्ञान विभाग के कर्मचारियों के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ । विभाग के पुस्तकालय से भी मुझे इस कार्य में बड़ा सहयोग मिला । पुस्तकालय सहायकों ने पुस्तकें देकर मुझे इस कार्य में सहयोग प्रदान किया ।

मेरे पिता *श्री राजेन्द्र बहादुर सिंह* व माता *श्रीमती उषा सिंह* ने मुझे इस कार्य में पूर्ण सहयोग दिया और मेरा उत्साह बढ़ाया । उनके प्रति मैं अपना स्नेहायुक्त सम्मान प्रकट करती हूँ जिनकी प्रेरणा मेरे सम्पूर्ण अध्ययन में सहायक सिद्ध हुई ।

मै अपनी सास *श्रीमती सन्तोष कुमारी श्रीवास्तव* जी की भी आभारी हूँ जिन्होने मुझे इस कार्य में सहयोग प्रदान किया ।

इस शोध प्रबन्ध के पूर्ण होने में मेरे पति *श्री सुशील चन्द्र श्रीवास्तव* का भी पूर्ण सहयोग मुझे प्राप्त होता रहा । जिन्होने मुझे इस कार्य में काफी उत्साह और सम्बल प्रदान किया । इनकी पूर्ण देखरेख में यह श्रमसाध्य कार्य पूर्ण हो सका । उनके प्रति तो आभार

व्यक्त करना भी कम होगा जिन्होने मेरी पग-पग पर सहायता की । मैं अपने बेटे मास्टर *यश* के प्रति भी आभार व्यक्त किये बिना नही रह सकती जिसका कीमती समय जो मुझे उसे देना चाहिए था, वो मैने अपने इस शोध कार्य में लगाया ।

अन्त में उन सभी मित्रों व अन्य लोगों के प्रति जिन्होने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से इस शोध प्रबन्ध के पूर्ण होने में मुझे कृपा पूर्ण सहयोग प्रदान किया है, मैं हृदय से आभार व्यक्त करती हूँ व धन्यवाद ज्ञापित करती हूॅ ।

दिनाकः 6.9.2002

स्थानः इलाहाबाद

Keshvi Raje Singh
(केशवी राजे सिंह)

अनुक्रमणिका

अध्याय - 1

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

सदियों पुराने भारत के इतिहास में जिस प्रकार अनेक प्रकार के शासन और राजनीतिक व्यवस्थायें आयी उसी प्रकार उनके अपने प्रशासन और प्रशासनिक व्यवस्थाओं का उतार चढ़ाव भी चलता रहा । भारतीय इतिहास जिस प्रकार राजनीतिक दृष्टि से उन्नत और विकसित माना जाता है उसी प्रकार भारतीय शासन का इतिहास भी एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है ।

आज सारे भारत का एक ही संविधानिक ढॉचा, लक्ष्य, और भविष्य है, परन्तु सदियों तक सम्पूर्ण भारत एक ही राजनीतिक इकाई के रूप में नही रहा । इतिहास के आरम्भिक वर्षों में एक भारतीय समाज और संस्कृति का विकास तो हुआ, परन्तु इस समाज के लिये एक ही राजनीतिक व्यवस्था और केन्द्रीय शासन का निर्माण नही हुआ । संस्कृति और जाति प्रथा के आधार पर भारतीयों में एक ही समाज के प्राणी होने की भावना तो थी परन्तु एक राज्य के नागरिक होने की भावना उनमें नही थी । एक समाज एक राष्ट्र और एक राज्य का वास्तविक अस्तित्व सन् 1947 से ही आरम्भ होता है । किसी भी देश का शासन कितना सफल होता है या क्या रूप ग्रहण करता है यह इस बात पर निर्भर करता है कि उसकी परम्परा क्या रही है, उसकी समाज व्यवस्था और आदर्शों व विचारों में नई बातों को ग्रहण करने की कितनी शक्ति है, उस पर बाहर से क्या प्रभाव पड़े है और इतिहास की किन परिस्थियों में उसने नये प्रभावों को ग्रहण किया है ।

काफी लम्बी अवधि से भारत पर जो विभिन्न प्रकार के प्रभाव पड़े उन्ही से उसके वर्तमान राजनीतिक रूप की रचना हुई है ।

भारत का इतिहास हजारों वर्षों का है यहॉ साम्राज्यों से लेकर छोटे राज्य और गणराज्य, जैसे अनेक प्रकार के राजतन्त्र रहे हैं । जिसे हिन्दु युग कहते हैं वह ईसा से पहले 15वीं शताब्दी और दसवीं शताब्दी के बीच स्थिर हुआ । आदिकालीन हिन्दु युग में भारतीय समाज राजनीतिक रूप से अनेक स्वतन्त्र क्षेत्रों में बंटा हुआ था । विभिन्न क्षेत्रों में प्रशासन व्यवस्था भी अलग-अलग प्रकार की थी । कहीं पर पूर्ण राजतन्त्र था तो कहीं पर लोकतन्त्र और गणतंत्र के विभिन्न प्रकार सफलता से कार्य कर रहे थे । इसके अतिरिक्त ग्रामीण अर्थव्यवस्था तथा उत्पादन प्राकृतिक और परम्परागत साधनों पर आधारित थे जिनके कारण सामाजिक जीवन स्थिर था । इसलिये जनसाधारण की रूचि केवल गाँव

की प्रक्रियाओं तक ही सीमित थी । गॉव की राजनीति के मुख्य आधार स्थानीय स्तर पर नियंत्रण, गुटबन्दी और मतभेद थे । उनके सम्बन्ध मूल रूप से पारिवारिक तथा जातीय किस्म के थे परिणामस्वरूप राजनीति, स्थानीय और जातीय स्तर पर मतभेदों को निपटाने तक की ही प्रक्रिया थी ।[1]

हर्षवर्धन की मृत्यु के बाद लगभग पॉच सदियों तक भारत विभिन्न राजवशों के छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त रहा । 12वीं शताब्दी में तुर्की राजवंशों का सल्तनत कालीन प्रशासन तथा 16वीं शताब्दी में स्थापित मुगल प्रशासन राजनीतिक एकता तथा सुदृढ़ केन्द्रीकृत प्रशासन का उदाहरण है । हिन्दु युग का प्रशासन राजनीतिक दृष्टि से भारत का एक गौरवपूर्ण पृष्ठ है । इसने ऐसी सामाजिक व्यवस्था, राजनीतिक व्यवस्था तथा ऐसी परंम्परा और मूल्यों का निर्माण किया जिसने बाद के युगों पर भी स्थायी प्रभाव डाला । इस युग में स्थापित बड़े-बड़े साम्राज्यों के काल में देश में महान कलाकृतियों, मंदिरों, पुराण, इतिहास, काव्य और शास्त्रों की रचना हुई । अतीत की इस गौरवमयी परम्परा ने आधुनिक युग में देश के जागरण में योग दिया । इस समाज व्यवस्था में विशाल क्षेत्र में फैले, राजनीतिक सत्ता और परम्परा से विहिन भारतीय आर्यों ने एक ऐसी समाज व्यवस्था का विकास किया जो उनकी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति करती थी । जन साधारण का राज्य की राजनीति से न तो कोई विशेष सम्बन्ध था न उसमें रूचि इसलिए अनेक क्षेत्रों में धर्म, परिवार अथवा जाति के आधार पर शासन, दीर्घकाल तक निरंकुश तथा गौरवमय बने रहे । आज भी भारत के अनेक क्षेत्र इन अनेक इकाइयों के सीधे उत्तराधिकारी माने जा सकते है । उदाहरण के रूप में मैसूर के आदिकालीन राष्ट्रकूट और चालुक्य वंश, बंगाल के पाल और मद्रास के चोल वंश; आन्ध्र के सालाकन राजवंश तथा इसी प्रकार के अन्य घराने आज भी प्रसिद्ध हैं ।[2] इस प्रकार अपनी समाज व्यवस्था, पुराणों और महाकाव्यों के आदर्श; ब्राहम्ण वर्ग के नेतृत्व और महान धार्मिक आन्दोलनों के कारण हिन्दु धर्म में एकता और निरन्तरता की भावना बनी रही । भारत एक राष्ट्र भले न बन सका हो, किन्तु उसमें एक समाज और सभ्यता का निर्माण अवश्य किया और भारतीयों में यह

---

[1] कोठारी रजनी : पालिटिक्स इन इण्डिया, देहली, ओरियन्ट लांगमेन, 1970, पृष्ठ 25।

[2] वीनर माइनर : स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया, प्रिन्सटन, एन० जे० प्रीन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968, पृष्ठ 18 ।

भावना काफी व्यापक थी इस एकता की भावना के बावजूद और इसके विशिष्ट स्वरूप के कारण पूरे हिन्दु युग के दौरान समाज और राजनीति का पार्थक्य बना रहा । साम्राज्यो का उत्थान और पतन होता रहा, लेकिन भारतीय समाज का अधिकांश भाग अपने रास्ते पर चलता रहा । एक केन्द्रीय सत्ता और निष्ठा का कार्य अधूरा ही रहा । मध्य युग में मुस्लिम शासकों ने सम्पूर्ण भारत में कर एकत्रित करने तथा कानून और व्यवस्था बनाये रखने की दृष्टि से एक शक्तिशाली केन्द्र, सक्रिय प्रशासन एवं प्रभावशाली राजनीतिक व्यवस्था के निर्माण का प्रयत्न किया । इन्होंने एक विशिष्ट राजनैतिक पद्धति, एक आधिकारिक केन्द्र और व्यापक एव कार्यकुशल शासन प्रणाली स्थापित की जिसमें केन्द्रीय सत्ता के अन्तर्गत सूबों और जिलों में राजस्व की वसूली और प्रशासन के लिये बड़े और छोटे अधिकारी तैनात किये[3], परन्तु इस व्यवस्था और नियंन्त्रण का स्थानीय संस्थाओं, ग्रामीण ढॉचे और जनसाधारण के विचारों तथा मूल्यों पर कोई प्रभाव नही पड़ा । वैसे भी मुगल प्रशासन सत्ता के बंटवारे पर ही आधारित था । साम्राज्य अनेक प्रान्तों में बंटा हुआ था । इन प्रान्तों में केन्द्र द्वारा नियुक्त सरदार अथवा शासक सत्ताशाली थे ।

यद्यपि इन शासकों की नियुक्ति सम्राट की इच्छा पर निर्भर करती थी फिर भी वास्तव में वे उत्तराधिकार के आधार पर ही नियुक्त होते थे । इसलिये इनमें शासकीय अधिकार एंव निरकुंशता की भावना पाई जाती थी । मुगल शासकों ने सम्पूर्ण भारत पर नियन्त्रण स्थापित करने में भी पूर्ण सफलता प्राप्त नही की । कुछ क्षेत्र जो संधियों के आधार पर केन्द्रीय शासन को निश्चित नजराना देते थे परन्तु अपने शासन में लगभग स्वतन्त्र थे, अर्द्ध स्वतन्त्र राज्यों के रूप में स्थिर थे । यद्यपि इस देश में नागरिक शासन की भी अच्छी व्यवस्था थी । मुस्लिम शासन काफी समय तक कायम रहा फिर भी यह सारे देश को एक राजनीतिक सत्ता के अधीन न ला सका । दक्षिण में अनेक ऐसे क्षेत्र भी थे जहॉ मुगल सम्राट अपने शासन के चरम काल तक भी नहीं पहुँच पाये । "राज्य विस्तार के लिये निरन्तर युद्ध होते रहे; जिससे बड़ी बरबादी और अव्यवस्था पैदा हुई। अनेक मराठा, राजपूत तथा सिख संगठन अंत तक इस शासन का विरोध करते रहे, इसप्रकार सम्पूर्ण भारत में एक ही राजनीतिक व्यवस्था तथा समान प्रशासनिक तथा

---

[3] वीनर माइनर : स्टेट पालिटिक्स इन इण्डिया, प्रिन्सटन, एन० जे० प्रीन्सटन यूनिवर्सिटी प्रेस, 1968, पृष्ठ 18 ।

सामाजिक ढॉचे के निर्माण का अभाव था । मुगल युग के अन्त में भारत में कोई केन्द्रीय शक्ति न रही वह आपस में लड़ने वाले छोटे राज्यों में बंट गया । इस स्थिति में यूरोपीय शक्तियों की बन आई और मुगल साम्राज्य के खंडहरो पर ब्रिटिश साम्राज्य कायम हुआ ।"[4]

ब्रिटिश शासन काल में भारत में एक ही प्रशासनिक व्यवस्था तथा साम्राज्यवादी सत्ता का काफी विस्तार हुआ परन्तु इस शासन में भी भारत का एक बहुत बड़ा भाग सीधे अंग्रेजी शासन-व्यवस्था मे सम्मिलित नही था । देश के लगभग एक तिहाई भाग में भारतीय राजाओं का शासन था । भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का बीजरूप में प्रारम्भ 1600 ई० में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ हुआ । प्रारम्भ में इनका उद्देश्य भारत में व्यापार करना था, पर धीरे-धीरे उन्होने सक्रिय राजनीति में भाग लेना आरम्भ किया। उसकी प्रादेशिक महत्वाकांक्षा बलवती होती गई और शीघ्र ही वह इस देश में एक प्रमुख शक्ति बन गयी । 1772 ई० से 1858 ई० तक के युग में कम्पनी का शासन तो रहा ही, किन्तु ब्रिटिश संसद भी भारतीय प्रशासन सम्बन्धी मामलों में अधिकाधिक रूचि लेने लगी । 1857 के स्वाधीनता संग्राम ने एक जबरदस्त परिवर्तन का आधार तैयार कर दिया और 1858 से भारत में प्रत्यक्ष ब्रिटिश शासन की शुरूआत हो गयी । भारत सरकार का संचालन कम्पनी से क्राउन के हाथ में आ गया ।

ब्रिटिश काल में प्रशासन का सबसे बड़ा विरोधाभास एवं विडम्बना यह रही कि एक ओर तो वह साम्राज्यवादी हितों का मन्त्र बना; किन्तु दूसरी ओर अंग्रेजों ने अपने उदारवादी दर्शन के आधार पर भारत की राष्ट्रीयता को उसमें समाहित करने की कोशिश भी की ।

साम्राज्यवाद की मॉग थी कि केन्द्रीकृत प्रशासन स्थायित्व का मन्त्र बने । किन्तु उदारवाद और भारतीय राष्ट्रीयता का तकाज़ा था कि प्रशासन जनहित में कार्य करें और उसमें धीरे-धीरे भारतीयों को उचित स्थान दिया जाये । शासक और शासित के बीच यह प्रशासकीय भारतीय मध्यम वर्ग धीरे-धीरे अंग्रेजी व्यवस्था का आधार स्तम्भ बना और इसका

[4] कोठारी रजनीः भारत में राजनीति, पृष्ठ 25।

सहारा लेकर जहाँ एक ओर प्रशासन में योग्यता और भारतीकरण के सिद्धान्त पनपे वहीं दूसरी ओर एक ऐसी अप्रजातांत्रिक नौकर शाही का विकास हुआ जिसे वर्तमान स्थिति में तालमेल बैठाने में आज भी कठिनाइयाँ आ रही हैं ।

भारतीय गणराज्य के संविधान की जड़े बहुत हद तक ब्रिटिश शासन के अधीन भारत के इतिहास में समायी हुई हैं । यह इतिहास 1600 ई० में इग्लैण्ड में ईस्ट इंडिया कम्पनी की स्थापना से आरम्भ होता है यद्यपि अंग्रेज भारत के शासक 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध तक नही बन पाये थे । प्रारम्भ में कम्पनी का जो मुख्यतः व्यापारिक स्वरूप था वह डेढ़ शताब्दी के अन्त में मुगल साम्राज्य के पतन से जो कि देश में एकीकरण की मुख्य शक्ति थी और उसके फलस्वरूप केन्द्रीय प्रशासन के विघटन से और आपस में प्रतिद्वंदिता करने वाले अनेक स्थानीय शासकों के उदय से; कम्पनी को भारतीय राजनीति के क्षेत्र में प्रवेश करने का अवसर मिल गया । 1757 में बंगाल के नवाब सिराजुद्दौला के विरूद्ध हुई प्लासी की लड़ाई में कम्पनी की सेनाओं की विजय ने भारत मे ब्रिटिश साम्राज्य की नींव डाली ।

ज्यों-ज्यों कम्पनी का स्वरूप एक व्यापारिक संस्था से एक प्रादेशिक शक्ति के रूप में बदलता गया त्यों-त्यों उसके प्रति ब्रिटिश संसद के दृष्टिकोण में भी भारी परिवर्तन होता गया । अधिनियमों की एक श्रृखला के द्वारा संसद ने भारत में कम्पनी के कार्यों पर अपना नियंत्रण बढ़ा लिया । रेग्यूलेटिंग एक्ट 1773, पिट्स इंडिया एक्ट 1784 तथा इसके बाद लागू होने वाले चार्टर अधिनियमों की श्रृंखला इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण है । इन अधिनियमों का परिणाम अन्ततः यह हुआ कि भारत में एक अत्यन्त केन्द्रीत ब्रिटिश शासन का आविर्भाव हुआा । 1857 की क्रान्ति विदेशी शासकों को निकाल बाहर करने का असफल प्रयत्न था और भारत में प्रचलित निरंकुश और अनुत्तरदायी शासन प्रणाली के विरूद्ध वीरता पूर्वक प्रतिरोध था । इस क्रान्ति ने यह स्पष्ट कर दिया कि ब्रिटिश संसद के नियन्त्रणों के बावजूद कम्पनी एक विशाल प्रदेश का शासन चलाने में पूर्णतः असमर्थ थी । 1858 में जब भारत सरकार का सीधा दायित्व ब्रिटिश राजमुकुट ने सम्भाल लिया तो उसकी ओर से सभी अधिकार विधायी, प्रशासनिक व वित्तीय भारत के लिये राज्यमंत्री और उसकी परिषद में केन्द्रित हो गये । इसका परिणाम यह हुआ कि भारत में भी सत्ता सपरिषद गवर्नर जनरल के हाथों में चली गयी और उसका उपयोग सारे देश में फैले

अधिकारियों की एक श्रृंखला के द्वारा होता था । यह नौकरशाही शासन कहलाया । नौकरशाही के अन्तर्गत प्रशासन श्रेणीबद्ध अधिकारियों के द्वारा चलाया जाता है । छोटे अधिकारी अपने से बड़े अधिकारियों के अभिकर्त्ता होते थे और उनके प्रतिपूर्णतः उत्तरदायी होते थे । सबसे ऊपर सपरिषद भारतमंत्री होते थे जो भारत में प्रशासन के लिये ब्रिटिश संसद के प्रति उत्तरदायी होते थे उनके नीचे भारत का वायसराय/गवर्नर जनरल होता था जो भारत सरकार का प्रमुख होता था उसके बाद अनेक गवर्नर, लेफ्टिनेण्ट गवर्नर तथा चीफ कमिश्नर होते थे जो उन विभिन्न श्रेणियों के प्रान्तों के प्रमुख होते थे । जिनमें देश उस समय बंटा हुआ था जो सपरिषद गवर्नर-जनरल के अभिकर्ता तथा इसलिये उसके प्रति उत्तरदायी होते थे । अन्ततः प्रान्तों में बहुत कुछ एक जैसी प्रशासन व्यवस्था स्थापित थी जिसकी इकाई जिला था । इस तरह सम्पूर्ण शासन प्रणाली उपर से नीचे तक खूब गूंथी हुई थी और इसलिये अत्यन्त केन्द्रित थी । केन्द्रीकरण की प्रक्रिया पूर्ण होने से पहले ही इस प्रणाली की त्रुटियॉ प्रकट होने लगी थी इस बात के प्रत्यक्षीकरण से एक विपरीत प्रक्रिया को केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया को बल मिला । संचार साधनों में द्रुत प्रगति, अंग्रेजी शिक्षा का समारम्भ और प्रसार, भारतीयों द्वारा संसदीय शासन के पश्चिमी विचारों को आत्मसात करना और उसके फलस्वरूप उनके दृष्टिकोण का आधुनिकीकरण - इन सब बातों ने विकेन्द्रीकरण की इस नई प्रक्रिया को आरम्भ करने में तथा ब्रिटिश भारतीय शासन के स्वरूप और तर्ज में होने वाले क्रमिक परिवर्तन में निश्चय ही योग दिया होगा । यदि 1858 से पूर्व के भारत में ब्रिटिश प्रशासन के सर्वाधिक उल्लेखनीय लक्षण को एक शब्द में रखा जाये तो वह शब्द है केन्द्रीकरण। इसी तरह 1858 के पश्चात भारत में ब्रिट्रिश शासन का प्रमुख लक्षण इस एक शब्द विकेन्द्रीकरण में सिमट आता है । यह विकेन्द्रीकरण ही था जिसने संघीय प्रणाली की स्थापना के लिये - जैसा कि पहले 1935 के शासन विधान में और फिर 1950 में भारतीय गणराज्य के सविधान में उसका समावेश हुआ - क्रमशः मार्ग तैयार किया विकेन्द्रीकरण की यह प्रक्रिया 1861 में भारतीय राजनीति के क्षेत्र में ब्रिटिश शासकों द्वारा परामर्श के सिद्धान्त का पहली बार समावेश किया गया । उस परामर्श का रूप कितना ही अप्रत्यक्ष और असंतोषजनक क्यों न रहा हो यह तो मानना ही पड़ेगा कि उसके द्वारा देश

के प्रशासन में भारतीय जनता का सहयोग प्राप्त करने का पहली बार प्रयत्न किया गया । यह प्रवृत्ति ठीक दिशा में थी । 1909 के मिन्टो मार्ले सुधारों ने दो तरह से नौकरशाही की त्रुटियों के शमन का प्रयत्न किया । एक तो तत्कालीन प्रशासन व्यवस्था को और अधिक विकेन्द्रीत करके यथा स्थानीय स्वशासन को प्रोत्साहन देकर और प्रान्तीय सरकारों को अधिक व्यापक अधिकार देकर, दूसरे विधान परिषदों के अधिकार बढ़ाकार और उनमें भारतीयों का प्रतिनिधित्व बढ़ाकर । 1909 के अधिनियम का स्वरूप मुख्यतः विकासवादी था । उसमें उस सिद्धान्त की प्रयुक्ति का प्रसार था । 'भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन की ओर से 1909 से पूर्व की अवधि में जो नरम राजनीजिक मांग पेश की गई थी उन्हे पूरा करने का यह हल्का सा प्रयत्न था । लेकिन जब इसकी परख हुई तो भ्रम निवारण ही हुआ । अधिनियम में जितने विकेन्द्रीकरण को स्थान दिया था वह ब्रिटिश भारतीय नौकरशाही के स्वरूप को उस हद तक संशोधित करने के लिये अपर्याप्त था जिस हद तक की जनमत चाहता था । प्रशासन में अधिक भाग प्राप्त करने का आन्दोलन जरा भी धीमा नही पड़ा; उसी प्रकार चलता रहा ।

कुछ समय बाद देश विदेश में अनेक ऐसे घटना विकास हुये जिनसे की भारतीय ध्येय के अनुकूल स्थिति उत्पन्न हो गई । इनमें सबसे महत्वपूर्ण प्रथम महायुद्ध का छिड़ जाना था । ब्रिटेन युद्ध प्रयत्नों में भारत का सहयोग प्राप्त करने का उत्सुक था । फलतः ब्रिटिश सरकार ने भारत के प्रति अपनी नई नीति की घोषणा की । इसके अन्तर्गत स्वशासनकारी संस्थाओं के क्रमिक विकास की दृष्टि से प्रशासन की प्रत्येक शाखा में भारतीयों को अधिकाधिक सम्मिलित करना था । इस घोषणा के ठीक बाद ही तत्कालीन ब्रिटिश मंत्री मांटेग्यू भारत आये और गवर्नर जनरल लार्ड चैम्सफोर्ड के परामर्श से उन्होंने भारत के संवैधानिक सुधारों के सम्बन्ध में एक रिपोर्ट तैयार की । जो मांन्टफोर्ड रिपोर्ट कहलाती है, इस रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद ने एक नया अधिनियम - 1919 का अधिनियम परित किया ।

यह अधिनियम मांन्टफोर्ड रिपोर्ट में स्थापित सिद्धान्तों पर आधारित था । इसके दो मुख्य लक्षण थे । एक तो यह कि प्रशासन के विभिन्न क्षेत्रों में केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के बीच अधिकारों के विभाजन द्वारा अधिकतम विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था की गई थी और दूसरे प्रान्तों में द्वैधशासन का श्रीगणेश किया गया - राज्यपाल के ब्रिटिश

सलाहकारों और भारतीय प्रतिनिधियों के बीच कार्यपालिका शक्ति के विभाजन द्वारा केन्द्र और प्रान्तों के बीच अधिकार के विभाजन का सिद्धान्त यह था कि अखिल भारतीय महत्व के विषय केन्द्रीय सरकार को सौंपे जाने थे और जो विषय मुख्यतः स्थानीय हितों के थे वो प्रान्तीय सरकारों को । लेकिन यह विभाजन इतना कठोर नही था जितना एक संघ में होता है ।

1919 के अधिनियम लागू होने के पूर्व भारत का शासन पूर्णतया केन्द्रीत था । समस्त सत्ता केन्द्र में एकत्रित थी । इस कारण भारत सरकार भारी उत्तरदायित्व से इतनी दब गई थी कि उसका भली भाँति निभा सकना उसके लिये बहुत कठिन था । इस कारण 1919 के अधिनियम ने प्रान्तों को काफी सीमा तक वैधानिक शासन सम्बन्धी तथा आर्थिक स्वतन्त्रता देकर केन्द्र के अंकुश से मुक्त कर दिया । इसमें शासन सम्बन्धी समस्त विषयों का केन्द्र तथा प्रान्तों में विभाजन किया गया । अधिनियम के साथ तीन सूचियों में विषयों का विभाजन कर दिया गया था । जिन विषयों से अन्तप्रान्तीय हितों का प्रभुत्व होता था, वे केन्द्रीय विषय समझे गये वे विषय जो विशेष रूप से प्रान्तीय हितों से सम्बन्ध रखते थे, प्रान्तीय कहलाये । कोई विषय जो प्रान्तीय विषयों में सम्मिलित होने से रह गया था वह कनाडा के विधान परिपाटी की भाँति केन्द्रीय सरकार के अन्तर्गत आ जाता था । जो भी विषय अलिखित रह गया था वह केन्द्र के अधिकार में था । यदि किसी विषय के प्रति संदेह होता था तो उसका निर्णय गवर्नर जनरल की समिति ही कर सकती थी । यह विषय किसी पंच फैसले या न्यायालय द्वारा तय नही किये जा सकते थे ।

प्रान्तीय विषयों को शासन और व्यवस्थापन के लिये प्रान्तों को अधिकार सौंप दिया गया यद्यपि परोक्ष रूप से अब भी केन्द्रीय सरकार सम्पूर्ण भारत के लिये कानून बनाने की सत्ता रखती थी । कुछ ऐसे विषय भी थे जिन पर बिना गवर्नर जनरल की पूर्व अनुमति के प्रान्तीय सरकार विधि निर्माण नही कर सकती थी । लेकिन यह कार्य विभाजन ही केवल यथेष्ट नही था इसके साथ यह भी आवश्यक था कि प्रान्तों का एक भिन्न और स्वतन्त्र स्रोत राजस्व कर भी हो । इस कारण मोन्टफोर्ड सुधारों ने विभाजित श्रेणी के करों की पद्धति को समाप्त कर राजस्व कर के समस्त स्रोतों को केन्द्रीय तथा प्रान्तीय क्षेत्र में बांट कर रखने को कहा । 1919 के अधिनियम के सत्ता विभाजन के नियमों ने सार्वजनिक अर्थ की आय को श्रेणीबद्ध करने में योग दिया । अधिनियम के पास हो जाने

के बाद 1920 में लार्ड मेस्टन के अधीन "आर्थिक सम्बन्धी कमेटी" ने इस कार्य को पूरा किया ।

इस प्रकार 1919 का अधिनियम शासन और आर्थिक विकेन्द्रीकरण के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना थी ।

1919 के अधिनियम में केन्द्रीय व्यवस्थापिका के गठन और बनावट में परिवर्तन आया । अभी तक केन्द्रीय व्यवस्थापिका में एक ही सदन था लेकिन 1919 के अधिनियम के द्वारा केन्द्रीय व्यवस्थापिका में द्विसदन प्रणाली लागू की गयी केन्द्रीय व्यवस्थापिका के दो सदन - राज्य परिषद् और व्यवस्थापिका सभा थे ।

केन्द्रीय कार्यपालिका में गवर्नर जनरल और उसकी कार्यकारिणी परिषद के सर्वोच्च शासनाधिकारी थे । सपरिषद गवर्नर जनरल को भारत के नागरिक तथा सैनिक शासन पर अधीक्षण, निर्देशन और नियंन्त्रण के सम्पूर्ण अधिकार प्राप्त थे । गवर्नर जनरल शासन का भारत स्थित उच्चतम् पदाधिकारी था । उसे परामर्श व शासन कार्य में सहायता देने के लिये उसकी कार्यकारिणी परिषद थी । गवर्नर जनरल को पूरे भारतीय प्रशासन पर निरीक्षण, निर्देशन तथा नियंत्रण का अधिकार प्राप्त था देश के सैनिक तथा नागरिक शासन का संचालन वही करता था । प्रांतों के गवर्नर तथा उसकी कार्यकारिणी के सदस्य हाईकोर्ट के न्यायाधीश, एडवोकेट जनरल आदि की नियुक्ति उसी की सिफारिश पर होती थी । केन्द्र तथा प्रान्तों की उच्चस्तरीय सेवायें उनके नियंत्रण में थी । वह देशी रियासतों को अपने अंकुश में रखता था । केन्द्रीय कार्यकारिणी के सदस्यों को गवर्नर जनरल की सिफारिश पर भारत मंत्री सम्राट के नाम पर नियुक्त करता था और वे पाँच वर्ष तक पदासीन रहते थे । उनके सहयोग से गवर्नर जनरल केन्द्रीय शासन का संचालन करते थे । वे अपने-अपने कार्य के लिये उसी के प्रति उत्तारदायी थे । इस अधिनियम द्वारा प्रान्तों में एक विचित्र प्रकार की शासन व्यवस्था की स्थापना की गयी जिसको द्वैद्य शासन प्रणाली कहते है । प्रान्तीय कार्यपालिका का आधारभूत सिद्धान्त द्वैद्य शासन प्रणाली थी जिसके अनुसार कार्यों को दो भागों में बांट दिया गया था जिसमें से एक पूर्ववत् पूर्ण तथा सरकारी अधिकरियों के अधीन था और दूसरा बड़ी सीमा तक जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रियों के अधीन विभागों को अपरिवर्तनीय कार्यकारिणी परिषद के सदस्यों और हस्तान्तरित विभागों का शासन मंत्रियों को सौपा गया था । दोनो प्रकार के अधिकारीगण एक ही

अध्यक्ष की अधीनता में कार्य करते थे । इस दृष्टि से गवर्नर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण था ऐसा होने के कारण शासन में गतिरोध स्वाभाविक था और उत्तरदायित्व भी आंशिक था । गवर्नर प्रान्त का मुख्य शासक था तथा वह सम्राट का प्रतिनिधि था । यदि किसी विषय पर कार्यकारिणी में पक्ष और विपक्ष में समान मत हो तो गवर्नर निर्णायक मत का प्रयोग कर सकता था तथा शान्ति व सुरक्षा की आड़ लेकर वह कार्यकारिणी के निश्चयों को ठुकरा भी सकता था ।

प्रान्तीय व्यवस्थापिका सभा को प्रान्त में सुशासन और शान्ति के उद्देश्य से कानून बनाने का अधिकार दिया गया परन्तु उनके अधिकार हस्तान्तरित शासन तक ही सीमित थे । इस पर उनका पूरा आर्थिक और वैधानिक अधिकार था वह मत्रियों के वेतनों, उनके विभागों के खर्चो और उनसे सम्बन्धित विषयों पर पूरे अधिकार रखती थी । वित्त आरक्षित विषय था और आरक्षित विषयों पर उनके अधिकार गवर्नर के विशेष अधिकारों से सीमित थे । इन विषयों के शासन पर वह किसी प्रकार का नियन्त्रण नही कर सकती थी । जो विषय केन्द्र और प्रान्तों के बीच वित्तीय दान, केन्द्र अथवा भारत मंत्री के नियुक्त किये गये व्यक्तियों के वेतन, केन्द्रीय आदेशों आदि से सम्बन्ध रखते थे उन पर वाद विवाद वह नही कर सकती थी । वे विषय जिनका सम्बन्ध केन्द्रीय शासन अथवा सम्राट और ब्रिटिश संसद के अधिकारों से था । उन पर गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना वह अपने प्रान्त के लिये भी कानून नही बना सकती थी । कुछ विधेयकों की ऐसी श्रेणी थी जिस पर केवल गवर्नर की ही नही वरन् गवर्नर जनरल की भी स्वीकृति प्राप्त करनी होती थी । प्रान्त के भूमि कर तथा धर्म से सम्बन्ध रखने वाले विधेयको को गवर्नर जनरल की स्वीकृति के लिये रखना पड़ता था । उसे किसी भी व्यय को स्वीकृति देने के अधिकार थे । यह अधिकार व्यवस्थापिका सभा के अधिकारों को गम्भीर रूप से संकुचित कर देते थे । इसलिये यह कहा जा सकता है कि प्रान्तीय सरकार के गवर्नर की इच्छा के विरूद्ध यह व्यवस्थापिका सभाएं केवल अनुत्तरदायी शोरगुल मचाने वाले सदन का ही कार्य कर सकती थी ।

1921 से लेकर 1937 तक द्वैद्य शासन पद्धति ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में चालू रही । द्वैद्य शासन का नया प्रयोग आठ प्रान्तों में 1921 में एक साथ आरम्भ हुआ । इसे 1932 में पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में भी लागू कि गया । चीफ कमिश्नरों के प्रान्तों

में यह शासन-प्रणाली लागू नही की गयी। द्वैध शासन प्रणाली के प्रयोग को सोलह वर्षों तक चलाया गया। परन्तु सूक्ष्म निरीक्षणों ने इसे एक बहुत बड़ी असफलता बताया। क्योंकि वह अपने मुख्य उद्देश्य प्रान्तीय प्रशासन के हस्तान्तरित भाग में उत्तरदायी शासन की स्थापना करने में सर्वदा असफल रही। प्रशासन को दो अलग भागों में विभाजित कर देना सिद्धान्त में एक गलत पद्धति थी। यह व्यवस्था राजनीति शास्त्र के सिद्धान्तों की प्रक्रिया के विपरीत होती है। राज्य एक प्रकार का संगठन है तथा इसके दो भागों को एक-दूसरे से बिलकुल अलग नही किया जा सकता है। लेकिन 1919 के अधिनियम द्वारा प्रशासन को दो भागों में बांट दिया गया था और विषयों का विभाजन अत्यन्त शीघ्रता में किया गया था।

1919 के अधिनियम द्वारा जो विकेन्द्रीकरण और कुछ हद तक लोकतंत्रीकरण हुआ उसके बावजूद उसके अमल में आने से जो परिणाम सामने आये उनसे जनता का उत्साह नही बढ़ा बल्कि व्यापक असंतोष हुआ और सब ओर निराशा फैल गयी। इसका मुख्य कारण यह था कि संवैधानिक प्रयोग के रूप में द्वैध शासन असफल रहा। 1919 के अधिनियम का सबसे महत्वपूर्ण लक्षण प्रान्तों में द्वैध शासन का श्रीगणेश ही करना था। जब यह अमल की कसौटी पर परखा गया तो पता चला कि जनता के प्रतिनिधियों को कोई ठोस सत्ता हस्तान्तरण नही हुई। स्वराजियों के सहयोग के आभाव में जो अधिकांश प्रान्तीय विधानमण्डल में बहुसंख्यक दल थे, अधिनियम की समूची योजना का असफल होना निश्चित था। लेकिन उदारपंथी उसे आशावादी भी, जिन्होने अधिनियम के अमल में योग दिया अत्यन्त निराश हुये। इसके परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के नेतृत्व में शिक्षित वर्गों में एक नयी भावना एवं उत्साह का आविर्भाव हुआ। गॉधी जी ने जो अहिंसक असहयोग आन्दोलन आरम्भ किया उसने जोर पकड़ा और भारतीयों को पूर्ण सत्ता हस्तांतरण करने के लिये एक पूर्ण विकसित हलचल का रूप धारण कर लिया। हर कोई एक नये संविधान की आवश्यकता महसूस करने लगा जो कि भारत की आवश्यकताओं

Note - "Dynarchy is obviously a cumbrous, complex and confused system having no logical basic, rooted in compromise and defensible only as a transmitional experiment" Earl of Birkenhead

और परिस्थितियों के अनुकूल हो । मतभेद केवल संविधान के स्वरूप के बारे में रहा वह संघीय रहे या एकात्मक ।

साइमन कमीशन ने, जिसे ब्रिटिश सरकार ने 1927 में भारत में सविधानीय सुधारों के बारे में रिपोर्ट देने के लिये नियुक्त किया था, एक अखिल भारतीय संघ के विरूद्ध सिफाारिश की थी । लेकिन साइमन कमीशन के समानान्तर भारतीय संस्था, नेहरू कमेटी ने जिसे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने नियुक्त किया था इस तरह के संघ की स्थापना की सिफारिश की थी । देशी राजाओं के शक्तिशाली प्रवक्ताओं ने भी अपनी राय अखिल भारतीय संघ के पक्ष में व्यक्त की थी । ब्रिटिश सरकार कुछ समय तो कुछ निश्चय न कर सकी, फिर उसने भी साइमन कमीशन की रिपोर्ट को रद्द करके संविधानीय समस्या के हल के रूप में भारत में एक संघ की स्थापना के पक्ष में अपना मत व्यक्त किया । एक संविधान के निर्माण द्वारा संघ की स्थापना का मार्ग तैयार करने के लिये लंदन में कई सम्मेलन हुये जो गोलमेज सम्मेलन कहलाते हैं ।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का ब्रिटिश सरकार से इस बारे में गहरा मतभेद रहा कि प्रस्तावित संविधान के अर्न्तगत भारत में कैसा स्वशासन स्थापित हो, अतः उसने इन वार्ताओं में भाग लेने से अपना हाथ खींच लिया । लेकिन ब्रिटिश सरकार भारत पर एक नया संविधान थोपने पर तुली हुई थी । इस उद्देश्य से उसने अपने संसद में एक विधेयक पेश किया जो पारित हुआ तथा भारत शासन विधान 1935 बना । 1935 के अधिनियम के द्वारा एक संघात्मक संविधान की योजना प्रस्तावित हुई थी जो व्यवहार में कार्यान्वित नही हो सकी । इस संघ योजना के प्रस्ताव को भारत के संवैधानिक विकास के इतिहास में काफी महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त है । पहली बार संघ सिद्धान्त को भारत के लिये ब्रिटिश सरकार ने स्वीकार किया । 1935 के पहले ब्रिटिश संसद में जितने भी भारतीय शासन सम्बन्धी अधिनियम बनाये गये उनके द्वारा भारत के लिये एकात्मक केन्द्रीय शासन की व्यवस्था हुई थी । भारतीय शासन की जिम्मेदारी तब केन्द्रीय सरकार पर थी केन्द्रीय सरकार भारत मंत्री के नियन्त्रण में रहकर उसके आदेशानुसार तथा उसके निरीक्षण में शासन करती थी केन्द्रीय सरकार भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी हुआ करती थी । प्रान्तीय सरकारों का कोई स्वतन्त्र अधिकार नही था । वे केन्द्रीय सरकार व भारत मंत्री के प्रति उत्तरदायी होती थी । परन्तु 1935 के द्वारा संघ संविधान प्रणाली की योजना का प्रस्ताव

कर एक महत्वपूर्ण परिवर्तन किया गया । इसके द्वारा भारतीय शासन सम्बन्धी सिद्धन्तों में मौलिक परिवर्तन करने की योजना प्रस्तुत हुई । इस नये अधिनियम के द्वारा भारत के लिये एक एकात्मक संविधान की जगह एक संघात्मक संविधान स्वीकार किया गया ।

प्रत्येक संघात्मक राज्य में निम्नलिखित तीन विशेषताओं का होना अत्यन्त आवश्यक है :-

1. अनमनीय लिखित संविधान-जिसमें साधारण ढंग से संशोधन न किया जा सके ।
2. शासन विषयों का केन्द्र तथा इकाइयों में वितरण ।
3. न्यायपालिका का एक विशेष स्थान - सर्वोच्च न्यायपालिका की स्थापना जिसके द्वारा केन्द्र और इकाइयों के आपसी झगड़े तय किये जा सकें और संविधान की ठीक-ठाक व्यवस्था की जा सके ।

भारतीय संघ व्यवस्था में ये तीनों बातें न्यूनाधिक मात्रा में विद्यमान थी । परन्तु इनके अतिरिक्त उसमें कुछ ऐसी अजीब बातें भी थी जो और संघ विधानों में नही है ।

संघ योजना के पीछे प्रेरणा शक्ति देश की जनता की न थी । इस योजना को ब्रिटिश सरकार ने देशी नरेशों के साथ सभी प्रतिक्रियावादी शक्तियों का गुट बनाकर देश में बढ़ती हुई राष्ट्रीयता के मार्ग में एक रूकावट डालने और उत्तरदायी शासन को केवल दिखावा मात्र बनाने के विचार से तैयार की थी । इस योजना को उपर से थोपा जा रहा था । ब्रिटिश प्रान्तो को इस योजना में अनिवार्य रूप से सम्मिलित होना था, जबकि देशी रियासतों को छूट थी उनके नरेशों की इच्छा पर निर्भर था कि वे संघ राज्य में सम्मिलित होते अथवा न होते । उस योजना को कार्यान्वित करना सम्राट की इच्छा पर छोड़ दिया था ।

जबकि संघ राज्य बहुत से छोटे-छोटे स्वतन्त्र राज्यों के मिलने से बनते है । हमारे देश में संघ योजना को लागू करने के लिये एक ओर तो केन्द्रीय सरकार अर्थात् ब्रिटिश भारत को स्वायत्त प्रान्तों में विभाजित किया जा रहा था दूसरी ओर इन प्रान्तो को उन देशी रियासतों के साथ जोड़ा जा रहा था जो संघ राज्य में प्रवेश होने की स्वीकृति देते ।

ब्रिटिश प्रान्तों में एक समान उत्तरदायी शासन स्थापित होने को था, परन्तु देशी रियासतों में स्वेच्छाचारी शासन वह भी भिन्न-भिन्न प्रकार का रहता । अतः ब्रिटिश प्रान्तों तथा देशी रियासतों का मेल बेजोड़ था । इस पर भी एक बात यह और थी कि स्वयं

देशी रियासतों में अनेक प्रकार की विशेषतायें थी । संघीय विधानमण्डल में ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों के प्रतिनिधि जनता द्वारा निर्वाचित होते; परन्तु देशी रियासतों के प्रतिनिधि देशी नरेशों द्वारा नामजद होते । एक प्रकार के संघशासन में देशी रियासतों की जनता का कोई सीधा सम्बन्ध न होता और न उनको संघ राज्य सम्बन्धी अधिकार ही प्राप्त होते । साधारणतः संघ राज्यों में संघ-राज्यों के अधिकारों को सभी इकाइयों के लिये समान व्यवस्था होती है । परन्तु भारतीय संघ व्यवस्था में स्थिति इसके सर्वथा विपरीत थी ।[5]

भारत की पराधीनता के कारण भारतीय विधानमण्डलों को उस संविधान में कोई महत्वपूर्ण संशोधन करने का अधिकार न था यह शक्ति केवल ब्रिटिश संसद को ही प्राप्त थी । देशी रियासतों की प्रभुसत्ता का प्रबन्ध भी संघ सरकार के क्षेत्र से बाहर था ।

इस प्रकार भारतीय योजना को संघ का नाम देना उचित नही था । एक आलोचक ने ठीक ही कहा था कि यह योजना शब्दजाल और केवल एक धोखामात्र थी ।

यद्यपि 1935 के शासन अधिनियम के द्वारा प्रान्तो में प्रचलित द्वैध शासन का अंत कर दिया गया था परन्तु अब यह द्वैध शासन व्यवस्था केन्द्र में लागू कर दी गयी । प्रस्तावित संघीय कार्यपालिका का अध्यक्ष गवर्नर जनरल होता था । गवर्नर जनरल की कार्यपालिका शक्ति अत्यन्त ही व्यापक थी । कतिपय संघीय विषय गवर्नर जनरल के हाथों में संरक्षित थे जो पूर्णतः उसकी अधीनता में थे और केन्द्रीय मंत्रिपरिषद का उन विषयों पर कोई नियंन्त्रण नही था । अपने विवेक के अनुसार काम करते हुये वह संघीय विधानमंडल का आह्वान स्थगन या विघटन कर सकता था । उसके किसी भी सदन को सम्बोधित कर सकता था और उन्हे सन्देश भेज सकता था । संघीय विधानमण्डल द्वारा पारित विधेयक गवर्नर जनरल की स्वीकृति के बिना कानून नही बना सकते थे । गवर्नर जनरल को अपने विवेक के अनुसार किसी प्रस्ताव के सम्बन्ध में अपनी अनुमति देने या न देने अथवा उसे सम्राट की आज्ञा के लिये सुरक्षित रखने का अधिकार था । 1935 के

---

[5] "The Indian federal system will be a kind hitherto unknown for there will be one set to federal power for the provinces and another for each of the Native States. The government of one part of the federation will be based upon parliament any principles that of the others upon oriental absolutism"

M. B. Lee smith quoted by Lahirk and Bannerjee, New constitution of India, p. 27.

अधिनियम के द्वारा भारत के केन्द्र में संरक्षणों के सहित उत्तरदायी शासन तथा प्रान्तों में गवर्नरों के विषय में उत्तरदायीत्यों और विशेष अधिकार के साथ प्रान्तीय स्वराज की व्यवस्था की गयी थी । इसमें गवर्नर जनरल और गवर्नर को वास्तविक तथा व्यापक अधिकार प्रदान किये गये थे और संघीय योजना ऐसी बनायी गई थी कि भारत के सभी राजनीतिक दलों ने उसका विरोध किया । कांग्रेस ने तो सम्पूर्ण विधान का पूर्ण विरोध किया, मुस्लिम लीग को केवल साम्प्रदायिक निर्णय तथा प्रान्तीय स्वायत्तता वाला भाग मान्य था । उसने संघ योजना का विरोध इस आधार पर किया कि उसे केन्द्र में हिन्दुओं के बहुमत का आधिपत्य हो जायेगा । भारत के राजनीतिक दलों में केवल हिन्दु महासभा ने भारतीय संघ योजना को स्वीकार किया । यद्यपि गोलमेज सम्मेलन के अवसर पर देशी नरेशों के प्रतिनिधियों ने संघीय योजना के विचार का स्वागत किया था फिर भी जब उसके सामने संघ राज्य में प्रवेश करने अथवा न करने का प्रश्न आया तो उन्होने उसके लिए कोई उत्साह न दिखाया ।

संघीय योजना को कार्यान्वित करने के लिये सम्राट तभी स्वीकृति देता जबकि उसमें कम से कम या तो देशी रियासतों की कुल जनसंख्या के आधे भाग वाली देशी रियासतों या इतनी देशी-रियासतों, जिन्हे संघीय विधानमंण्डल के उच्चभवन में रियासतों के कुल प्रतिनिधियों के आधे प्रतिनिधि भेजने का अधिकार होता; संघ योजना में प्रवेश होने की स्वीकृति देती, 1935 के संविधान की संघ वाला भाग तो देर से ही कार्य रूप में परिणत होने को था ।

भारत के संवैधानिक इतिहास में 1935 के अधिनियम को महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त हैं इसके द्वारा प्रान्तो से द्वैध शासन का अन्त हो गया और प्रशासन के क्षेत्र में उन्हे स्वतन्त्र कर दिया गया । अब प्रान्तों में कोई रक्षित विभाग न रहे थे । फिर भी गवर्नर की शक्तियॉ बहुत ही बिस्तृत कर दी गयीं । मंत्रियों की नियुक्ति और उनका पदच्च्युत होना गवर्नर के विवेक पर निर्भर था । गवर्नर को विधान मण्डल के उपर भी पूर्ण नियंन्त्रण शक्ति प्राप्त थी । वही अध्यादेश जारी कर सकता था और गवर्नर के कानून भी बना सकता था । आपातकालीन उद् घोषणा के काल में न्याय व्यवस्था को छोड़कर सम्पूर्ण शासन का संचालन वह स्वयं कर सकता था । इससे दो बातें स्पष्ट हैं-

1. गवर्नर प्रान्तीय शासन का वैधानिक अध्यक्ष न था वरन् उसे प्रशासन पर पूर्ण नियंन्त्रण शक्ति प्राप्त थी ।
2. प्रान्तों में उत्तरदायी शासन अनेक सरक्षणों के अधीन दिया गया था । गवर्नर विशेष के उत्तरदायित्व का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत बनाया जा सकता था, क्योंकि उनका व्यापक अर्थ लगाया जा सकता था । उदाहरण के लिये शान्ति और व्यवस्था होने वाले के सम्बन्ध में विशेष दायित्व का अर्थ इतना व्यापक लगाया जा सकता था कि किसी भी प्रकार के आन्दोलन को उसके विशेष दायित्व पर प्रभाव डालने वाला समझा जा सकता था । यही बात अल्पसंख्यकों के हितों के रक्षण सम्बन्धी विशेष दायित्व के सम्बन्ध में लागू हो सकती थी ।

1935 के अधिनियम की खूब आलोचना हुई और उसका अंश लागू भी नही हो सका परन्तु यह स्वीकार करना होगा कि जब स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माता सम्पूर्ण प्रभुत्ता सम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य भारत के लिये संविधान बनाने बैठे तो उनके सामने 1935 का विधान नमूने के तौर पर मौजूद था यद्यपि इनमें कोई सन्देह नही है कि हमारे संविधान में हमने अनेक देशों के सविधानों से लाभ उठाया है, तथापि यह सच है कि 1935 का विधान हमारी प्रेरणा का प्रधान आधार बना रहा और हमने उसकी अनेक भागों को ज्यों का त्यों अपने संविधान में ले लिया है । स्वतंन्त्रता के पश्चात परिस्थिति बदल गयी और हमारे नेता; संग्राम के समय केवल आलोचक थे अब प्रशासक बने और उनके सामने ये प्रश्न उठ खड़े हुये जिसका सामना अंग्रेजी सरकार देश में कर रही थी और उन्होने यह उचित समझा कि वे अपने पूर्व प्रशासकों की प्रशासन की कुशलता और उनके अनुभव से लाभ उठायें वस्तुतः हमारा संविधान नया है वह स्वतन्त्र भारत का संविधान है; इसलिये इसे नया होना चाहिए । वह क्रातिकारी भी है, परन्तु उसके लिये बहुत उपर्युक्त भूमिका हमें 1919 और 1935 के अधिनियमों ने दिया ।

भारत सरकार के शासन विधान 1935 में दो बहुत महत्वपूर्ण उपबन्ध थे जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है -

1. भारत में संघीय राज्य पद्धति का श्रीगणेश तथा
2. ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में प्रान्तीय स्वायत्त शासन की स्थापना ।

ये दोनों मौलिक परिवर्तन थे पुरानी एकात्मक पद्धति के स्थान पर संघीय पद्धति ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों और देशी रियासतों दोनो को एक देशव्यापी सुसंगठित सम्मिलन में सूत्रबद्ध करने वाली थी प्रान्तों और रियासतों दोनों का संघ की संघटक इकाइयों के रूप में कार्य करना था । प्रान्तों को स्वशासनकारी इकाइयों के रूप में और रियासतों को स्वकार्यकारी इकाइयों के रूप में, अर्थात प्रान्तों में तो उत्तरदायी शासन की स्थापना कर दी गई किन्तु रियासतों में ऐसा करना न करना वहॉ के शासक पर निर्भर था लेकिन अधिनियम में जिस अखिल भारतीय संघ की व्यवस्था थी वह उसके प्रवर्तन काल में मूर्तरूप ग्रहण न कर सका । अधिनियम केवल ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों का अर्द्ध-संघ अस्तित्व में ला सका । फिर भी यह परिवर्तन महत्वपूर्ण था । 11 ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों का जो एक सुसंगठित सम्मिलन में परस्पर सम्बद्ध हो गये एक संघ बन गया ।

एक ऐतिहासिक घटना 1 अप्रैल 1935 को घटी जबकि भारत की संविधानीय प्रगति में एक नये अध्याय का श्रीगणेश हुआ । इस शासन विधान के अन्तर्गत आम चुनाव 11 प्रान्तों में पहले ही हो चुके थे और उस तारीख तक उनमें से हर प्रान्त में उत्तरदायी सरकार की स्थापना हो गयी । कांग्रेस ने 7 प्रान्तों में जोरदार बहुमत प्राप्त किया और उन प्रान्तों का शासन उसे सौंप दिया गया तथा शेष प्रान्तों में मिले जुले मंत्रिमण्डलों ने सरकार सम्भाली ।

नई व्यवस्था के बारे में जो भी आशंकाएं व्यक्त की गई उनके बावजूद यह स्वीकार करना होगा कि प्रान्तों में मंत्रिमण्डलों ने विलक्षण सफलता से कार्य किया । प्रान्तों के ब्रिटिश गवर्नरों में जो कि प्रशासन के प्रमुख थे; तथा पद ग्रहण करने वाले भारतीय नेताओं में जो सविधान पद्धति के इस नए प्रयोग को आजमाकर देखना चाहते थे । दोनो ही में निभाव की भावना थी । तो यह हुआ कि संसदीय लोकतन्त्र के सुजात सिद्धान्तों के अनुसार प्रान्तों में शासन का संचालन कुशलतापूर्वक और सुगमता पूर्वक हुआ । लेकिन यह प्रयोग कुछ समय के लिये ही रहा क्योंकि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षितिज पर दूरगामी महत्व की घटनायें घट रही थी जिनका प्रभाव भारत पर पड़ना अवश्यम्भावी था । सितम्बर 1939 में दूसरे महायुद्ध के भड़क उठने से भारत में गम्भीरतम संविधानीय संकट उत्पन्न हो गया जिससे तत्कालीन उत्तरदायी शासन की नींव ही खतरे में पड़ गयी । इस संकट को लाने का श्रेय उन ब्रिटिश अधिकारियों की अदूरदर्शितापूर्ण नीति पर है जिनके हाथ में

उस समय शासन की बागडोर थी । गवर्नर-जनरल ने ग्रेट ब्रिटेन के प्रधानमंत्री द्वारा वहॉ की संसद में जर्मनी पर युद्ध की घोषणा करने के बाद वैसी ही घोषणा अपनी तरफ से कर दी । ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में लोकप्रिय मंत्रिमण्डलों को गवर्नर जनरल के इस स्वेच्छाचारी व्यवहार से अप्रत्याशित रूप से गहरा धक्का लगा । उन्हे युद्ध की घोषणा से इतना धक्का नही लगा जितना कि उसे करने के ढंग से । ब्रिटिश नौकरशाही ने यह सोचा तक नही कि देश को विश्व युद्ध में फंसाने से पूर्व भारत के लोकप्रिय राजनीतिक दलों से परामर्श करना भी उसके लिये आवश्यक है । इस कार्यवाही का महत्व पूरी तरह तब महसूस किया जा सकता है जबकि कनाडा, आस्ट्रेलिया और दक्षिणी अफ्रीका जैसे ब्रिटिश अधिराज्यों के मामले पर विचार किया जाये, जिन्होने बिना सोंचे विचारे युद्ध की घोषणा करने के बजाय इस विषय को निश्चय के लिये अपनी-अपनी संसद के सम्मुख पेश किया । अपनी संसदों की इच्छा के अनुसार ही वे अपने को युद्ध में डाल सकते थे ।

गवर्नर जनरल की निरंकुश कार्यवाही से भारतीय नेता स्वभावतः इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि ब्रिटेन अब भी भारत को अपना एक उपनिवेश समझता है । उन्होने इस अपमान जनक स्थिति का सामना करना और राष्ट्र की पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करना अपना कर्त्तव्य महसूस किया । भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की कार्य-समिति ने 14 सितम्बर 1939 को एक वक्तव्य जारी किया जिसमें अन्य बातों के अलावा कहा गया "यदि ग्रेट ब्रिटेन लोकतन्त्र की रक्षा और प्रसार के लिये लड़ता है तो उसे अनिर्वाय रूप से अपने अधीन राज्यों में साम्राज्यवाद का अन्त कर देना चाहिए और भारत में पूर्ण लोकतन्त्र की स्थापना कर देनी चाहिए और भारतीयों को एक संविधान सभा द्वारा अपना संविधान बनाकर आत्म निर्णय का अधिकार होना चाहिए । एक स्वतन्त्र लोकतंन्त्रीय भारत प्रसन्नता पूर्वक आक्रमण के विरूद्ध पारस्परिक सुरक्षा के लिए अन्य स्वतन्त्र राष्ट्रो का साथ देगा" इस तरह अपनी स्वतन्त्रता के लिये लड़ने के उनके नये संकल्प का ही यह परिणाम था कि उन्होंने प्रान्तीय मंत्रिमण्डलो से पदत्याग किया । लेकिन गवर्नर जनरल भारत की जनता पर उसकी इच्छा के विरूद्ध भी अपना तानाशाही मत थोपना चाहते थे । भारत मे आपात घोषित कर दिया गया और समूचे देश का शासन गवर्नर जनरल के हाथो मे केन्द्रीत हो गया । विश्व शक्ति के रूप में ब्रिटेन के समूचे इतिहास में महायुद्ध के प्रथम दो वर्ष उनके लिये अत्यन्त संकटपूर्ण रहे । ब्रिटेन को न केवल जर्मन वरन् जापान के हाथो भी अपने

उपनिवेश गवाने पड़े । इस कारण उसे भारत के प्रति अपनी नीति में संशोधन करने को विवश कर दिया । इसी उद्देश से सर स्टैफर्ड क्रिप्स को संविधानीय संकट का न्यायोचित और अन्तिम हल खोजने के लिये विशेष मिशन पर भारत भेजा गया ।

क्रिप्स मिशन ने युद्ध के बाद भारतीयों को पूर्ण सत्ता हस्तान्तरण का प्रस्ताव किया और युद्ध के दौरान आंशिक हस्तान्तरण का । इसके बदले में ब्रिटेन चाहता था कि भारतीय नेता युद्ध का हार्दिक समर्थन करें और उसके लिये कार्य करे । कांग्रेस ने क्रिप्स मिशन के प्रस्ताव को ठुकरा दिया और कहा कि भारत की स्वतन्त्रता आवश्यक शर्त है लेकिन ब्रिटिश सरकार इसके लिये तैयार न और इसलिये क्रिप्स मिशन विफल रहा । क्रिप्स मिशन की विफलता के तुरन्त बाद कांग्रेस महासमिति की बैठक 1942 में बम्बई में हुई जिसमें ब्रिटिश शासन का तत्काल अन्त करने के लिये भारत छोड़ो प्रस्ताव पास किया गया । ब्रिटिश सरकार ने इस प्रस्ताव का उत्तर सभी कांग्रेसी नेताओं को गिरप्तार करके दिया । राष्ट्र के नेताओं की गिरप्तारी से भारत में व्यापक क्रान्ति भडक गई जो अगस्त क्रान्ति कहलाती है । भारत में ब्रिटिश पुलिस के दमन के हजारो व्यक्ति शिकार हुये और जनता की उदासीनता के फलस्वरूप सरकार के युद्ध प्रयत्नो में गम्भीर अडचने पड़ी । यूरोप में मित्र राष्ट्रो को मई 1945 मे विजय मिल गई जून 1945 में गवर्नर जनरल ने कांग्रेसी नेताओं से समझौता वार्ता शुरू करने के लिये उन्हे रिहा करने की घोषणा की । नेताओं की रिहाई के बाद शिमला में एक सम्मेलन बुलाया गया जिसमे सभी प्रमुख राजनीतिक दलो के नेताओं ने भाग लिया । उसमें कोई सर्वसम्मत हल नही निकल सका । फरवरी 1946 में ब्रिटिश प्रधानमंत्री श्री एटली ने घोषणा की कि भारत की स्वशासन सम्बन्धी विभिन्न समस्याओं पर विचार विनिमय और राष्ट्रीय नेताओं से मिलने के लिये एक शिष्टमण्डल भारत जायेगा । इस शिष्टमण्डल ने भारत की साविंधानिक समस्या के बारे में भारत और ब्रिटेन के बीच समझ-बूझ पैदा करने का रास्ता पक्का किया । प्रधानमंत्री एटली ने मार्च 1945 को घोषणा की कि यद्यपि हम आशा करते है कि भारतीय जनता राष्ट्रमण्डल में रहने का निश्चय करेगी तथापि उसे यह अधिकार है कि उससे बाहर रहकर वह स्वतन्त्र होने का निश्चय करे । जिसके तुरंत बाद कैबिनेट मिशन भारत भेजा गया । अपने भारत प्रवास के अन्त में उन्होने भारत की राजनीतिक व्यवस्था के बारे में अपनी योजना प्रकाशित की जो कैबिनेट मिशन योजना कहलाती है । इस योजना में देश

का विभाजन करने और पूर्ण स्वतन्त्र पाकिस्तान की स्थापना सम्बन्धी अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की मांग ठुकरा दी गई थी किन्तु स्वायत्त शासन प्राप्त राज्यों के तीन समूहों के एक महासंघ की कल्पना की गई थी जिसमें प्रतिरक्षा, विदेशी मामले तथा संचार साधन एक केन्द्रीय सरकार के हाथ मे रहते तथा शेष सभी अधिकार उन राज्य समूहों के पास । प्रत्येक राज्य समूह को अपनी पसन्द का पृथक सविधान बनाने की छूट थी और इस तरह दोनो प्रमुख धार्मिक समूहो - हिन्दुओं और मुसलमानें के लिये उन क्षेत्रों में जहॉ उनका बहुमत था पूर्ण स्वायत्त शासन उपयोग करने के साथ-साथ एक साथ मिलकर रहने की काफी गुंजाइश रखी गयी थी । उस योजना के दो भाग थे एक दीर्घकालीन कार्यक्रम और दूसरा एक आन्तरिक कार्यक्रम था । मुस्लिम लीग ने योजना के दोनों भागों को स्वीकार कर लिया किन्तु भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने निश्चय किया कि पूरे तौर पर वह केवल दीर्घकालीन कार्यक्रम ही स्वीकार कर सकती है । इसके परिणामस्वरूप मुस्लिम लीग ने बाद में पूरी योजना को ही ठुकरा दिया और घोषणा की कि वह अपनी मांगों की पूर्ति के लिये सीधी कार्यवाही करेंगी । इस बीच मे ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों में चुनाव सम्पन्न हुये और सभी प्रान्तों में लोकप्रिय मंत्रिमण्डलों की स्थापना करके 1935 के शासन विधान की प्रान्तीय स्वायत्तशासन योजना अमल में आयी । लेकिन केन्द्र में अन्तरिम मंत्रिमण्डल का अब भी निर्माण न हो सका । अस्थायी कदम के रूप में जून 1946 के अन्त में गवर्नर जनरल ने उच्च्व आई० सी० एस० अधिकारियों की एक कामचलाऊ सरकार बना दी । 12 अगस्त 1946 को लार्ड वेवल ने पंडित जवाहर लाल नेहरू को केन्द्र में एक अन्तरिम सरकार के निर्माण सम्बन्धी प्रस्तावों पर विचार करने के लिये आमंन्त्रित किया । यह विचार विमर्श लाभप्रद रहा और अन्तरिम सरकार का निर्माण हो गया । ब्रिटिश सरकार ने अब लार्ड माउंटबैटन को गवर्नर जनरल नियुक्त किया । 20 फरवरी 1947 को ब्रिटिश सरकार ने एक ऐतिहासिक घोषणा की जिसमें कहा गया कि उनका इरादा जून 1948 को भारतीयों को सत्ता हस्तान्तरण का है । माउंटबैटन योजना को अन्त में भारत के प्रमुख राजनीतिक दलों ने स्वीकार कर लिया और ब्रिटिश सरकार ने भी ब्रिटिश संसद में सत्ता हस्तान्तरण जून 1948 से पहले करने की घोषणा कर दी फलतः भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम पारित हुआ जिसमें 15 अगस्त 1947 को भारत को अधिराज्य बनाने की घोषणा की गयी ।

अगस्त 1947 में जब अंग्रेज भारत छोड़ कर गये तो राजनीतिक दृष्टि से भारत गवर्नरों के प्रान्त; चीफ कमिश्नरों के प्रान्त तथा कुछ अन्य क्षेत्रों जैसे कि कबायली क्षेत्र; सीमान्त क्षेत्र तथा अण्डमान और निकोबार द्वीपसमूह मे बंटा हुआ था । दूसरे भाग में 500 से अधिक रियासतें थी जिनमें 100 से उपर बड़ी रियासतें थी जैसे कि हैदराबाद; कश्मीर, मैसूर; त्रावणकोर और बड़ौदा आदि । कुछ अपवादों को छोड़कर इन रियासतों की सरकारें निरंकुश थी । इनमें से अधिकांश तो वस्तुत. राज्य कहलाने के योग्य भी नही थी क्योंकि वे आकार में बहुत छोटी थी और उनके साधन स्रोत अत्यन्त क्षीण थे । ब्रिटिश प्रधानमंत्री के अनुसार ये रियासतें पूर्ण स्वाधीन थी और अपनी इच्छानुसार भारत या पाकिस्तान के अधिराज्यों में शामिल हो सकती थी ।

अंग्रेज अपने देश में स्थानीय स्वराज के समर्थक रहे थे लेकिन उनके सामने दुविधा यह थी कि यदि स्थानीय स्वराज को विकसित किया जाये तो उसके फलस्वरूप आने वाले जनजागरण पर साम्राज्यवाद नही चल सकता ।

ब्रिटिश शासन काल में भारत में स्थानीय स्वराज का विकास उल्टे ढंग से हुआ। वह गॉवों के बदले पहले शहरों में शुरू हुआ । वह कुछ क्षेत्रों में पूर्ण विकसित होकर बाद के युग में धीरे-धीरे विकसित हुआ। उसमें अंग्रेजी राजनीति के सिद्धान्त और भारतीय जीवन की जाति धर्म की विशेषतायें आपस में टकराती रहीं और वह विकेन्द्रीकरण का विश्वास और केन्द्रीकरण की आवश्यकताओं के बीच झूलता रहा । फिर भी यह कहा जा सकता है कि आज जो स्थानीय स्वराज भारत में विकसित हो सके है, उसका पूरा श्रेय अंग्रेजों को ही दिया जाना चाहिए। आर्थिक समस्यायें, स्थानीय जातिवाद, भारतीयकरण की नीतियॉ इन सब बाधाओं के बावजूद कुछ तत्व इसे आगे बढ़ाते रहे । भारत में स्थानीय स्वराज का विकास तीन युगों से गुजरा । पहला 1857 से 1892 तक, दूसरा 1892 से 1919 तक, और तीसरा 1919 से 1957 तक ।

पहले युग में कम्पनी शासन ने जो थोड़ी बहुत मेयर-कोर्ट और म्युनिसिपल मजिस्ट्रेटों की संस्थायें स्थापित की, उन्होंने कलकत्ता, बम्बई और मद्रास शहरों में काफी सफलतापूर्वक कार्य किया। 1892 तक इन तीनों बड़े शहरों में स्थानीय स्वराज का विकास उत्साहवर्द्धक रहा । लार्ड रिपन का वायसरायकाल एक वर्ष भारत में स्थानीय स्वराज का 'स्वर्णकाल' था । उसी के समय में चुनाव सिद्धान्त के साथ-साथ देश के अलग-अलग

प्रान्तों में स्थानीय स्वराज का जाल फैला और राजनीतिक चेतना का विकास हुआ । किन्तु 1909 के विकेन्द्रीकरण प्रतिवेदन ने रिपन की नीति को समाप्त करने की कोशिश की और 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधारें के आते-आते अंग्रेजों का भारतीयों में अविश्वास काफी बढ़ गया और स्थानीय स्वराज के विकास की गति रूक गयी । 1909 से 1947 के काल में स्थानीय स्वराज के विकास को कोई उल्लेखनीय गति नही मिली ।

इस प्रकार भारतीय प्रशासन का विकास ब्रिटिश शासन की नीति और तत्कालीन देश और प्रान्तों की परिस्थितियों की अन्तः प्रक्रियाओं के फलस्वरूप विभिन्न क्षेत्रों में आगे बढ़ता हुआ स्वतन्त्र भारत के प्रशासन की स्थिति तक पहुँचा ब्रिटिश शासनकाल में भारत में एक ही प्रशासनिक व्यवस्था तथा साम्राज्यवादी सत्ता का काफी विस्तार हुआ परन्तु इस शासन में भी भारत का एक बहुत बड़ा भाग सीधे अंग्रेजी शासन व्यवस्था में सम्मिलित नही था । देश के लगभग एक तिहाई भाग में भारतीय राजाओं का शासन था । उस समय लगभग 600 रियासतें यद्यपि प्रशासन की दृष्टि से स्वतन्त्र थी परन्तु सन्धियों के आधार पर अंग्रेजी साम्राज्य के अधीन थी । इन रियासतों की कानून, प्रशासनिक ढाँचा तथा राजनीतिक संस्थायें अलग-अलग प्रकार की थी । केवल लगभग 60 रियासतों में विधान पालिकायें थी जबकि अन्य में निरंकुश शासकों का राज्य था । जो क्षेत्र सीधे अंग्रेजी सत्ता के अधीन थे उनमें सुचारू प्रशासनिक व्यवस्था के निर्माण के साथ ही साथ सामाजिक, शैक्षिक तथा राजनीतिक सुधार भी हुआ । इन क्षेत्रों में प्रतिनिधि शासन का भी निर्माण हो रहा था । साम्राज्यवादी सत्ता, आधुनिकीकरण तथा शिक्षा के विकास का कारण इन क्षेत्रों में राजनीतिक जागरूकता तथा आधुनिक विचारों के प्रति आकर्षण भी उत्पन्न हो रहे थे । फलस्वरूप राष्ट्रवादी राजनीति और आन्दोलन का विकास हो रहा था, परन्तु भारतीय रियासतों में यह न के बराबर था । यह ठीक है कि कुछ रियासतों में प्रजा परिषद तथा अन्य राजनीतिक आन्दोलन विकसित हुये, परन्तु साधारणतः यह क्षेत्र राजनीतिक गतिविधियों से अलग थे । ब्रिटिश शासित भारत में भी भौगोलिक स्थिति; साम्राज्यवादी व्यवस्था में असमान विकास तथा अन्य तत्वों के कारण राजनीतिक प्रक्रिया का विकास और गति एक समान नही थे । उन क्षेत्रों में जहाँ उपनिवेशवादी शासन ने अपने हितों की पूर्ति के लिये अंग्रेजी शिक्षा, नौकरियों; व्यापार तथा उद्योग इत्यादि स्थापित किये

थे वहाँ राजनीतिक गतिविधियाँ सक्रिय थीं जबकि अन्य क्षेत्रों में जन साधारण की राजनीति से परम्परागत दूरी बनी रही ।

उपनिवेशवादी शोषण के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिये अंग्रेजी शासन की नीतियॉ क्षेत्र विशेष के संन्दर्भ में अलग-अलग थी । उदाहरण के लिये जहॉ बंगाल आदि अनेक क्षेत्रों में कृषि का लगभग पूरी तरह से विनाश किया गया वहीं पंजाब तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में कृषि के विकास के लिये कई कदम उठाये गये । इसी प्रकार जहॉ बम्बई और कलकत्ता आदि क्षेत्रों में उद्योगीकरण की प्रक्रिया विकसित की गई वहॉ देश के अधिकतर भागों में उद्योग की ओर ध्यान नही के बराबर ही दिया गया। शिक्षा का विकास, यातायात के साधन, नौकरियों की सुविधायें तथा व्यापार आदि का विकास भी विभिन्न क्षेत्रों में एक समान नही था । इस प्रकार कुल मिलाकर अंग्रेजी शासन काल में शासकों के प्रयत्न और भारत के जागरूक वर्ग में भारत की एकता को बनाये रखने की चेतना के बावजूद भारत एक विभाजित समाज बना रहा ।

अंग्रेजों ने इस दुविधा को सुलझाने के लिये कार्यपालिका प्रभुत्व को स्वीकार किया । मगर जितना ही भारतीय जनता को सन्तुष्ट करने की कोशिश की उतना की उसका असंतोष बढ़ता गया । 1857 के बाद अंग्रेज़ी शासन ज़्यादा अच्छा और कुशल हो गया किन्तु जनता ने उसे स्वीकार नही किया और उसकी जड़ें गहरी नही जा सकीं । फलस्वरूप जैसा कि प्रशासन के इतिहासकार श्री मिश्रा मानते हैं, ''नौकरशाही निरंकुशता, ब्राहम्णवादी निरंकुशता में बद्धमूल हो गयी है । इस युग के प्रशासनिक इतिहास में लार्ड कार्नवालिस, होस्टमैकेन्जी, सर चार्ल्स मेटकाक, विलियन बैंटिक, सर बटलर तथा सरमैल्कलम् हैली आदि कितने ही ऐसे नाम हैं जिन्होने अपने अथक प्रयत्नों से मंसबदारी व्यवस्था को एक अनुबन्धित व्यवस्था में बदला । विजय के औचित्य को कानून की पवित्रता प्रदान की और प्रशासन में विशेषीकरण को जन्म देकर कार्यकुशलता और नये प्रकार की नौकरशाही का ढाँचा खड़ा किया । इन दो सौ वर्षों के अंग्रेजी प्रशासन के इतिहास की महत्वपूर्ण उपलब्धि यही थी कि उसने एक शिक्षित शहरी मध्य वर्ग को जन्म

देकर एक ऐसे प्रशासन तन्त्र की भारत में स्थापना की जो आगे चलकर 'अभिजात्यवादी' और आत्मकेन्द्रित बन गया ।"[6]

जिस प्रकार की स्थितियॉं अंग्रेजों ने छोड़ीं उसे देखकर यह कहा जा सकता है कि भारी भेदभावों के साथ-साथ केन्द्रीय प्रशासन और राज्य स्तरीय प्रशासन के लिये दो भिन्न-भिन्न दिशायें उभरीं । आर्थिक, राजनीतिक एंव सामाजिक दृष्टि से अलग-अलग क्षेत्रों की स्थिति; पृष्ठभूमि तथा वैचारिक मूल्य भिन्न-भिन्न थे ।

अंग्रेज जब भारत में प्रशासनिक संगठन एंव सेवाओं के विकास में लगे हुये थे तब उनका एक प्रयास यह भी था कि शासन के माध्यम से वे अपनी सैनिक एंव कूटनीतिक विजय को भारतीय जनता की दृष्टि में उचित स्थान दिला सकें । इस दृष्टि से उन्होने सारे देश में एक सी कानून व्यवस्था को स्थापित किया जो कानून का शासन कहलाती थी । अंग्रेजों ने सारे देश के लिये कानून का पंजीकरण किया, प्रादेशिकता का सम्मान करते हुये कुशलता एवं मितव्ययता के सिद्धान्तों को प्रशासन में बद्ध करने के लिये मनोबल से प्रयोग किये और ब्यक्तिगत सेवा और स्वामिभक्ति की संस्कृति में अनुबन्ध सेवाओं के ढॉचे को विकसित किया । इस सन्दर्भ सीमा में उनके अपने निहित स्वार्थ थे, किन्तु सुधार एवं विकास के लिये यह अत्यन्त आवश्यक था कि भारतीय समाज में एक अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे शहरी मध्यम वर्ग को पैदा कर उन्हे सरकारी सेवाओं की ओर आकर्षित होने के लिये प्रेरित किया जाये । शासक और शासित के बीच यह प्रशासकीय भारतीय मध्यम वर्ग धीरे-धीरे अंग्रेजी व्यवस्था का आधार स्तम्भ बना और इसका सहारा लेकर जहॉं एक ओर प्रशासन में योग्यता और भारतीकरण के सिद्धान्त पनपे वहीं दूसरी ओर एक ऐसी अप्रजातांत्रिक नौकरशाही का विकास हुआ जिसे वर्तमान परिवर्तित स्थिति में ताल मेल बैठाने में आज भी कठिनाइयॉं आ रही हैं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ब्रिटिश काल में भारतीय संविधान के विकास का इतिहास राष्ट्रीय आन्दोलन के परिवेश मे विकसित होने वाली प्रवृत्तियों के प्रभाव और उपलब्धियों का इतिहास है । प्रशासन के माध्यम से अंग्रेज़ों ने अपनी जीत का औचित्यीकरण किया; साम्राज्यवाद को सींचा और साथ-साथ अपने राजनीतिक दर्शन के

[6] मिश्रा बी० बी० : द एडमिनिस्ट्रेटिव हिस्ट्री आफ इंडिया, 1834-1947, (1970) ।

आधार पर नयी संस्थायें बनायी और मुगलकालीन संस्थाओं का नवीनीकरण किया । मुगल युग में जो प्रशासन क्रियात्मक रूप में केन्द्रीकृत था वह धीरे-धीरे अंग्रेज़ी युग में भौगोलिक एंव कार्यात्मक रूप से केन्द्रीकृत बना । सेवाओं में विशेषीकरण पनपा और प्रशासन तन्त्र सरकारी व्यवस्था के कार्यकलापों के साथ इतना ब्यापक बना कि स्थानीय इकाइयाँ और संस्थायें बौनी बन कर रह गयी विकास के उदारवादी सिद्धान्तों के बावजूद भी भारतीय समाज भारतीय शासन से अछूता एव पृथक रहा; जिसके फलस्वरूप भारतीय शासन एक दूसरे से निकटता से सम्बन्धित होते हुये भी अपनी अलग-अलग दुनियाओं में जीते और सोते रहे । आज भी भारतीय शासन की सबसे बड़ी चुनौती यही है कि वह जिस समाज का प्रशासन चला रहा है उसका सच्चे अर्थो में प्रतिनिधि बने और उसके प्रति प्रभावी रूप से अपना उत्तरदायित्व निभा सके ।

15 अगस्त 1947 को भारत दासता की ज़ंजीरो से मुक्त हुआ । स्वतन्त्रता के बाद इस बात के प्रयत्न किये गये कि भारत के सभी क्षेत्रों को एक राष्ट्रीय राज्य में सम्मिलित करके उसे एक रूपता प्रदान की जाये । इसके लिए सारे देश के लिये एक ही संविधान और समान प्रकार की राजनीतिक संस्थाओं का निर्माण किया गया । 26 जनवरी 1950 को स्वतन्त्र भारत का संविधान लागू होने के पश्चात भारतीय शासन के सन्दर्भ में निम्न मूलभूत बातें स्पष्ट हुई -

1. केन्द्र और राज्य दोनो ही स्तरों पर संसदीय प्रकार के लोकतन्त्र की स्थापना और निर्वाचित विधानमण्डल के प्रति कार्यपालिका का उत्तरदायित्व ।
2. संघात्मक शासन प्रणाली जिसमें केन्द्र और राज्यों के बीच संविधान द्वारा शक्तियों का विभाजन इस तरह की केन्द्र शक्तिशाली बना रहे और संकट काल में राज्यों के प्रशासन को भी अपने हाथ में ले ले ।

इन बातों को ध्यान में रखते हुये राज्यों को प्रशासनिक सुविधा के आधार पर गठित किया गया और क्षेत्रिय असमानताओं को दूर करने के प्रयत्न किये गये । परन्तु सदियों से चली आ रही विभिन्नता को एकदम दूर नहीं किया जा सकता था । लोकतंत्र में विचारों और संस्थाओं को ऊपर से लादना भी संभव नही था । कठोर प्रशासनिक नियमों से समाप्त करना भी खतरे से खाली नही था । इसलिये ऐतेहासिक पृष्ठभूमि के

सन्दर्भ में देश के अलग-अलग क्षेत्रों की राजनीतिक चेतना; व्यवहार; मूल्य और इसमें भाग लेने की प्रक्रिया अलग ही रही ।

प्रशासनिक प्रक्रिया का सिलसिला अंग्रेजो के शासन काल से स्वतन्त्र भारत तक अक्षुण्ण रहा है। कुछ ने इसकी निन्दा की है, कुछ ने सराहना । यह संस्थागत सिलसिला अंग्रेजों के शासन में मुख्यतः वकीलों, शिक्षकों, असैनिक कर्मचारियों जैसे शिक्षित भारतीय पेशेवर लोगों के मध्यम वर्ग के उदय से बना रहा । इस मध्यम वर्ग ने प्रशासन और राजनीति दोनो में इस सिलसिले को दो प्रकार से बनाये रखा । इस वर्ग के कुछ सदस्यों ने लोक सेवाओ और व्यवसायों में प्रवेश किया तथा कुछ ने आरम्भ से ही राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व किया और स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद सत्ता प्राप्त की अतः राजनीतिक एवं प्रशासनिक क्षेत्रों के सभी स्तरों पर नेता एक दूसरे को सामान्यतया समझते थे । भारतीय राजनीतिक नेतृत्व ने लोक सेवाओं और मतदाताओं के बीच भी अन्य विकासशील देश की अपेक्षा अधिक प्रभावी मध्यस्थता का काम किया है । प्रशासन इनके माध्यम से जनता की मांगो और दबाव के प्रति उचित रूप से संवेदनशील रह सका है । इसी से प्रशासनिक ढॉचे में क्रमबद्धता बनी रही किन्तु इसके कुछ अन्य कारण भी थे । जिला कलेक्टरों तथा मंत्रालयों के विभागों और लोकल निगमों का पुराना संग्रथित ढाँचा अभी भी लाभप्रद समझा गया और 1947 में इसे भंग करने का अर्थ होता अंधकार में छलॉग लगाना । दूसरा देश के विभाजन के कारण ऐसा प्रयास करने के लिये समय भी नही मिला । साथ ही बुद्धिमता इसी में समझी गयी कि अंशतः राजनीतिज्ञों और असैनिक कर्मचारियों के बीच परस्पर आदान प्रदान द्वारा सामने आये और अंशतः प्रशासनिक सुधार समितियों और आयोगों द्वारा सुझाए गये संशोधन करके इसी ढॉचे का उपयोग किया जाय । आर्थिक विकास को भी वर्तमान तन्त्र के माध्यम से ही प्राप्त करने का प्रयास किया गया, यह योजना आयोग की एकमात्र नयी विशेषता थी ।"[7]

भारतीय शासन की 'संस्थागत निरन्तरता' चाहे मुख्यता अंग्रेजी शासन की देन हो, लेकिन यह भी सत्य है कि अनेक वर्तमान प्रशासनिक संस्थाओ से प्राचीन भारतीय किसी न किसी रूप में परिचित थे । ईसा से लगभग 5000 वर्ष पूर्व की सिन्धु घाटी सभ्यता

[7]सुब्रह्मण्यम वी० : भारतीय प्रशासन, प्रकाशन विभाग, भारत सरकार, 1947 पृष्ठ-2,3

अत्यन्त विकसित थी और विद्वानो का अनुमान है कि उस समय के धर्म-निरपेक्ष राज्य में प्रशासन का रूप सुविकसित रहा होगा । मोहन जोदड़ो और हड़प्पा के अवशेषों से ज्ञात होता है कि उस समय अनेक स्वतन्त्र समुदायों की अपेक्षा एक केन्द्रीकृत राज्य था ।[8] 3000 ई० पू० में यहाँ नगरपालिकायें सुस्थापित हो चुकी थी ।[9]

भारतीय प्रशासन का यह विवरण अतीत के गौरव की एक उल्लेखनीय झाँकी अवश्य माना जा सकता है। स्वतन्त्रयोत्तर भारतीय प्रशासन में विकास और सुधार की प्रक्रिया जारी रही और एक स्वतन्त्र विकासशील देश की आवश्यकताओं के अनुरूप उसे ढालने का प्रयत्न किया गया । पुरानी विरासत को नए परिवेश में संजोने के प्रयत्न चलते रहे और आज भी जारी है । भारत पहला स्वतन्त्र देश है, जिसने शासन के जरिए आर्थिक विकास करते हुये, प्रशासनिक ढाँचे में विस्तार और विविधता लाकर भी उस ढाँचे को बनाये रखने और इस प्रकार विकसित होने वाले शासन का संसदीय लोकतंत्र तथा आर्थिक विकास के साथ तालमेल बनाये रखने का अन्य नव स्वतंत्र देशों की तुलना में विशेष सफल प्रयास किया है । इन कसौटियो पर आधरित भारतीय प्रशासन की सफलता एशिया और अफ्रिका के नये स्वतंत्र देशों के लिए अनुकरणीय है। भारतीय शासन में सन्तुलन, लचीलेपन, कार्यक्षमता आदि के गुण विद्यमान है। संकटकाल में तथा विशिष्ट अवसरों पर भारतीय शासन में अपने इन गुणों का परिचय दिया है ।

समयानुसार शासन को पुनर्गठित करने और सजने-संवारने की प्रक्रिया चलती रही और ऐसे उपाय किये जाते हैं कि उसकी कार्यक्षमता और कार्य बद्धता में ठोस विकास हो।

---

[8]बासम ए० एल० : द बनडर दैट वाज इण्डिया 1954, पृष्ठ.15

[9] कोलडर आर० : द इनटिरिटर, 1961, पृष्ठ. 99

अध्याय - 2

राज्यों का पुर्नगठन

जिस समय अंग्रेज भारत में आये तो उस समय भारत में अनेक देशी राजाओं; महाराजाओं और नवाबों का राज्य था । मुगल साम्राज्य के पतन के पश्चात मराठों और सिक्खों ने अपना प्रभुत्व स्थापित कर लिया । लार्ड वेलेजली, लार्ड हेस्टिंग्स तथा लार्ड डलहौजी आदि तक कई देशी रियासतें उनके अधीन हो गई और मराठों तथा सिक्खों का पतन हो गया । लार्ड डलहौजी की व्यपगत नीति (Doctrine of Lapse) के विरूद्ध भारत में जो प्रतिक्रिया हुई और 1857 मे ब्रिटिश साम्राज्य के विरूद्ध स्वतन्त्रता के लिये सशस्त्र संघर्ष हुआ, उसके फलस्वरूप अंग्रेजो ने देशी रियासतों को ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने की नीति को बन्द कर दिया इस हेतु महारानी विक्टोरिया ने औपचारिक घोंषणा भी कर दी इसलिये प्रशासन की दृष्टि में 1947 ई० तक भारत में ब्रिटिश प्रान्तों का अलग प्रशासन चलता रहा । जिन भारतीय प्रदेशों को अंग्रेजों ने विजयी कर लिया था उनको अनेक प्रान्तों में बाँट दिया गया । जिन देशी रियासतों ने अंग्रेजों की अधीनता स्वीकार की उनको आन्तरिक स्वतन्त्रता दे दी गई परन्तु उनके बाहरी सम्बन्धों और विदेशी मामलों पर अंग्रेज़ों का ही नियन्त्रण रहा । 1947 ई० में जब अंग्रेज भारत छोड़कर गये तो उन्होने घोंषणा कर दी कि देशी रियासतें ब्रिटिश नियंत्रण से पूर्ण स्वतंत्र हो जायेंगी, और उनकी इच्छा पर निर्भर होगा कि वे पाकिस्तान से मिलें या हिन्दुस्तान से । इस तरह से अंग्रेजों ने 500 से अधिक देशी रियासतों को स्वतन्त्र करके भारत की एकता को नष्ट करने का प्रयास किया । खैरपुर और बहावलपुर की रियासतें पाकिस्तान में भौगोलिक दृष्टि से चली गयीं और उसमें ही शामिल हो गयीं । जो रियासतें भारत में रह गईं उनको भारतीय संघ में मिलाने के लिये सरदार बल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में एक राज्य मंत्रालय नई दिल्ली में स्थापित किया गया । सरदार बल्लभभाई पटेल के प्रयत्नों से जूनागढ़, हैदराबाद और कश्मीर के अतिरिक्त सभी देशी रियासतें भारतीय संघ में मिलने और भारतीय संघ को कुछ विषय देने तथा संविधान को मानने के लिये तैयार हो गई । जूनागढ़ भौगोलिक दृष्टि से भारत का अभिन्न अंग था, इसलिये वहाँ के नवाब की इस कार्यवाही की भारत सरकार ने घोर निन्दा की और वहाँ के लोगों ने अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा कर दी नवाब जूनागढ़ को छोड़कर पाकिस्तान भाग गया और जूनागढ़ को भारत में मिला लिया गया । हैदराबाद भारत के विरूद्ध अपनी स्वतन्त्रता की घोषणा करना चाहता था इसलिये भारत संघ को अपनी अखण्डता कायम करने के लिये 13 सितम्बर 1948 ई० को

हैदराबाद के विरूद्ध पुलिस कार्यवाही करनी पड़ी, फलतः हैदराबाद भारत में सम्मिलित हो गया ।

कश्मीर के महाराजा ने 16 अगस्त 1947 तक अपने राज्य को न तो पाकिस्तान में मिलाया न हिन्दुस्तान में बल्कि स्वतन्त्र रहने का विचार अपनाया, परन्तु उसके ये सब विचार निरर्थक सिद्ध हुये क्योंकि 22 अक्टूबर 1947 को भारत से उत्तर पश्चिम स्थित पाकिस्तान के कबाइलियों ने कश्मीर पर आक्रमण कर दिया और गिलगिल तथा पूँछ इत्यादि प्रदेशो पर अपना कब्जा कर लिया । आक्रमणकारी कश्मीर की राजधानी श्रीनगर के समीप पहुँच गये । अन्त में परिस्थितियों से विवश होकर कश्मीर के महाराजा हरिसिंह को अपनी रियासत भारत में मिलानी पड़ी । भारत सरकार ने कश्मीर का कुछ प्रदेश तो आक्रमणकारियों से खाली करा दिया परन्तु शेष भाग को खाली कराने के लिये संयुक्त राष्ट्र संघ से अपील कर दिया क्योंकि शेष भाग को शक्ति द्वारा खाली कराने में पाकिस्तान से युद्ध छिड़ने की सम्भावना थी ।

देशी रियासतों को भारतीय संघ में मिलाने के बाद सरदार बल्लभभाई पटेल ने छोटी-छोटी रियासतों को मिलाकर उनके संघ बनाये । जो रियासतें इस बात के लिये तैयार नही हुई उनको या तो पास के प्रान्त में मिला दिया गया या उनको केन्द्रीय क्षेत्र बना दिया गया जिसका प्रशासन केन्द्र चलायेगा ।

इस तरह स्वतन्त्रता के बाद भारत में चार प्रकार के राज्य बन गये । भूतपूर्व ब्रिटिश प्रान्तों को स्वतन्त्रता के पश्चात 'क' श्रेणी के राज्यों में रखा गया । इस श्रेणी में निम्न राज्य थे :

असम, बिहार, बम्बई, मध्यप्रदेश, मद्रास, उड़ीसा, पंजाब, संयुक्त प्रान्त तथा पश्चिमी बंगाल आदि ।

'ख' श्रेणी के राज्यों में कुछ संघ तथा बड़ी-बड़ी देशी रियासतें शामिल की गई जो निम्नलिखित है- हैदराबाद, जम्मूकश्मीर, मध्यभारत, मैसूर, पटियाला या पूर्वी पंजाब की रियासतों का संघ (P.E.P.S.U.) राजस्थान, सौराष्ट्र, ट्रावनकोर तथा कोचीन ।

'ग' श्रेणी के राज्यों में निम्नलिखित प्रदेश शामिल किये गये - अजमेर, भोपाल, कुर्ग, दिल्ली, हिमाचल प्रदेश, कच्छ, विन्ध्य प्रदेश, मणिपुर तथा त्रिपुरा आदि ।

'घ' श्रेणी के राज्यों में अण्डमान तथा निकोबार द्वीप को शामिल किया गया ।

इसके बाद 'क' और 'ख' श्रेणी के राज्यों में पूर्ण उत्तरदायी सरकार तथा 'ग' श्रेणी के राज्यों मे कुछ नियंन्त्रित उत्तरदायी सरकार स्थापित की गई । 'घ' श्रेणी के राज्यों में कोई उत्तरदायी सरकार स्थापित नही की गयी बल्कि प्रशासन केन्द्र के अधीन ही रखा गया ।

इस तरह भारत में देशी रियासतें और प्रान्तों को मिलाकर एक बलशाली संघ स्थापित किया गया और देश की एकता के लिये जो खतरा अंग्रेजों ने उत्पन्न कर दिया था उसे सरदार पटेल ने अपने अथक परिश्रम से दूर किया । इसलिये सरदार पटेल ने गर्व से ठीक ही कहा "कि भारत की भौगोलिक राजनैतिक; आर्थिक एकता का आदर्श जो शताब्दियो तक दूर का स्वप्न रहा और स्वतन्त्रता के बाद भी वैसा ही दूर और कठिनता से प्राप्त होने वाला प्रतीत होता था अब वह पूर्ण रूप से प्राप्त हो गया है।"[1] नये संविधान के शुरू होने के पूर्व ही यह कार्य इतनी तेजी से हो गया कि स्वंय नेहरू जी को भी इसकी आशा नही थी उन्होने सितम्बर 1948 में कहा कि "यदि मेरे से कोई ब्यक्ति छः महीने के पूर्व यह पूछता कि अगले छः महीनों में क्या होगा तो मैं यह नही कह सकता था कि अगले छः महीनों में इतने शीघ्र परिवर्तन होंगे ।"[2]

माइकल ब्रेचर ने इस एकीकरण का महत्व बताते हुये कहा है कि "केवल एक वर्ष में लगभग 500000 वर्गमील क्षेत्र और 9 करोड़ आबादी भारतीय संघ में मिल गई । यह एक महान रक्तहीन क्रान्ति थी जिसकी तुलना कहीं भी इस शताब्दी में नहीं मिलती और इसकी तुलना उन्नीसवीं शताब्दी में विस्मार्क द्वारा जर्मनी में और केवर द्वारा इटली में किये हुये एकीकरण से की जा सकती है ।"[3]

---

[1] Sardar Vallabh Bahai Patel, the Master commented with justifiable pride: "the great idea of geographical, political and economic unification of India, an Ideal which for centuries, remained a distant dream, after the advent of Indian independence, had been consummated by the policy of Integration." As quated in V. P. Menon: The story of the Integration of Indian States, P. 490.

[2] मेनन बी० पी० : द स्टोरी आफ द इन्ट्रीग्रेशन आफ इण्डियन स्टेटस, पृष्ठ. 489।

[3] Writing about the integration of states, Mr. Michael Brecher observes, "The agritude of the operation is brought into bold relief by the vital statistics within a

श्री नेहरू ने ठीक ही कहा है कि "एक इतिहासकार जो पीछे के इतिहास को देखता है निःसन्देह मानेगा कि भारत के इतिहास कि मुख्य क्रमावस्था आज भारत में राज्यों का एकीकरण है। इस बाहरी एकीकरण से अधिक महत्व की बात यह है कि आन्तरिक एकीकरण हुआ है अर्थात राज्यों में लोकतन्त्रीय संस्थाओं का विकास और बृद्धि हुई है।"[4]

संघीय विचार धारा के बीजों की तलाश 1870 ई० में लार्ड मेयो की विकेन्द्रीकरण नीति में की जा सकती है हालॉकि मेण्टफोर्ड सुधारों के लेखको ने सबसे पहली बार संघवाद के पक्ष में अपनी घोषणा की। उन्होने यह घोषणा की; "हमारी कल्पना भारत के सम्भावित भविष्य के बारे मे राज्यों का भाई चारा है। जिससे वे स्थानीय व प्रान्तीय मामलों में स्वशासी होंगे।"[5] साइमन कमीशन ने खुले रूप से घोषणा की कि "ब्रिटिश भारत व देशी रियासतों के बीच अन्तिम संघीय संगठन के प्रश्न के अतिरिक्त भी हमारा विचार है कि भारतीय संविधान को संघीय आधार पर बनाने के शक्तिशाली कारण हैं केवल संघीय ढॉचे में ही विविध अन्दरूनी दशाओ और विभिन्न स्तरों और संस्कृतियों पर

---

year, an area of almost half a millian square miles, with a population of almost ninety million was incorporated into the Indian union. It was a bloodless revolution without parallel in this century, comparable with the unification of Germany and Italy by Bismarch and Cavour. – Michael Brecher: "Nehru, A political Biography", P. 403.

4 Pandit Jawahar Lal Nehru said in Sept. 1948, " the historian who looks back will no doubt consider that one of the dominant phases of India's history today is this integration of states into India, what is more important is not this integration extermally but an inner integration, that is the growth of democratic institution in the state."

5 The author of Montford Reforms announced, "our conception of the eventual future of India is a sisterhood of states, self governing in all matters of purely local or provincial interest."

विकसित होने वाले सम्प्रदायों के तत्वों के बीच में एकता लाने के लिये काफी लचीलापन प्राप्त किया जा सकता है ।"[6]

पहले पहल इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार के इरादों पर सन्देह किया । कांग्रेस के नेताओं ने सोचा कि भारतीय रियासतों को ब्रिटिश प्रान्तों के साथ एक संघीय ढॉचे में करने की योजना केवल राष्ट्रवाद की प्रगति को रोकने के लिये बनाई जा रही है । कांग्रेस के नेताओं के दृष्टिकोण का भली प्रकार से नेहरू प्रतिवेदन द्वारा पता लगाया जा सकता है जिसमें यह घोषणा की गई; "कि यह पूर्ण रूप से इकतरफा व्यवस्था होगी यदि भारतीय देशी रियासतें संघ में शामिल होना चाहें ताकि वे केन्द्रीय विधान मण्डल द्वारा पारित कानूनों के अधीन अपने आपको न करते हुये अपने मतों और नीतियों से उन कानूनों को प्रभावित करें । यह संघीय विचार तो केवल उपहास का विषय होगा ।"[7]

---

[6] The Simon commission openly declared, "A part together from any question of any ultimate federal union between the Indian states and British India, there are we think, very strong reason for the reconstruction of the Indian constitution on a federal basis. It is only in a federal structure that sufficient clasticety can be obtained for the union of elements of diverse internal conditions and communication at very different state of development and culture.

[7] According to Mr. Andrees, "Its (Simon's report) great demerit was that it failed to take note of the radical change that had been brought about by the non-violent, Non-co-operation Movement and of the aspirations generated by it, It dealt more with that old India which was nearly thirty years ago before the national movement had started, it showed little understanding of the young India which was rising on the tide of national upheaval" According to Coupland, "It was by for the most complete study of the Indian problem that had yet been made and that it added another work of first-rate value to the vocabulary of Political Science" R. C Agrwal, Page. 151 is

नेहरू रिपोर्ट (The Nehru Report)

सर्व दल सम्मेलन (All Party Conference)

जब भारतवासी साइमन कमीशन का बहिष्कार कर रहे थे तो उस समय भारत सचिव लार्ड बृकनहैड ने भारतीयों को ऐसा संविधान बनाने के लिये चुनौती दी जिससे सब भारतीय सहमत हो । उसने कहा कि कमीशन के बहिष्कार में कोई समझदारी नहीं है जबकि भारतीय स्वयं ऐसा कोई संविधान तैयार करने में असमर्थ है जिसे भारत के सभी दल स्वीकार कर ले ।कांग्रेस ने इस चुनौती को स्वीकार किया और 28 फरवरी, 1928 ई० को दिल्ली में एक सर्वदल सम्मेलन बुलाया गया इसमें 29 संस्थाओं ने भाग लिया । कुछ मौलिक बातों को तय करने के बाद इसकी बैठक स्थगित हो गई और 10 मई 1928 ई० को बम्बई में इसकी दुबारा बैठक हुई जहाँ पर भारत के संविधान का मसविदा तैयार करने के लिये 8 व्यक्तियों की एक कमेटी नियुक्त की गई । पण्डित मोतीलाल नेहरू इस कमेटी के अध्यक्ष थे इसीलिये इस कमेटी ने जो रिपोर्ट तैयार की; वह नेहरू रिपोर्ट कहलायी । श्री सुभाष चन्द्र बोस, सर तेज बहादुर सप्रू; मिस्टर शुएब कुरेशी; सरदार मंगलसिंह; श्री एम० एस० ; सर अली इमाम; श्री जी० आर० प्रधान इसके सदस्य थे । बाद में डाक्टर अन्सारी की अध्यक्षता में सब दलों के प्रतिनिधियों ने इसे स्वीकार कर लिया । नेहरू रिपोर्ट की निम्नलिखित बाते महत्वपूर्ण थीं:

1- औपनिवेशिक स्वराज्य तथा पूर्ण उत्तरदायी शासन -

यद्यपि इस कमेटी का बहुमत औपनिवेशिक स्वराज के पक्ष में था परन्तु थोड़ी सी संख्या पूर्ण स्वतन्त्रता के भी पक्ष मे थी । नेहरू रिपोर्ट ने इन दोनों पक्षों में समझौता कराने के लिये बीच का मार्ग अपनाया । इसने भारत के लिये औपनिवेशिक स्वराज्य अन्तिम उद्देश्य के रूप में नही बल्कि तत्कालिक लक्ष्य के रूप में स्वीकार कर लिया । कमेटी ने उन सब दलों को, जो पूर्ण स्वतंत्रता चाहते थे, कार्य करने की पूर्ण स्वतंत्रता दे दी । इसने यह भी सिफारिश की कि केन्द्र और प्रान्तो में पूर्ण उत्तरदायी शासन स्थापित किया जाय और कार्यकारणी को उनकी तरफ उत्तरदायी बनाया जाय ।

2- प्रान्तीय स्वायत्तता तथा अवशिष्ट शक्तियॉ -

कमेटी ने भारत के लिये भविष्य में संघ (federation) की सम्भावना की कल्पना की । इसने प्रान्तों को स्वायत्तता (स्वराज्य; Autonomy) देने पर विशेष बल दिया । प्रान्तों और केन्द्र में संघीय आधार पर शक्तियों के बंटवारे की सिफारिश की गई । अवशिष्ट शक्तियॉ (बची हुई शक्तियॉ, Residuary Powers) केन्द्र के पास रखी गई। यह कनाडा के संविधान को आदर्श मानकर किया गया ताकि केन्द्र शक्तिशाली बना रहे । प्रान्तों में कानून बनाने के लिये एक सदन की कल्पना की गई ।

3- साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति की अस्वीकृति -

रिपोर्ट में भारतीय राजनीति में साम्प्रदायिक झगड़ों के प्रभाव को स्वीकार किया गया लेकिन यह विश्वास किया गया कि स्वतन्त्र भारत इन सब समस्याओं के हल करने में सफल हो जायेगा साम्प्रदायिक समस्या की जटिलता का कारण विदेशी सत्ता को माना गया । रिपोर्ट में यह भी कहा गया कि हम एक सम्प्रदाय का दूसरे सम्प्रदाय पर प्रभुत्व स्वीकार करने के लिये तैयार नही । रिपोर्ट को तैयार करने वाले व्यक्तियों ने अल्पमतों को सांस्कृतिक स्वायत्तता (cultural autonomy), रक्षा कवचों (safeguards) और अनेक प्रकार की गारंटियों द्वारा सुरक्षा प्रदान करने की सिफारिश की परन्तु उन्होने साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति तथा गुरू भार (आबादी से अधिक स्थान weightage) को मानने से इन्कार कर दिया क्योंकि इससे साम्प्रदायिक समस्या हल होने के बजाय और अधिक उग्र रूप धारण करती है । ऐसी पद्धति को राष्ट्रीय हित के विरूद्ध समझा गया । रिपोर्ट में संयुक्त चुनाव पद्धति की सिफारिश की गई । परन्तु अल्पमतों के हितों की रक्षा के लिये स्थानों को आरक्षित करने पर भी बल दिया गया ।

4- नये प्रान्तों का निर्माण -

मुसलमान या मुस्लिम लीग बहुत समय से मॉग कर रहे थे कि सिन्ध को बम्बई से अलग किया जाय और उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त को दूसरे प्रान्तों के समान दर्जा दिया जाय ताकि पंजाब; बंगाल;सिन्ध और उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त में उनका बहुमत हो जाये । मुसलमानों की यह मांग रिपोर्ट में स्वीकार कर ली गई ।

5- मौलिक अधिकार -

रिपोर्ट में यह कहा गया कि सरकार की सारी शक्तियॉ लोगों से ली गई है और वे लोगों की संस्थाओ द्वारा इस संविधान के अनुसार प्रयोग में लायी जायेगी । इसका यह अर्थ था कि राजसत्ता लोगों के पास रहेगी । भारत में कोई भी राज धर्म नही होगा । पुरूषों और स्त्रियों को समान अधिकार मिलेंगे ।

6- संसद -

भारत की कानूनी शक्तियॉ संसद के पास रहेगी जो सम्राट सीनेट और प्रतिनिधि सभा से मिलकर बनेगी । सीनेट में 200 सदस्य होंगे जो प्रान्तो की विधान परिषद द्वारा चुने जायेंगे । प्रत्येक प्रान्त को उसकी आबादी के आधार पर प्रतिनिधित्व दिया जायेगा । प्रतिनिधि सभा में 500 सदस्य होगे जो बालिगों द्वारा चुने जायेंगे । 21 वर्ष या अधिक आयु वाले प्रत्येक व्यक्ति को मताधिकार होगा । विदेशी मामलों में संसद के अधिकार होंगे जो अन्य अधिराज्यों की संसद के हैं ।

7- भारतीय रियासतें -

रिपोर्ट में कहा गया कि औपनिवेशिक स्वराज्य प्राप्ति के बाद केन्द्रीय सरकार को देशी रियासतों के ऊपर वही अधिकार और शक्तियॉ प्राप्त होगी जो अब केन्द्रीय सरकार को प्राप्त है । यदि औपनिवेशिक स्वराज्य की प्राप्ति के बाद किसी देशी रियासत से किसी सन्धि या सनद के विषय में कोई झगड़ा उत्पन्न हो जाये, तो गर्वनर-जनरल की अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह से उस मामले को सुप्रीम कोर्ट में फेसले के लिये सैापने का अधिकार होगा ।

8- केन्द्रीय कार्यकारिणी -

भारत की कार्यकारिणी शक्ति सम्राट के पास रहेगी और वह शक्ति गर्वनर जनरल द्वारा सम्राट के प्रतिनिधि की हैसियत से प्रयोग की जायेगी परन्तु यह शक्ति कानूनो और संविधान के अनुसार ही प्रयुक्त होगी । गवर्नर जनरल की एक कार्यकारिणी परिषद होगी जिसमें प्रधानमंत्री और छः अन्य मन्त्री होंगे । प्रधानमन्त्री की नियुक्ति होगी । केन्द्रीय कार्यकारिणी परिषद सब मामलों के लिये सामूहिक रूप से संसद की तरफ उत्तरदायी होगी ।

9- उच्चतम न्यायालय -

भारत में एक उच्चतम न्यायालय की स्थापना करने और प्रिवी कौंसिल को तमाम अपील बन्द करने का सुझाव दिया गया । सुप्रीम कोर्ट संविधान की व्याख्या करेगी और प्रान्तों के झगड़ों का निर्णय करेगी ।

10- प्रतिरक्षा -

प्रधानमंत्री, प्रतिरक्षा मंत्री (Defence Minister), प्रधान सेनापति (Commander-in chief), वायु सेना और जल सेना के सेनापति, जनरल स्टाफ के अध्यक्ष (Chief of General staff) तथा दो अन्य सैनिक विशेषज्ञों को मिलाकर एक प्रतिरक्षा समिति (Defence committee) बनायी जाये । भारतीय सेनाओं के सम्बन्ध में सभी नियम और विनिमय (Rules and Regulations) इस कमेटी की सिफारिश के अनुसार बनाये जायें । प्रतिरक्षा सम्बन्धी सारे खर्च की स्वीकृति प्रतिनिधि सभा से लेनी पड़ेगी परन्तु भारत पर विदेशी आक्रमण होने या इसकी सम्भावना होने पर केन्द्रीय कार्यकारिणी को किसी भी धन राशि के खर्च करने का अधिकार होगा ।

नेहरू रिपोर्ट पर प्रतिक्रिया-

डॉ० जकरिया के शब्दों में; "यह एक उच्च कोटि की रिपोर्ट थी । जिससे राजनीतिक बुद्धिमत्ता का आभास होता है"[8] इसका कारण यह था कि इस रिपोर्ट में पहली बार सब राजनीतिक तथा अन्य समस्यायें पर विचार किया गया और उसका हल तलाश करने का प्रयत्न किया गया । पहली बार सब दलों ने इन कठिन समस्याओं के सुलझाने में अपना सहयेग दिया । इस रिपोर्ट में भारत के भावी संविधान की रूपरेखा निश्चित की गयी इस रिपोर्ट की अनेक बातें आधुनिक संविधान में अपना ली गई है अतः यह रिपोर्ट वर्तमान संविधान का प्रारम्भिक कम (Blue Print of the present Indian Constitution) है और यही इस रिपोर्ट की अधिक से अधिक प्रशंसा है ।

यह रिपोर्ट अच्छी थी लेकिन बहुत अधिक प्रगतिशील थी, अतः सरकार ने इसको स्वीकार नही किया । जब यह रिपोर्ट विभिन्न दलों की अलग-अलग बैठको के सामने आयी, तो अनेक कठिनाइयाँ उत्पन्न हुई । अनेक दलों ने इस पर साम्प्रदायिक दृष्टिकोण

---

[8] S. A. Zacharia - "According to Zacharias, it was masterly and stateman like Report"

से विचार करना आरम्भ कर दिया । मुसलमानों में इस बात पर काफी मतभेद था । मौलाना अबुल कलाम आजाद; हकीम अजमल खॉ और डाक्टर अन्सारी जैसे राष्ट्रवादी मुसलमान इस रिपोर्ट को पूर्ण स्वीकार करने के पक्ष में थे । मिस्टर शफी मुहम्मद रिपोर्ट को अस्वीकार करना चाहते थे और मुहम्मद अली जिन्ना इसमें कुछ ऐसे मौलिक परिवर्तन करना चाहते थे जिससे इसका स्वरूप ही बिलकुल बदल जाये । मुहम्मद अली जिन्ना ने नेहरू रिपोर्ट के मुकाबले में अपनी चौदह शर्तें पेश की और उनको सब दलो द्वारा स्वीकार करने पर बल दिया। भारतीय मुसलमानों की तरफ से 'मुस्लिम कान्फ्रैस' ने मुसलमानों के लिये साम्प्रदायिक चुनाव पद्धति, आबादी के अनुपात में अधिक प्रतिनिधित्व का गुरूभार और केन्द्रीय तथा प्रान्तीय मंत्री मण्डलों में उचित प्रतिनिधित्व की मांग की । इसने यह भी मांग की कि अवशिष्ट शक्तियां प्रान्तों के पास रहें और केन्द्र के पास बिलकुल न रहें ।

कांग्रेस में भी नेहरू रिपोर्ट के बारे में काफी विचार विभिन्नता थी । जवाहर लाल नेहरू और सुभाष चन्द्र बोस के नेतृत्व में युवक दल इस रिपोर्ट को पूर्ण स्वतंत्रता के आधार पर स्वीकार करना चाहता था । मोती लाल नेहरू के नेतृत्व मे कांग्रेस का पुराना दल इसे पूर्ण रूप से स्वीकार करना चाहता था । ऐसा मालूम देता था कि कलकत्ता काग्रेस के अधिवेशन में पंण्डित मोती लाल नेहरू अपना प्रस्ताव पास न करा सकेंगे परन्तु गॉधी जी ने बीच बचाव करके मोती लाल नेहरू के प्रस्ताव को पास करवा दिया । गॉधी जी ने उस समय निम्नलिखित प्रस्ताव पेश किया:

"सर्वदल सम्मेलन (नेहरू कमेटी) की रिपोर्ट में शासन विधान की जो योजना की गई है, उस पर विचार करके कांग्रेस उसका स्वागत करती है और उसे भारत की राजनीतिक व साम्प्रदायिक समस्याओं को हल करने में बहुत अधिक सहायता देने वाली माना है ।यदि ब्रिटिश संसद इस विधान को ज्यों का त्यों 31 दिसम्बर 1929 तक या उससे पहले स्वीकार कर ले, तो यह कांग्रेस इस विधान को अपना लेगी बशर्ते की राजनीतिक स्थिति में कोई परिवर्तन न हो लेकिन यदि उस तारीख तक ब्रिटिश संसद उसे मंजूर न करे या इसके पहले ही उसे नामंजूर कर दे तो कांग्रेस देश को करबन्दी की सलाह देकर और

अन्य उपायों द्वारा जिनका वह बाद में निश्चय करेगी अहिंसात्मक असहयोग आन्दोलन चलायेगी ।”[9]

कांग्रेस ने इस प्रस्ताव को दिसम्बर 1928 में कलकत्ता अधिवेशन में पास कर दिया अब हम जिन्ना की चौदह शर्तों पर प्रकाश डालते है जो उसने नेहरू रिपोर्ट के बजाये पेश की थी ।

जिन्ना की चौदह शर्तें :-

“डॉ० राजेन्द्र प्रसाद ने जिन्ना की चौदह शर्तों का निम्नलिखित सारांश उपस्थित किया है”:-

1. भारत के भावी संविधान का रूप सघीय हो जिसमें अवशिष्ट शक्तियॉ प्रान्तों के पास हो ।
2. सभी प्रान्तों में एक समान स्वायत्त शासन अधिकार रहे । (A uniform measure of autonomy for provinces)
3. सभी प्रान्तो की विधान सभाओं और अन्य लोक प्रतिनिधि संस्थाओं में थोड़ी संख्या वाली जातियों का निश्चित रूप से उचित और काफी प्रतिनिधि रहें। जहॉ उनका बहुमत हो उसे घटाकर बराबर या अल्पमत न कर दिया जाये ।
4. केन्द्रीय विधान मण्डल में मुसलमानें का प्रतिनिधित्व कम से कम एक तिहाई हो ।

[9] All legislatures and other dected bodies should be constituted on the definite principle of adequate and effective representation of minorities in every province without reducing the majority in any Province to a minority or even equality.

Note- (According to Dr. Rajendra Prasad, there fourteen points have an important of their own as they were a dopted practically in their entirety by Mr. Macdonod's communal decision or award.)

5 साम्प्रदायिक वर्गो का प्रतिनिधित्व, पृथक निर्वाचन पद्धति (Separate Electorate) से हो परन्तु कोई भी सम्प्रदाय जब चाहे तब संयुक्त निर्वाचन पद्धति (Joint Electorate) स्वीकार कर सकता है ।

6. किसी भी प्रादेशिक पुर्नविभाजन द्वारा पंजाब बंगाल और पश्चिमोत्तर प्रान्त में मुसलमानो के बहुमत पर कोई प्रभाव नही पड़ना चाहिये ।

7. सभी सम्प्रदायों को अपने धार्मिक विश्वास, उपासना, उत्सव, प्रचार, सम्मेलन और शिक्षा की पूर्ण स्वाधीनता रहनी चाहिये ।

8. किसी भी विधान सभा अथवा लोक प्रतिनिधि संस्था (Representative body) में ऐसा कोई भी विधेयक (बिल) या प्रस्ताव स्वीकृत नही होना चाहिए जिसका किसी भी सम्प्रदाय के तीन चौथाई सदस्य अपने सम्प्रदाय के हितों के विरूद्ध बताते हुये विरोध करें ।

9. सिन्ध को बम्बई प्रान्त से अलग किया जाय ।

10. अन्य प्रान्तों में जिस प्रकार के सुधार किये जायें उसी प्रकार के सुधार उत्तर पश्चिम सीमा प्रान्त और विलोचिस्तान मे किये जायें ।

11. विधान में सभी नौकरियों में योग्यता की आवश्यकता के अनुरूप मुसलमानों को उचित मॉग मिले ।[10]

12. मुस्लिम संस्कृति, शिक्षा, भाषा, व्यक्तिगत कानून और धार्मिक संस्थाओ की रक्षा व उन्नति के लिये उचित संरक्षण (Adequate Safeguards) तथा काफी सरकारी सहायता मिले ।

13. केन्द्रीय अथवा प्रान्तीय मंन्त्रिमण्डल में कम से कम तिहाई मंत्री मुसलमान रहें ।

14. केन्द्रीय विधान मण्डल को संविधान में कोई परिवर्तन करने का केवल तभी अधिकार रहे जब भारतीय संघ की सभी ईकाइयॉ उसे स्वीकार कर लें ।

---

[10] (Adequate share for Muslmans to be Provided in the constitution of all services; subject to requirements of effeciency)

मिस्टर जिन्ना की चौदह शर्ते वास्तव में राष्ट्रवादियों के मतानुसार साम्प्रदायिक समस्या का कोई हल नही थीं । मिस्टर जिन्ना ने इन चौदह शर्तों के आधार पर मुस्लिम लीग के दोनों पक्षों मे मेल उत्पन्न कर लिया । डाक्टर राजेन्द्र प्रसाद ने लिखा है: "जिन्ना की चौदह शर्तों का इसलिये विशेष महत्व है क्योंकि मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक विधि मे ये प्रायः मान ली गई थी ।"[11]

"पहले गोलमेज सम्मेलन के समय बहुत से भारतीय राजनीतिक नेता और देशी रियासतें संघ में शामिल होने के लिये सहमत हो गये । उस समय प्रायः यह विश्वास किया गया कि भारतीय रियासतें संघ में ब्रिटिश सरकार के दबाव के कारण शामिल हो गई है । संघीय विचार को 1935 के अधिनियम में व्यवहारिक रूप दिया गया । वैसे कांग्रेस संघीय विचार के विरूद्ध नही थी परन्तु जिस प्रकार से संघ की व्यवस्था 1935 के अधिनियम मे की गई उसके विरूद्ध कांग्रेस अवश्य थी । अंग्रेज शासक केन्द्र में देशी रियासतों और प्रान्तों का संघ इसलिये स्थापित करना चाहते थे कि भारत में बढ़ते हुये राष्ट्रवाद को रोका जा सके । देशी रियासतों को देश की लोकतन्त्र की प्रगति के मार्ग में एक प्रतिक्रियावादी शक्ति के रूप में कार्य करना था । इण्डियन नेशनल कांग्रेस के विरोध के कारण ब्रिटिश सरकार ने केन्द्र में संघ को स्थापित करने का विचार छोड़ दिया । केन्द्र में 1919 के अधिनियम के अनुसार ही शासन चलता रहा परन्तु प्रान्तों को स्वायत्तता दे दी गई । जब भारत स्वतन्त्र हो गया तो यह दूरदर्शिता समझी गयी की भारत में एकात्मक सरकार के स्थान पर संघीय सरकार की व्यवस्था की जाये । जिसका भारत के विभिन्न मत रखने वाले सभी लोगों ने स्वागत किया । भारत की देशी रियासतें भी संघ में शामिल होने के लिये तैयार हो गई और भारत में देशी रियासतों और प्रन्तों को मिलाकर एक बलशाली संघ स्थापित किया गया ।"[12]

---

[11] अग्रवाल आर० सी० : भारतीय संविधान का विवेचन, पृष्ठ 151 से 157 तक.

[12] Nehru Report: 2 - No Bill or resolution or any part there of shall be passed in any legislature or any other dected body if three fourth of the members of any community in that body opposed it as being inurious to the interest of that community

देशी रियासतें संघ राज्य में प्रवेश प्रार्थना पत्रों के द्वारा शामिल होंगी । इन पत्रों में देशी नरेश अपनी और अपने उत्तराधिकारियों की ओर से सम्राट को यह आश्वासन देंगे कि वे सन् 1935 के एक्ट के द्वारा संस्थापित संघ राज्य में शामिल होना चाहते हैं और सम्राट गवर्नर जनरल; संघीय व्यवस्थापक मण्डल, संघीय न्यायालय या अन्य संघीय अधिकारी उनके राज्य में प्रवेश प्रार्थना पत्र की शर्तों के अन्तर्गत इन अधिकारों का उपयोग कर सकेंगे जो उन्हें सन् 1935 के एक्ट के द्वारा प्राप्त है । इन्ही पत्रों में वे यह वचन भी देंगे कि वे अपने राज्य में लागू होने वाली उन सब बातों को कार्यान्वित करेंगे जिनका उल्लेख नये शासन विधान में किया गया है और जो उनके प्रवेश प्रार्थना पत्र के अनुकुल है । प्रवेश प्रार्थना पत्र भेजते समय देशी नरेश; सघ राज्य स्थापित होने की तिथि का भी उल्लेख कर सकेंगे । यदि उस समय तक संघ राज्य स्थापित न हो तो उनके लिये उस प्रवेश प्रार्थना पत्र के आधार पर संघ राज्य में शामिल होना आवश्यक नही समझा जायेगा प्रवेश प्रार्थना पत्रों पर यह स्पष्ट कर दिया जायेगा कि उनके भेजने वाले देशी नरेश अपने राज्य में किन-किन विषयों में संघ शासन और संघीय व्यवस्थापक मण्डल को अधिकार देने को तैयार हैं ।

संघ राज्य का अधिकार बढ़ाने के लिये देशी नरेश प्रथम प्रवेश प्रार्थना पत्र को स्वीकार करना अथवा स्वीकार न करना सम्राट की इच्छा पर निर्भर होगा सम्राट किसी प्रवेश प्रार्थना पत्र को तभी स्वीकार करेंगे जब उसकी शर्तें संघ राज्य में स्थापित होने पर स्वीकृति प्रवेश प्रार्थना पत्र भेजने का अधिकार स्वयं देशी नरेशों को होगा ।

संघ राज्य स्थापित होने के पश्चात शेष देशी नरेश, गवर्नर जनरल; सम्राट के पास प्रवेश प्रार्थना पत्र भेज सकेंगे और संघ राज्य स्थापित होने के बीस वर्ष पश्चात; गवर्नर जनरल किसी प्रवेश प्रार्थना पत्र को सम्राट के पास तक न भेजेंगे जब तक संघीय व्यवस्थापक मण्डल की दोनों सभायें यह प्रार्थना न करें कि अमुक रियासत संघ राज्य में शामिल की जाये । प्रत्येक स्वीकृति प्रवेश प्रार्थना पत्र पार्लियामेंट के समक्ष उपस्थित किया जायेगा और उसका मानना न्यायालयों के लिये अनिवार्य होगा ।

नये शासन विधान के अनुसार भारतीय संघ राज्य के दो प्रधान अंग निर्धारित किये गये -

1. गवर्नरों के प्रान्त और

2. देशी रियासतें ।

संघ राज्य में वे प्रान्त भी शामिल किये जायेंगे जो चीफ कमिश्नरों के अधीन है । संघ राज्य स्थापित होने के पूर्व कुछ शर्तों की पूर्ति आवश्यक थी -

1. कम से कम इतने देशी नरेश संघ राज्य मे शामिल होने के लिये तैयार हों जो संघीय व्यवस्थापक मण्डल की बड़ी सभा में 52 सदस्य भेज सके और जिनकी जनसंख्या समस्त देशी रियासतो की जनसंख्या की कम से कम आधी हो ।
2. उपरोक्त शर्त की पूर्ति के पश्चात, यदि ब्रिटिश पार्लियामेंट की दोनों सभायें सम्राट से संघ राज्य स्थापित करने की प्रार्थना करे, तो सम्राट इस आशय की घोषणा करेंगे कि अमुक तिथि से, सम्राट के अधीन भारतीय संघ राज्य स्थापित किया जाये ।

भारतीय संघ की स्थापना प्रधानतः देशी नरेशों की इच्छा पर निर्भर है और यदि वे तैयार हो जायें तो ब्रिटिश पार्लियामेंट और सम्राट की इच्छा पर ब्रिटिश भारतीय प्रान्तों की इच्छा अथवा अनिच्छा का कोई ख्याल नही । ये संघ राज्य में अवश्य शामिल होंगे ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद एक (1) में भारत को राज्यों का एक संयोग बताया गया है न कि एक संघ लेकिन भारत में संघात्मक सरकार स्थापित की गई है । भारतीय संविधान सभा के अध्यक्ष को प्रस्ताव प्रस्तुत करते हुये डा० अम्बेडकर ने लिखा है कि "यह देखने के योग्य बात है कि प्रारूप समिति ने संघ के बजाय संयोग शब्द का प्रयोग किया है परन्तु सविधान प्रारूप समिति ने इस बारे में ब्रिटिश उत्तरी अमेरिका अधिनियम 1867 का अनुसरण करना अधिक उपयुक्त समझा और उसने यह समझा की चाहे भारत में संघात्मक सरकार हो परन्तु उसको राज्यों का एक संयोग कहना अधिक उचित होगा"[13] इसलिये संघ शब्द का जानबूझकर प्रयोग नही किया गया है । संविधान सभा के विचार के लिये 4 नवम्बर 1948 को संविधान का प्रारूप प्रस्तुत करते समय डा० अम्बेडकर ने संघ के बजाय संयोग शब्द के प्रयोग पर प्रकाश डाला । डा० अम्बेडकर ने कहा "यह सत्य है कि दक्षिण अफ्रीका को एक (यूनियन) संयोग कहा गया है हलॉकि वहॉ पर एकात्मक सरकार है परन्तु कनाडा को भी यूनियन कहा गया है जहॉ कि संघात्मक सरकार है ।

[13] डॉ० अम्बेडकर बी० आर० :- "फेडरल वर्सेस फ्रीडम" (बाम्बे आर० के० टाटनिस), 1939" पृष्ठ 156 काले मेमोरियल लेक्चर 1939, गोखले इंस्टीटयूट)

इसलिये भारत को राज्यों का संघ कहने के बजाय एक संयोग कहने से किसी परम्परागत प्रयोग या चलन का कोई उल्लंघन नही होता है"[14] । परन्तु महत्वपूर्ण बात यह है कि (यूनियन) शब्द का प्रयोग किया गया परन्तु मैं यह बता सकता हूँ कि प्रारूप समिति ने इसका प्रयोग क्यों किया है । प्रारूप समिति यह बात स्पष्ट कर देना चाहती थी कि यद्यपि भारत को संघ बनाना था परन्तु यह संघ राज्यों के द्वारा संघ में शामिल होने के लिये किसी समझौते का परिणाम नही था और किसी भी राज्य को इस समझौते से अलग होने का अधिकार नही है । संघ एक यूनियन है क्योंकि यह अविनाशी है, यद्यपि देश और जनता को प्रशासन की सुविधा के लिये विभिन्न राज्यों में बांट दिया जाये परन्तु देश एक अखण्ड पूर्ण इकाई है इसके लोग एक ही स्रोत से निकली हुई परमसत्ता या प्रभुत्व के अधीन रहे हैं । अमेरिका निवासियों को यह स्थापित करने के लिये युद्ध लड़ना पड़ा कि राज्यों को केन्द्र से अलग होने का अधिकार नही है और उनका स्रोत अविनाशी है । प्रारूप समिति ने यह सोचा कि इस बात को शुरू में ही स्पष्ट कर देना अधिक अच्छा था बजाय इस बात को दूर की कल्पना अथवा विवाद के लिये छोड़ा जाये । इस तरह से भारतीय संघ अपनी इकाइयों में हुये किसी समझौते का परिणाम नही है । भारतीय संविधान सभा में इकठ्ठे हुये लोगों के प्रतिनिधियों की उत्पत्ति है । राज्यों को केन्द्र से अलग होने का कोई अधिकार नही है और भारतीय यूनियन अविनाशी है । डॉ० अम्बेडकर ने यह सत्य ही कहा है कि "राज्यों और यूनियन का इकठ्ठा ही संविधान है जिससे कोई अलग नही हो सकता और जिसके अन्दर रह कर दोनो को कार्य करना चाहिए ।"[15]

यद्यपि भौगोलिक और सांस्कृतिक दृष्टि से समस्त भारत एक ही देश है, पर उसकी राजनैतिक एकता एक प्रकार से हमेशा ही स्वप्रवत् रही है । इसमें संदेह नही कि भूतकाल में अशोक, अल्लाउद्दीन खिलजी, औरंगजेब आदि महान सम्राटों ने समस्त भारत को अपने अधीन कर लिया था पर उनकी सफलता वास्तव में क्षणिक थी और उनकी मृत्यु के

---

[14] वही

[15] वही

पश्चात भारतीय राजनीतिक एकता पुनः स्वप्रवत हो गयी थी । सम्भवतः उनके शासन काल में राजनैतिक एकता केवल सन्दिग्ध रूप से ही स्थापित हो पायी थी । 20वीं शताब्दी के आरम्भ मे यातायात की सुविधाओं के कारण समस्त भारत बहुतेरी बातों में एक हो गया पर राजनीतिक दृष्टि से उसके दो हिस्से थे भारतीय रियासतें व ब्रिटिश भारत । दोनों को मिलाकर संघ राज्य स्थापित करने से यह भेदभाव मिट सकता तथा समस्त भारत की राजनीतिक एकता स्थापित हो सकती है ।

प्रथम महायुद्ध के पूर्व भारत में भारतीय संघ राज्य की विशेष चर्चा न थी किन्तु महायुद्ध के पश्चात यह परिस्थिति विलकुल बदल ग्रयी और भारतीय नरेश और उनकी प्रजा; ब्रिटिश भारतीय राजनीतिक और सरकारी अधिकारी सभी भारतीय संघ राज्य का स्वप्न देखने लगे । मांटेग्यू चेम्सफोर्ड रिपोर्ट और नेहरू योजना में यह कल्पना विद्यमान थी । नेहरू मण्डल में इसकी चर्चा होती थी, पर भारतीय नरेश भी इसके पक्षपाती हो गये थे ।[16] किन्तु किसी को यह आशा न थी की निकट भविष्य में यह कल्पना मूर्तिमान स्वरूप धारण कर सकेगी । ब्रिटिश भारत की राजनीतिक प्रगति इस ओर अवश्य थी । प्रान्तीय स्वराज स्थापित होने पर भारतीय संघ राज्य द्वारा ही भारत की राजनीतिक एकता कायम रखी जा सकती थी पर भारतीय रियासतों का राजनीतिक विकास इस ओर नही था वे मध्यकालीन रंग में रंगी थी और उनमें वह राजनीतिक जागृति न थी जो संघ राज्य स्थापित करने के लिये आवश्यक थी । प्रथम गोलमेज परिषद में; भारतीय रियासतों और ब्रिटिश भारत के डेलीगेटों ने संघ राज्य की कल्पना को कार्यान्वित करने के पक्ष में अपने विचार प्रकट किये तब से औपनिवेशिक स्वराज्य केन्द्रीय उत्तरदायी शासन आदि के स्थान में भारतीय राजनीतिक वातावरण में संघ राज्य की चर्चा का ही प्राधान्य हो गया और सन् 1935 में ब्रिटिश पार्लियामेंट ने भारतीय संघ राज्य का संविधान पास भी कर दिया ।

इस काल में सबसे अधिक महत्व की बातें थी राष्ट्रीय आन्दोलन और भारतीय संविधान का निर्माण । साइमन कमीशन सम्बन्धी कांग्रेस की नीति की भारत के सभी प्रमुख राजनीतिक दलों ने उसके बहिष्कार का निश्चय किया था अतएव कांग्रेस का भी

[16] सिंह जी० एन० : इण्डियन स्टेटस एंड ब्रिटिश इण्डिया देयर फ्यूचर रिलेशंस, पृष्ठ 73-75

उससे कोई सरोकार न था । मद्रास कांग्रेस ने कमीशन के हर हालत से और हर प्रकार से बहिष्कार करने का प्रस्ताव पास किया था फिर भी कमीशन को परोक्ष रीति से; कांग्रेस के विचारो का पता नेहरू योजना से मिल गया था ।

सन् 1935 में कांग्रेस की जयन्ती बड़े समारोह के साथ समस्त देश में मनाई गयी पच्चास वर्ष पूर्व सन् 1885 में इस संस्था का जन्म हुआ था तब उस समय भारत के शासन में भारतीयों का हाथ तक न था ।

मार्च सन् 1933 में, भावी भारतीय संविधान का श्वेत-पत्र प्रकाशित हुआ । इस योजना के चार आधारभूत सिद्धान्त थे -

(अ) भारतीय संघ राज्य,

(ब) केन्द्रीय उत्तरदायी शासन,

(स) प्रान्तीय स्वराज

(द) वैधानिक व आर्थिक संरक्षणों एवं गवर्नर जनरल और गवर्नरों की विशेष जानकारियॉ

इस योजना से किसी को सन्तोष न हुआ । भारतीय विधान सभा और प्रान्तीय विधान सभाओं में उसके विरोध सम्बन्धी प्रस्ताव पास हुये । कांग्रेस की राय में श्वेतपत्र की योजना भारतीय हितों की विरोधिनी थी और देश में विदेशी प्रभुत्व स्थायी रखने के उद्देश्य से बनायी गयी थी भारतीय रियासतों को भी उससे सन्तोष न था । वे संविधान बनाने के पूर्व अपने अधिकारों की रक्षा भलि भॉति कर लेना चाहती थी । इग्लैण्ड का अनुदार दल श्वेत पत्र की योजना से इस लिये असन्तुष्ट था कि उससे भारतीयों को आवश्यकता से अधिक शासनाधिकार दिया गया था उनका विचार था कि वर्तमान भारतीय राजनीतिक परिस्थिति में श्वेत पत्र की योजना के अनुसार भारतीय शासन का संचालन करना असम्भव था वह भारतीय संघ राज्य का भी विरोधी था । इसके दो मुख्य कारण थे:

(अ) संघ राज्य स्थापित होने से भारतीय शासन का खर्च बढ़ जायेगा और

(ब) संघातरित राज्यों की असमान राजनीतिक जागृति के कारण सुदृढ़ संघ राज्य न बन सकेगा ।

लेबर पार्टी भी संघ राज्य योजना से असन्तुष्ट थी । उसके मतानुसार इस योजना के अनुसार भारतीयों को उतना शासनांधिकार न दिया गया था जितना दिया जाना चाहिए था ।

सन् 1935 के एक्ट की दो मुख्य बातें थी- भारतीय संघ राज्य और प्रान्तीय स्वराज । इन दोनों परिवर्तनों को एक साथ किया जाना एक कठिन बात थी अतएव यह पहले से ही निर्धारित कर दिया गया था कि प्रान्तीय स्वराज्य शीघ्र ही स्थापित किया जाये और उसके बाद संघ राज्य प्रान्तीय स्वराज्य और संघ राज्य के स्थापित होने के बीच के समय की शासन व्यवस्था कैसी हो सन् 1935 के एक्ट में इसका भी उल्लेख था । संघ राज्य स्थापित होने के दस वर्ष पश्चात विधानमण्डल और प्रान्तीय स्वराज्य स्थापित होने के दस वर्ष पश्चात प्रान्तीय विधानमण्डल प्रस्ताव पास करके कुछ निर्दिष्ट विषयों में संशोधन करने के लिये, गवर्नर जनरल और गवर्नर से यह प्रार्थना कर सकते थे कि उनके स्वीकृति प्रस्ताव की सूचना सम्राट को दी जाये और वे उसे पार्लियामेंट के समक्ष पेश करने की कृपा करें ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 में निर्धारित किया गया है कि भारत अर्थात इंडिया राज्यों का एक संघ होगा । भारत के राज्य क्षेत्र में -

1. राज्यों के राज्य क्षेत्र
2. संघ राज्य क्षेत्र और
3. ऐसे अन्य राज्य क्षेत्र जो अर्जित किये जायें ; यथा भारत में पांडिचेरी, कारिकल, माही और बनाम (फ्रांसीसी) और गोवा; दमण और दीव और दादरा तथा नागर हवेली (पुर्तगाली) जैसे फ्रांसीसी तथा पुर्तगाली अधिकृत क्षेत्र समाविष्ट होंगे; जो भारत में उनके विधितःअंतरण के बाद 1962 में 14वें, 12वें और 10वें संविधान संशोधन के द्वारा संघ में जोड़ दिये गये थे ।[a]

---

[a] अमर सिंह बनाम राजस्थान राज्य, ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 504;
मस्तान सिह बनाम मुख्य आयुक्त, ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 797;
हरिवंश बनाम महाराष्ट्र राज्य 1971 2 एस० सी० सी० 54.

राज्यों तथा संघ-राज्य क्षेत्रों के नाम तथा प्रत्येक के अन्तर्गत आने वाले राज्य क्षेत्रों का वर्णन प्रथम अनुसूची में किया गया है । उच्चतम् न्यायालय ने यह फैसला किया है कि किसी समय विशेष पर 'भारत का राज्य क्षेत्र' वह राज्य क्षेत्र है जो संविधान के अनुच्छेद 1 के अन्तर्गत प्रथम अनुसूची में निर्दिष्ट किया गया है ।[b]

संविधान सभा द्वारा अंगीकृत तथा संविधान में समाविष्ट प्रथम अनुसूची में राज्यों तथा राज्य क्षेत्रों की चार श्रेणियां यानी भाग क, ख, ग, घ, के राज्य क्षेत्रों का वर्णन किया गया था । भाग क में भूतपूर्व ब्रिटिश भारत के प्रान्त सम्मिलित थे । विधानमण्डल सहित 5 देशी रियासतों को भाग ख में रखा गया था । भाग ग में पॉच केन्द्रशासित राज्य सम्मिलित थे अण्डमान और निकोबार द्वीपों का उल्लेख भाग घ में किया गया था । संविधान लागू होने के बाद वर्षो के दौरान भारत के मानचित्र में काफी परिवर्तन हो गये । आन्ध्र अधिनियम 1953 द्वारा भाषाई आधार पर आन्ध्र के एक पृथक राज्य का सृजन किया गया । अंतत संविधान (सातवां संशोधन) अधिनियम 1956 के अधीन राज्यों के पुनर्गठन ने भाग क तथा भाग ख के राज्यों का अन्तर समाप्त कर दिया । तत्पश्चात अनेकों नये राज्यों का सृजन किया गया; जैसे- हरियाणा, हिमाचल प्रदेश, नागालैंड, मणिपुर, मिजोरम, अरूणाचल प्रदेश और गोवा आदि ।

भारत एक संघ है इस बात पर बल देने का प्रयोजन इस तथ्य को प्रकाश में लाना था कि यह संघटक इकाइयों के बीच सौदेबाजी या समझौते का परिणाम नही है बल्कि यह संविधान सभा की एक स्पष्ट घोषणा है जिसमें अपनी शक्ति तथा प्राधिकार भारत की प्रभुत्व सम्पन्न जनता से प्राप्त किया था इसलिये कोई भी राज्य संघ से अलग नही हो सकता और नही अपनी मर्जी से संविधान की प्रथम अनुसूची में निर्धारित अपने राज्य क्षेत्र में परिवर्तन कर सकता है । डॉ० अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था ।

अमरीकियों को यही सिद्ध करने के लिये गृहयुद्ध छेड़ना पड़ता था कि राज्यों को अलग होने का कोई अधिकार नही है तथा उनका फेडरेशन अविनाशी है । प्रारूपण

---

[b] अमर सिंह बनाम राजस्थान राज्य, ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 504;

मस्तान सिंह बनाम मुख्य आयुक्त; ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 797

समिति का विचार था कि इसे अटकलबाजी या विवाद के लिये छोड़ देने के बजाये बेहतर यही है कि इसे आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया जाये । हमारा देश फेडरेशन है कि नही-इस विषय पर काफी विचार विमर्श किया गया है ।

अनुच्छेद 2 में उपबन्ध किया गया है कि संसद विधि द्वारा ऐसे निबंधनों और शर्तो पर जो वही ठीक समझे, भारत संघ में नये राज्यों का प्रवेश या उनकी स्थापना कर सकेगी । 1974 तथा 1975 मे 35वे तथा 36वें संविधान संशोधनो द्वारा जिस नवीनतम राज्य को संघ में जोड़ा गया; वह था सिक्किम राज्य । ऐसा सिक्किम विधानसभा के अनुरोध पर और जनमत संग्रह के द्वारा सिक्किम के लोगों की स्वीकृति से किया गया ।

अनुच्छेद 3 के अधीन संसद को किसी राज्य मे से उसका राज्य क्षेत्र अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्य क्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नये राज्य का निर्माण करने की शक्ति प्राप्त है । वह किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा या घटा सकती है और वहॉ तक कि किसी राज्य की सीमाओं में या उसके नाम में परिवर्तन भी कर सकती है । इस प्रकार किसी राज्य की राज्य क्षेत्रीय अखण्डता अथवा उसके अस्तित्व के बने रहने की कोई गारंटी नही है । लेकिन इसके साथ ही यह निर्णय दिया गया है कि किसी राज्य के क्षेत्र को घटाने की संसद की शक्ति में भारतीय राज्य क्षेत्र को किसी विदेशी राज्य को समर्पित करने की शक्ति सम्मिलित नही है । बेरूबाड़ी के सम्बन्ध में संघ तथा बस्तियों का विनिमय,[c] अतः कहा जा सकता है कि भारत नाशवान राज्यों का अविनाशी संघ है ।

किन्तु राज्यों को अनुच्छेद 3 के अन्तर्गत उनके राज्य क्षेत्रों में परिवर्तन के सम्बन्ध में अपनी बात कहने का अधिकार है । उनके इस अधिकार की रक्षा के लिये संविधान में एक व्यावृत्ति खंड रखा गया है । पहली शर्त यही है कि इस प्रयोजन के लिये राष्ट्रपति की सिफारिश के बिना, संसद के किसी भी सदन में कोई विधेयक पेश नही किया जा सकता है । दूसरे, यदि विधेयक में शामिल प्रस्ताव किसी भी राज्य के क्षेत्र, उसकी सीमाओं या उसके नाम को प्रभावित करता हो तो वह विधेयक राष्ट्रपति द्वारा सम्बन्धित राज्य के विधानमण्डल के पास उस पर राय व्यक्त करने के लिये भेजा जाना चाहिए ।

[c] बेरूबाड़ी संघ, ए० आई० आर० 1950 एस० सी० 845, 857

इस प्रकार की राय राष्ट्रपति द्वारा सम्बन्धित राज्य के विधानमण्डल के पास उस पर राय व्यक्त करने के लिये भेजा जाना चाहिए । इस प्रकार की राय राष्ट्रपति द्वारा निर्दिष्ट अवधि के अंदर-अंदर व्यक्त की जानी चाहिए । बहरहाल राज्य विधानमण्डल द्वारा व्यक्त विचार राष्ट्रपति या संसद पर बाध्यकारी नहीं होते ।[d]

अनुच्छेद 4 में इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है कि अनुच्छेद 2 और 3 के अधीन नये राज्यों की स्थापना या उनके प्रवेश और विद्यमान राज्यों के नामों, क्षेत्रों और उनकी सीमाओं आदि में परिवर्तन के लिये बनाई गई विधियॉ अनुच्छेद 368 के अधीन संविधान के संशोधन नही मानी जायेगी ; अर्थात् इन्हे बिना किसी विशेष प्रक्रिया के तथा किसी भी अन्य साधारण विधान की तरह साधारण बहुमत द्वारा पारित किया जा सकता है ।

हलांकि संविधान में नये राज्य के अर्जन, नये राज्यों के प्रवेश तथा निर्माण आदि का उपबन्ध किया गया है; किन्तु इसमे भारतीय राज्य क्षेत्र को अलग करने या अंतरत करने का कोई उपबंध नही है ।

राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय की राय मांगे जाने पर उच्चतम न्यायालय ने बेरूबाड़ी संघ[e] के सम्बन्ध में राय व्यक्त की कि संविधान संशोधन के बिना कोई राज्य क्षेत्र दूसरे को नही सौंपा जा सकता । इसलिये बेरूबाड़ी राज्य क्षेत्र के भाग को पाकिस्तान को अन्तरित करने के लिये संविधान (नवॉ संशोधन) अधिनियम पारित किया गया था ।

भारत का परिसंघ पारम्परिक परिधि प्रणाली से भिन्न है क्योंकि इसमें संघ की संसद को यह शक्ति दी गई है कि वही इकाइयों के राज्यक्षेत्र व उनकी अखण्डता में अर्थात राज्यों में बिना उनकी सम्मति या सहमति के परिवर्तन कर दे । जहॉ परिसंघ प्रणाली स्वतन्त्र राज्यों के बीच संविदा या करार का परिणाम है वहॉ यह स्पष्ट है कि करार को उसके पत्रकारों की सम्मति के बिना बदला नहीं जा सकता इसी कारण अमेरिकी परिसंघ को "अविनाशी राज्यों का अविनाशी संघ" कहा गया है । अमेरिका की राष्ट्रीय

[d] बाबूलाल बनाम बंबई राज्य ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 51

[e] बेरूबाड़ी संघ ए० आई० आर० 1960, एस० सी०, 845
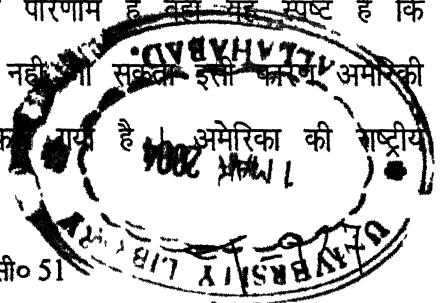
सरकार के लिये नये राज्यों की रचना करके या विद्यमान राज्यों की सीमाओं को उसके विधानमण्डल की सम्मति के बिना परिवर्तित करके अमेरिका का मानचित्र सम्भव नही है किन्तु भारत का मानचित्र स्वतन्त्र राज्यों के बीच प्रसंविदा का परिणाम नही है । इसलिये राज्यों के संविधान में लेखबद्ध प्रारम्भिक पुनर्गठन को बनाये रखने के लिये कोई विशेष कारण नही है । हमारे संविधान के निर्माताओं ने संघ की संसद को सादी प्रक्रिया से राज्यों का पुनर्गठन करने के लिये शक्ति दी है । संक्षेप में यह है कि प्रभावित राज्य अपना मत अभिव्यक्त कर सकते है किन्तु वे संसद की इच्छा का विरोध नही कर सकते ।

यह भारतीय परिसंघ का एक विशेष लक्षण है अर्थात यदि संघ की कार्यपालिका और विधानमण्डल चाहे तो परिसंघ की इकाइयों के राज्य क्षेत्र परिवर्तित या पुनः वितरित किये जा सकते हैं ।

भाषा के आधार पर प्रान्तों के निर्माण की मांग -

हमारे देश में स्वतंत्रता प्रप्ति के पूर्व भाषा के आधार पर प्रान्तों को दुबारा बनाने के लिये काफी मांग की गयी स्वतंत्रता के बाद भाषा के आधार पर प्रान्तों को दुबारा बनाने की मांग बहुत बल पकड़ गई क्योंकि स्वंय कांग्रेस 1920 के नागपुर प्रस्ताव के अनुसार ऐसा करने के लिये बचनबद्ध थी परन्तु फिर भी भारत सरकार ने स्वतन्त्रता के बाद तीन चार वर्ष तक लोगों की इस मांग की तरफ कोई विशेष ध्यान नही दिया क्योंकि कांग्रेस के कुछ बड़े नेताओं को यह भय उत्पन्न हो गया था कि इससे विघटनकारी प्रवृत्तियों को बल मिलेगा इसलिये नेहरू जी ने इस मांग को उत्साहित नही किया परन्तु मद्रास राज्य में आन्ध्र की स्थापना के लिये यह आन्दोलन तेज होता गया और वहाँ पर दंगे फैल गये । अन्त में परिस्थित से विवश होकर भारत सरकार को अक्टूबर, 1953 ई० में मद्रास के कुछ तेलगु भाषी भागों को काट-काट कर एक नये आन्ध्र राज्य की स्थापना करनी पड़ी ।

संघ प्रणाली ने भाषावार प्रान्तों के संगठन का सुझाव रखा ।सन् 1928 में दल सम्मेलन में सभी सम्पूर्ण राजनीतिक दलों ने नेहरू रिपोर्ट की सिफारिशों को मान लिया था कि भाषा के आधार पर प्रान्तों का संगठन होगा । आन्ध्र एक अलग प्रदेश बन गया ।

जिसमें मद्रास के तेलगू भाषा बोलने वाले भाग सम्मिलित हो गये । पंजाबी बोलने वाले पंजाबी प्रदेश तथा मराठी बोलने वाले मराठी प्रदेश तथा हैदराबाद के दो भाग किये जाने की मांग की गई । इसके अतिरिक्त यह भी मांग की गई कि समान भाषा बोलने वाले प्रान्त अन्य भाषा बोलने वाले प्रान्त से अलग होकर अपना एक प्रान्त बना लें आदि । यदि समान भाषा बोलने वाले नागरिक भाषा के आधार पर प्रान्तों का गठन करें तो भारत के अल्पमत वालों की समस्या भी सुलझ जायेगी क्योंकि समान भाषा बोलने वाले लोग केन्द्रीय सरकार की क्षत्रछाया में रहकर अपना कार्य सुचारू रूप से कर सकेंगे ।

डॉ० सुभाष कश्यप लिखते हैं कि "प्रश्न जो प्रायः उठाया जाता है वह है; केन्द्र और राज्यों के विगड़ते हुये सम्बन्ध का तेलंगाना आदि राज्यों की मांग का तथा संघात्मक व्यवस्था के भविष्य का । यहॉ भी हम एक भारी भ्रान्ति के शिकार है और वह यह है कि भारतीय संविधान संघात्मक है अथवा फेडरल क्या हम ऐसी संवैधानिक व्यवस्था को फेडरल कह सकते है जिस व्यवस्था के अन्तर्गत केन्द्रीय संसद जब चाहे राज्यों के नाम, सीमाएँ, आकार; क्षेत्र आदि बदल सकती हो और मानचित्र से किसी राज्य विशेष को पूर्णतया मिटा सकती हो, जब चाहे राज्यों की प्रतिनिधि सरकार को समाप्त कर सकती हो और किसी भी राज्य या राज्यों का शासन सीधे अपने हाथ में ले सकती हो" ।[17]

राज्य पुर्नगठन आयोग की नियुक्ति -

भाषा के आधार पर आन्ध्र की स्थापना से सारे देश में भाषा के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की मांग बहुत तेज हो गयी अतः दिसम्बर 1953 ई० में प्रधानमंत्री ने पार्लियामेंट में इस हेतु एक घोषणा की जिसमें कहा गया कि भारत सरकार राज्यों के बारे में पुनर्गठन के बारे में शीघ्र ही एक आयोग नियुक्त करेगी । हमारे प्रधानमंत्री ने इस घोषणा के बाद शीघ्र ही एक राज्य पुर्नगठन आयोग नियुक्त कर दिया । जिसके चेयरमैन फजल अली तथा सदस्य ह्रदय नाथ कुंजरू और सरदार पणिकर थे ।

आयोग समस्या की दशाओं का ऐतेहासिक पृष्ठभूमि, वर्तमान स्थिति और उन पर समस्त महत्वपूर्ण एवं प्रासंगिक तथ्यों के प्रभाव का अनुसंधान करेगा । ऐसे पुनर्गठन के

---

[17] कश्यप डॉ० सुभाष : दल बदल और राज्यों की राजनीति, 1970, पृष्ठ 409-410 नेशनल बुक ट्रस्ट आफ इंडिया ए-5 ग्रीन पार्क-नयी दिल्ली ।

सम्बन्ध में किसी भी प्रस्थापना पर विचार करने के लिये वह स्वतन्त्र होगा । सरकार आशा करती है कि आयोग ब्योरे मे न जाकर उन सिद्धान्तों के बारे में सिफारिश करेगा जिन पर इस समस्या का हल आधारित होना चहिए और यदि वही चाहे तो उन मोटी रेखाओं का भी निर्देश कर सकता है जिन पर विशिष्ट राज्यों का पुनर्गठन होना चाहिए, और सरकार के विचार के लिये अन्तरिम प्रतिवेदन भी दे सकता है ।

आयोग को अपना कार्य पूरा करने में लगभग 2 वर्ष लग गये । प्रतिवेदन 30 सितम्बर 1955 को पेश किया गया । अपने कार्य की 2 वर्ष की कालावधि में इसे हजारों ज्ञापन और कागजात विचार के लिये प्राप्त हुये, जीवन के सभी क्षेत्रों के हजारों व्यक्तियों से इसनें भेंट की; देशभर का दौरा किया, विवादग्रस्त क्षेत्रों से सम्बद्ध समस्याओ का विशेष रूप से अध्ययन किया और जनपद के सभी पहलुओं से परिचित होने का प्रयत्न किया । प्रतिवेदन के प्रकाशन ने देश में सार्वजनिक अशान्ति के अपूर्व दृश्य उपस्थित किये क्योंकि उसमें भारत के मानचित्र को प्रायः नए सिरे से खींचने की सिफारिश की गई थी । अब हम आयोग की कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें पर विचार करेंगे जिन्होने भारत में राज्य प्रणाली प्रभावित किया । योजना के अनुसार अंग्रेजों के जमाने में भारत का मानचित्र किसी युक्तियुक्त अथवा वैज्ञानिक योजना के आधार पर नही वरन् "सैनिक, राजनीतिक अथवा प्रशासनिक आवश्यकताओं या तत्कालिक सुविधाओं के अनुसार खींचा गया था"। यह स्थिति समाप्त की जानी थी और भारत का पुनर्गठन वैज्ञानिक आधार पर किया जाना था । यह वैज्ञानिक आधार क्या हो सकता था? आयोग ने इस प्रश्न का उत्तर इस प्रकार दिया । भारत में राज्यों का पुनर्गठन निम्नलिखित सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए था जो आयोग की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण थे ।

i. भारत की एकता और सुरक्षा का परिरक्षण और द्रठीकरण

ii. भाषायी एवं सांस्कृतिक समरसता ।

iii. वित्तीय; आर्थिक एवं प्रशासनिक विचार ।

iv. राष्ट्रीय योजना का सफलता पूर्वक कार्यान्वय ।

इनके अतिरिक्त आयोग के विचार में, कुछ और सिद्धान्त थे; जो यद्यपि इतने महत्वपूर्ण तो नही थे जितने की उपरोक्त में से कोई, फिर भी वे इस योग्य थे कि उपरोक्त सिद्धान्तों के साथ-साथ उन पर भी ध्यान रखा जाये ।

i. जनता की इच्छा- जिस हद तक वह तटस्थता से मालूम की जा सके और व्यापक राष्ट्रीय हितों के विरूद्ध न पड़े ।

ii. एक सामान्य ऐतेहासिक परम्परा जो भाईचारा और एकता की भावना जगाती है।

iii. इकाइयों की भौगोलिक समीपता ।

iv. प्रशासनिक विचार ।

आयोग ने यह भी कहा कि इन सब सिद्धान्तों के बावजूद प्रत्येक मामले में समस्त परिस्थितियों को ध्यान में रखना चाहिए न कि किसी एक विशेष सिद्धान्त को ।

"पुनर्गठन की समस्यायें प्रत्येक क्षेत्र के लिये अलग-अलग है । यह बात ध्यान में रखने की है कि सदियों तक ऐतिहासिक; भाषायी, भौगोलिक, आर्थिक एवं अन्य तत्वों की परस्पर प्रतिक्रिया ने विभिन्न क्षेत्रों में अनोखे प्रतिरूप उपस्थित कर दिये हैं । इसलिये प्रत्येक की अपनी अलग पृष्ठभूमि है । इसके अलावा पुनर्गठन की समस्यायें इतनी जटिल हैं कि किसी एक ही कसौटी से किसी स्थिति का हल निर्धारित करना अवास्तविक होगा ।

आयोग की सिफारिशों के अनुसार भारतीय संघ की संघटक इकाइयों की मूल संरचना के सम्बन्ध मे सबसे महत्वपूर्ण सिफारिश राज्यों के तत्कालीन वर्गीकरण, जिसके अन्तर्गत राज्यों को तीन कोटियों भाग 'क' भाग 'ख' और भाग 'ग' में विभाजित किया गया था, के उन्मूलन की थी । इसके स्वाभाविक परिणाम स्वरूप उसने राजप्रमुखों की प्रणाली का अन्त करने की भी सिफारिश की । किन्तु वह प्रत्येक भाग 'ग' राज्य को पूर्ण राज्य के दर्जे तक उठाने की इच्छुक नही थी । इसलिये उसने दो प्रकार के क्षेत्रों को रखने का सुझाव दिया :

i. भारतीय संघ कि प्राथमिक संघटक इकाइयॉ जिनका समान दर्जा और केन्द्र के साथ जिनके सम्बन्ध एक जैसे हो और,

ii. केन्द्र प्रशासित क्षेत्र जिनकी रचना सामरिक, सुरक्षा अथवा अन्य अनिवार्य कारणों से आवश्यक है ।

अक्टूबर 1955 ई० में इस आयोग ने अपना एक विस्तृत प्रतिवेदन दिया । संक्षेप में राज्य पुनर्गठन आयोग ने 16 राज्यों की सिफारिश की कि भारतीय संघ की संघटक इकाइयों में निम्नलिखित राज्य होने चाहिए -

i. पंजाब (जिसमें हिमांचल प्रदेश और पंजाब को शामिल कर दिया गया था)

ii. उत्तर प्रदेश

iii. बिहार

iv. बंगाल

v. असम

vi. उड़ीसा

vii. आन्ध्र

viii. तमिलनाडु

ix. कर्नाटक

x. केरल

xi. हैदराबाद

xii. बम्बई

xiii. विदर्भ

xiv. मध्य प्रदेश

xv. राजस्थान

xvi. जम्मू तथा कश्मीर

इन 16 राज्यों के अतिरिक्त कमीशन ने तीन केन्द्रीत क्षेत्रों की भी सिफारिश की

i. दिल्ली

ii. मणिपुर

iii. अण्डमान तथा निकोबार द्वीप

कमीशन ने राजप्रमुखों के पद को भी खत्म करने की सिफारिश की । आयोग के प्रतिवेदन ने देश के इस छोर से उस छोर तक सबसे बड़ा और अत्यन्त तीव्र विवाद उत्पन्न कर दिया । जिन क्षेत्रों पर प्रतिवेदनों का विपरीत प्रभाव पड़ता था उन्होने आन्दोलन आरम्भ कर दिया ।भाषायी उत्तेजनायें और प्रादेशिक एवं स्थानीय द्वेषभाव चरम सीमा पर पहुँच गये । कुछ समय तक ऐसा प्रतीत हुआ मानों भारत अम्बद्ध टुकड़ों में विखर गया हो और दीर्घ एवं कठिन संघर्ष के बाद हाल में ही जो एकता और स्वतन्त्रता

उपबन्ध हुई थी वे क्षण भर में ही नष्ट हो गयी हो किन्तु अन्त में शान्ति प्रेमी एवं एकता की प्रवृत्ति रखने वाले विशाल जनसमुदाय को सद्‌बुद्धि और देशभक्ति का ही बोलबाला रहा परिणाम रहा राज्यपुर्नगठन अधिनियम 1956 और संविधान के सातवें संशोधन का कारण । परन्तु संसद ने पुनर्गठन करते समय अयोग की सिफारिशों में काफी संशोधन कर दिए । फिर भी आयोग की यह महत्वपूर्ण सिफारिशें कार्यान्वित की गई कि संघ में केवल एक प्रकार के राज्य और क्षेत्र होने चाहिए ।

राज्यपुर्नगठन अधिनियग जुलाई 1956 -

राज्य पुनर्गठन आयोग ने अलग महाराष्ट्र और गुजरात की मांगों को स्वीकार नही किया था । उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, असम इत्यादि की सीमाओं में परिवर्तन का कोई सुझाव स्वीकार नही किया था कमीशन की रिपोर्ट के बाद बम्बई राज्य में बहुत झगड़े फैले महाराष्ट्र के लोग अलग महाराष्ट्र और गुजरात के लोग सौराष्ट्र को गुजरात में मिलाकर महागुजरात की मांग करने लगे । तत्कालीन केन्द्रीय वित्तमंत्री देशमुख ने अपना त्यागपत्र दे दिया क्योंकि वे नेहरू से अलग महाराष्ट्र की मांग स्वीकार न कर सके । संसद ने जुलाई 1956 ई० में एक राज्यपुनर्गठन अधिनियम पास कर दिया । इसके अनुसार पंजाब में पेप्सू को मिला दिया गया परन्तु हिमांचल प्रदेश को केन्द्रीय क्षेत्र बना दिया गया । हैदराबाद के कुछ भाग को मैसूर में और तेलंगाना को आन्ध्र में मिला दिया गया कमीशन की सिफारिशों के अनुसार मध्यप्रदेश और केरल राज्य बना दिये गये।

भोपाल को मध्यप्रदेश में और अजमेर को राजस्थान में मिला दिया गया । राजप्रमुखों का पद और क, ख, ग तथा घ श्रेणी के राज्यों का अन्तर समाप्त कर दिया गया बिहार के कुछ जिले बंगाल में मिला दिये गये । इस एक्ट के अनुसार भारत में निम्नलिखित 14 राज्य स्थापित किये गये -

1. जम्मू तथा कश्मीर
2. पंजाब
3. उत्तर प्रदेश
4. बिहार
5. बंगाल

6. असम
7. उड़ीसा
8. आन्ध्र
9. तमिलनाडु
10. केरल
11. मैसूर
12. बम्बई
13. मध्य प्रदेश
14. राजस्थान ।

इसके अतिरिक्त निम्नलिखित केन्द्रीय क्षेत्र बनाये गये -

1. हिमांचल प्रदेश
2. दिल्ली
3. मणिपुर
4. त्रिपुरा
5. अण्डमान तथा निकोबार द्वीप
6. लंकादीव तथा मिनिकोय द्वीप ।

राज्य पुनर्गठन अधिनियम की एक महत्वपूर्ण विशेषता उसमें अंचलों और अंचलीय परिषदों की रचना का उपबन्ध है । इसके अनुसार भारत में पाँच अंचल होंगे । प्रत्येक अंचल की एक अंचलीय परिषद होगी । 5 अंचल इस प्रकार होंगे ·

i. उत्तरी अंचल में पंजाब, राजस्थान, जम्मू एवं कश्मीर के राज्यों तथा दिल्ली और हिमांचल प्रदेश के क्षेत्रों से मिलकर बनेगा ।
ii. केन्द्रीय अंचल में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश के राज्य होंगे ।
iii. पूर्वी अंचल में बिहार, पश्चिमी बंगाल, उड़ीसा और असम के राज्य तथा त्रिपुरा और मणिपुर के क्षेत्र होंगे।
iv. पश्चिमी अंचल में बम्बई और मैसूर के राज्य होंगे ।
v. दक्षिणी अंचल में आन्ध्रप्रदेश, मद्रास और केरल के राज्य होंगे ।

प्रत्येक अंचल परिषद निम्नलिखित से मिलकर बनेगी -

i. राष्ट्रपति द्वारा नाम निर्देशित एक केन्द्रीय मंत्री ।

ii. प्रत्येक राज्य का मुख्यमंत्री ।

iii. प्रत्येक राज्य से दो मंत्री जिन्हे राज्य का प्रधान (राज्यपाल अथवा सदरे रियासत) नाम निर्देशित करेगा ।

iv. प्रत्येक क्षेत्र से दो सदस्य जिन्हे राष्ट्रपति नाम निर्देशित करेगा ।

पूर्वी अंचल के सम्बन्ध में यह विशेष उपबन्ध है कि परिषद में वह व्यक्ति भी सम्मिलित होगा जो उस समय अनुसूचित क्षेत्रो के लिये असम के राज्यपाल का परामर्शदाता का पद धारण किये हुये हों ।

परिषद का सभापति केन्द्रीय मंत्री होगा । प्रत्येक अंचल में सम्मिलित राज्य के मुख्यमंत्री बारी-बारी से उप सभापति के रूप में कार्य करेंगे । इनमें से प्रत्येक एक बार केवल एक वर्ष के लिये यह पद धारण करेंगे ।

परिषद के कार्यों में सहायता देने के लिये निम्नलिखित परामर्शदाता का भी उपबन्ध था -

i. योजना आयोग द्वारा नामनिर्देशित एक व्यक्ति ।

ii. अंचल में सम्मिलित प्रत्येक राज्य की सरकार का एक मुख्य सचिव ।

iii. अंचल में सम्मिलित प्रत्येक राज्य सरकार का विकास आयुक्त अथवा उस सरकार द्वारा नामनिर्देशित कोई अन्य अधिकारी ।

प्रत्येक परामर्शदाता को परिषद की चर्चा में भाग लेने और उसकी किसी बैठक में अथवा उसकी किसी समिति में, जिनके लिये नाम निर्देशित किया जाय, मत देने का अधिकार है ।

परिषदों की बैठके नियमित रूप से परिषद के सभापति की अधिसूचना पर होंगी और केन्द्रीय सरकार की सहमति से निर्धारित कार्य-विधि के अनुसार अपना कार्य संचालन करेंगी । परिषद की बैठकें बारी-बारी से प्रत्येक राज्य में होंगी । परिषद में विचार किये जाने वाले सभी प्रश्नों पर निश्चय बहुमत से होगा और परिषद की कार्यवाही केन्द्रीय सरकार तथा प्रत्येक सम्बद्ध राज्य सरकार के पास भेज दी जायेगी ।

अंचलीय परिषदों को यह शक्ति भी प्राप्त है कि अपने द्वार स्वीकृत किसी संकल्प में निर्दिष्ट कृत्यों के निर्वहन के लिये वे अपने सदस्यों तथा परामर्शदाताओं की समितियाँ

नियुक्त कर सकें । पत्येक परिषद के लिये एक सचिवालय के कर्मचारी मण्डल की व्यवस्था भी है ।

परिषद के कृत्य -

परिषद एक परामर्शदात्री निकाय है और वह किसी भी ऐसे विषय पर विचार कर सकती है जिसमें एक या एक से अधिक राज्यों अथवा केन्द्र का सामान्य हित हो और ऐसे मामले में क्या कार्यवाही की जाये इस बारे में वह केन्द्रीय तथा राज्य सरकारों को परामर्श देती है । परिषदें विशेअतः निम्नलिखित विषयों पर विचार और सिफारिश कर सकती है।

i. आर्थिक एवं सामाजिक आयोजन के क्षेत्र में सामान्य हित का कोई विषय ।

ii. सीमावर्ती विवादों, भाषायी अल्पसंख्यकों अथवा अन्तर्राज्यीय परिवहन से सम्बद्ध अथवा उससे उत्पन्न कोई विषय ।

इन सब उपबन्धों के अतिरिक्त एक विशेष उपबन्ध यह भी है कि अंचलीय परिषदों की संयुक्त बैठकें हो सकती है । यदि कोई ऐसा मामला हो जिस पर एक अंचलीय परिषद में शामिल एक या अधिक राज्य किसी दूसरी अंचलीय परिषद से विचार विमर्श करना चाहते हों तो यह एक संयुक्त बैठक बुलाकर किया जा सकता है ।

अंचलों और अंचलीय परिषदों की रचना भारतीय संविधान के अन्तर्गत अपनाया गया एक मौलिक उपाय है । जिसके द्वारा विभिन्न राज्यों के भाषायी, सांस्कृतिक, एवं अन्य हितों से उत्पन्न पारस्परिक वैमनस्य और संकीर्ण दृष्टिकोण को काफी हद तक दूर किया जा सकता है । इसके अतिरिक्त वे विकास के लिये बेहतर एवं अधिक एकीकृत आयोजन को सुविधाजनक बनायेंगे । सामान्य समस्याओं को हल करने के सामान्य प्रयत्न के जरिए वे एकता की भावनायें भी लायेंगे । राष्ट्र जो भारत की एकता का प्रतीक है; अंचलीय परिषदें उन्हें जोड़ने वाली श्रृंखलाओं की तरह है जो एक ओर तो देश की एकता और शक्ति में योग देती है तो दूसरी ओर एकीकृत क्षेत्रीय आयोजन और विकास को सुविधाजनक बनाती है ।

महाराष्ट्र और गुजरात के नये राज्यों की स्थापना -

राज्य पुनर्गठन के बाद महाराष्ट्र में महाराष्ट्र समिति द्वारा और गुजरात में महागुजरात समिति द्वारा अलग महाराष्ट्र और गुजरात की स्थापना के लिये पूरे जोरो से आन्दोलन जारी रहा । 1951 के चुनावों में इन दोनो समितियों ने कुछ स्थान बम्बई विधान मण्डल में भी प्राप्त कर लिये और बाद में सरकार के सामने मिलकर अलग महाराष्ट्र और महागुजरात की स्थापना के लिये मांग रखी । 1 मई 1960 ई० को विवश होकर भारत सरकार ने बम्बई राज्य का बंटवारा करके महाराष्ट्र ओर गुजरात नामक दो नये राज्यों की स्थापना कर दी ।

भारत में फ्रांसीसी उपनिवेशों की मुक्ति -

1947 ई० में अंग्रेजी शासन से भारत को मुक्ति प्राप्त हो गयी थी । परन्तु भारत के पूर्व और पश्चिम तट पर कुछ फ्रांसीसी बस्तियॉ और पुर्तगाली बस्तियॉ रह गई थी भारत सरकार ने इस हेतु फ्रांस और पुर्तगाल की सरकारों से वार्ता की । पहली नवम्बर 1954 ई० को फ्रांस की सरकार ने अपनी सब बस्तियॉ (पाण्डिचारी, यनाम, माही, चन्द्रनगर, और कैरीकल) भारत सरकार को सौंप दी 28 मई 1956 ई० को इस हेतु भारत सरकार और फ्रांसीसी सरकार मे एक सन्धि भी हो गई । इन सब बस्तियों का शासन केन्द्रीय सरकार एक मुख्य आयुक्त द्वारा चलाती है । पाण्डिचेरी के मुख्य आयुक्त को सलाह देने के लिये 6 सदस्यों की एक परामर्शदात्री परिषद और 39 सदस्यों की एक विधान सभा भी भारत सरकार द्वारा कायम कर दी गई है ।

गोवा दमण और द्वीप को भारत में शामिल करने के लिये संविधान का बारहवाँ संशोधन -

भारत सरकार ने 18 दिसम्बर 1961 ई० को गोवा, द्वीप और दमन की मुक्ति के लिये पुर्तगालियों के विरूद्ध कार्यवाही की और केवल दो दिन में ही वहाँ पर अपना पूर्ण अधिकार कर लिया । इसके बाद 20 दिसम्बर 1961 ई० से भारत सरकार ने वहाँ का शासन संभाल लिया था परन्तु वह प्रदेश संवैधानिक दृष्टि से भारत सरकार का अंग नही हो पाया था । अतः इस हेतु प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू ने 12 मार्च 1962 ई० को लोकसभा में विधेयक प्रस्तुत किया । इन विधेयकों को पार्लियामेंट ने निर्विरोध पास कर

दिया । इसके द्वारा संविधान में बारहवॅा संशोधन हुआ । इस संशोधन द्वारा संविधान के अनुच्छेद 240 को संशोधित किया गया और गोवा द्वीप तथा दमन को प्रथम परिशिष्ट में शामिल करके भारत का अभिन्न अंग बना दिया गया । इन प्रदेशों को केन्द्रीय क्षेत्र बनाया गया और लोकसभा में इनको दो स्थान दिये गये । बम्बई हाईकोर्ट का क्षेत्राधिकार गोवा, द्वीप और दमन पर बढ़ा दिया गया ।

भारत के संविधान का तेरहवॅा संशोधन तथा नागालैण्ड की स्थापना -

श्री जवाहर लाल नेहरू ने लोकसभा में दो विधेयक प्रस्तुत किये दोनो का उद्देश्य भारत में नागालैंड नाम से 16 वें राज्य की औपचारिक स्थापना था । इन दोनो विधेयकों में एक संविधान में तेरहवॅा संशोधन विधेयक भी है ।

नागालैण्ड की स्थापना सम्मेलन के प्रतिनिधियों के साथ जुलाई 1960 में हुये समझौते के अनुसार की गयी विधेयक में नागा पहाड़ी क्षेत्र तथा तुएन्सांग क्षेत्र को मिलाकर नागालैण्ड स्थापित करने का प्रस्ताव था । तब तक वैधानिक दृष्टि से वह क्षेत्र असम राज्य का अंग था ।

विधेयक के अनुसार नागालैण्ड का राज्य सभा और लोकसभा में एक प्रतिनिधि था । विधेयक में कहा गया था कि नया चुनाव होने तक यह प्रतिनिधि बना रहेगा । समस्त नागालैण्ड को एक क्षेत्र मानकर लोकसभा के सदस्य का चुनाव होगा ।

फरवरी 1977 में नागालैण्ड विधानसभा के सदस्यों की संख्या 52 थी तथा असम और नागालैण्ड का उच्च न्यायालय एक ही था ।

फ्रांसीसी बस्तियों का भारत में मिलन और संविधान का चौदहवॉं संशोधन

दिल्ली को छोड़कर अन्य समस्त केन्द्र प्रशासित प्रदेशों में लोकतंन्त्रीय प्रशासन की स्थापना के लिये संविधान में चौदहवॉं संशोधन विधेयक पार्लियामेंट ने स्वीकार कर लिया । विधेयक का उद्देश्य केन्द्र प्रशासित प्रदेशों में पाण्डिचेरी का समावेश करना था । इसके अतिरिक्त विधेयक द्वारा केन्द्र प्रशासित क्षेत्र हिमांचल प्रदेश; मणिपुर, त्रिपुरा, गोवा, दमन और द्वीप तथा पाण्डिचेरी में विधानसभायें तथा मंत्रिमण्डल की व्यवस्था करने के लिये कानून बनाने का अधिकार संसद को दिया । इस विधेयक में दिल्ली का समावेश नही था।

16 अगस्त 1962 ई० को फ्रैंच पार्लियामेंट में उस सन्धि का समर्थन कर दिया जिसके अनुसार फ्रेंच सरकार ने भारत में अपनी बस्तियाँ पाण्डिचेरी केरीकल, यनाम और माही कुछ वर्ष पूर्व भारत सरकार को दे दी थी । जब 4 सितम्बर 1962 ई० को लोकसभा में भारतीय संविधान का चौदहवाँ संशोधन पारित हुआ तो उसमें भूतपूर्व पुरानी बस्तियों को कानूनी रूप में भारत में मिला लिया गया और इन सब बस्तियों का नाम पाण्डिचेरी क्षेत्र रखा गया । इस संशोधन के अनुसार केन्द्र प्रशासित क्षेत्र का प्रतिनिधित्व लोकसभा मे 20 के बजाय 25 कर दिया गया । और पाण्डिचेरी को एक स्थान लोकसभा में और एक स्थान राज्य सभा में दे दिया गया । गोवा और पाण्डिचेरी में शासन का वही स्वरूप निश्चित किया गया जो अन्य केन्द्र शासित क्षेत्रों में था ।

हरियाणा की स्थापना -

1 नवम्बर 1966 को पंजाब का बंटवारा हुआ और हिन्दी भाषी क्षेत्र हरियाणा में शामिल कर दिये गये । पंजाब के कुछ पहाड़ी क्षेत्र हिमांचल को दे दिये गये शेष पंजाबी भाषी क्षेत्र पंजाब मे रह गये ।

हिमांचल प्रदेश, त्रिपुरा, मणिपुर और मेघालय को पूर्ण राज्य का दर्जा -

25 जनवरी 1971 को शिवालिक की पहाड़ियों से चारों ओर घिरे हुये इस पर्वतीय राज्य हिमाचल प्रदेश को तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गॉधी ने एक भव्य समारोह में पूरे राज्य का दर्जा प्रदान किया । पहले यह केन्द्र शासित क्षेत्र था ।

20 जनवरी 1972 को मेघालय तथा 21 जनवरी, 1972 को मणिपुर तथा त्रिपुरा को पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त हो गया ।

सिक्किम का भारत में विलय; सिक्किम भारत का बाइसवाँ राज्य बना -

सिक्किम के भारत का पूर्ण राज्य बनाने विषयक संविधान विधेयक 23 अप्रैल 1975 को लोकसभा में भारी बहुमत से पास हो गया । विधेयक के पक्ष में 299 और विपक्ष में 11 मत पड़े । तत्कालीन विदेशमंत्री श्री चाव्हाण ने जो सदन में विधेयक का संचालन कर रहे थे कहा कि इस संशोधन के माध्यम से सिक्किम के एक नये राज्य का उदय हो रहा है । चोग्याल का पद समाप्त हो गया है और सिक्किम भारतीय संघ का उतना ही महत्वपूर्ण और बराबरी का राज्य बन रहा है जैसे कि उत्तर प्रदेश, आन्ध्र प्रदेश

या मेघालय । मार्क्सवादी पार्टी को छोड़कर और सभी दलों ने विधेयक का पूरा समर्थन किया । 16 मई 1975 को ही श्री बी० वी० लाल को सिक्किम का पहला राज्यपाल नियुक्त किया गया । राज्यपाल ने अपने पद की शपथ लेने के बाद काजी कन्दुप दोरजी को मुख्य मंत्री पद की शपथ दिलाई ।

भारतीय गणराज्य में सन् 1947 तक इक्कीस राज्य थे; सिक्किम एक स्वतन्त्र देश था जिसमें किंग होता था उसे चोग्याल कहते थे वहॉ पर काजी लैण्डोप डोगी (Kazi Lendup Dorgi) के नेतृत्व में सिक्किम कांग्रेस बनी जो चोग्याल के शासन का विरोध करने लगी और सिक्किम को भारतीय गणराज्य मे शामिल करने पर बल देने लगी डोगी के आन्दोलन ने सफलता पायी और भारत में सिक्किम को शामिल करने के लिये निर्णय लिया इस सम्बन्ध में संविधान का पैतिसवॉ संशोधन 1975 में भारतीय संसद द्वारा पारित किया गया और सिक्किम भारत का एसोसिएट स्टेट भी स्थापित हुआ । इसके कुछ समय बाद भारतीय संसद में संविधान का छत्तीसवॉं संशोधन अधिनियम सन् 1975 दिनॉंक 26 अप्रैल सन् 1975 को पारित किया । जिसकी धारा-2 के अन्तर्गत सिक्किम भारतीय गणराज्य का पूर्ण राज्य बन गया और भारत में राज्यों की संख्या बाइस हो गयी ।

मिजोरम, अरूणांचल प्रदेश, गोवा दमन और द्वीप संघ राज्य क्षेत्र थे और इनमें उपराज्यपाल मुख्यमंत्री तथा मंत्रिमण्डल होता था । ये तीनो केन्द्र के सीधे शासन के अन्तर्गत होते थे और इनका स्तर राज्य के स्तर से कम होता था । मिजोरम और अरूणांचल प्रदेश भारत के पूर्वी भाग में थे और यहॉ के लोग भारत में विलय से सन्तुष्ट नही थे । मिजोरम में मिजो नेशनल फ्रन्ट बना था जिसके नेता लाल डिगा थे वे मिजोरम के लिये पूर्ण स्वतन्त्रता चाहते थे और भारत से अलग होना चाहते थे । यही हाल अरूणांचल प्रदेश का भी था भारत की सरकार इन आन्दोलनों को बलपूर्वक नियंत्रित करना चाहती थी परन्तु वह सफल नही हो सकी ।

प्रधानमंत्री श्री राजीव गॉधी ने यह समझा कि इन राज्यों कि समस्या बलपूर्वक समाधान नही हो सकती इनके लिये राजनीतिक हल ढूढ़ना पड़ेगा उन्होने मिजोरम के मिजो नेशनल फ्रंन्ट के नेता लाल डिगा से वार्ता प्रारम्भ की । लाल डिगा अपनी विरोधी गति विधियॉ समाप्त करने को तैयार हो गये उन्होने मिजोरम को पूर्ण राज्य बनाने की मांग

रखी जिसे प्रधानमंत्री राजीव गॉधी ने स्वीकार किया तथा लाल डिंगा को मुख्यमंत्री बनाने पर सहमत हो गये । कांग्रेस पार्टी से सम्बन्धित मुख्यमंत्री लाल थन हौला तथा उनके मंत्रिमण्डल ने त्यागपत्र दिया । लाल डिगा मुख्यमंत्री बने और उन्होने मंत्रिमण्डल बनाया ।

इसी प्रकार प्रधानमंत्री राजीव गॉधी ने अरूणांचल प्रदेश के नेताओ से भी वार्ता व समझौता किया और उसे ही पूर्ण राज्य का दर्जा देने पर सहमत हुये ।

भारतीय संसद में मिजोरम राज्य अधिनियम 1986 (1986 का चौतिसवाँ संशोधन दिनाँक 20-02-1987 को पारित किया जिसके धारा-4 के अन्तर्गत मिजोरम को पूर्ण राज्य बनाया गया और भारत का तेइसवॉ राज्य हो गया ।

भारतीय संसद में अरूणांचल प्रदेश राज्य अधिनियम 1986 (1986 का उन्हत्तरवाँ संशोधन दिनाँक 20-02-1987) को पारित किया जिसके धारा-4 के अन्तर्गत अरूणांचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया गया और वह भारत का चौबिसवाँ राज्य हो गया । इस प्रकार दोनों राज्य संघ राज्य क्षेत्र से हटा कर पूर्ण राज्य बने ।

प्रधानमंत्री राजीव गॉधी के शासन काल मे गोवा दमन और द्वीप को पूर्ण राज्य बनाने की मांग उठी । यहाँ इतना और बताना उचित होगा कि ये तीनों राज्य फ्रांस के शासन के अन्तर्गत थे और भारत में सैनिक कार्यवाही से इन्हे भारत में मिलाया था और उन्हे संघ राज्य क्षेत्र में रखा था ।

प्रधानमंत्री राजीव गॉधी ने गोवा की मांग को उचित समझा और भारतीय संसद में गोवा दमन और दीव पुनर्गठन अधिनियम सन् 1987 (1987 का अठ्ठाइसहवाँ संशोधन दिनाँक 30-05-87 को पारित हुआ) जिसकी धारा-5 के अन्तर्गत गोवा को पूर्ण राज्य बनाया गया और दमन दीव को पूर्ववत् संघ राज्य क्षेत्र में रखा गया ।

गोवा को भारत का पच्चीसवाँ राज्य बनाया गया

दिल्ली को भी जो संघ राज्य क्षेत्र में था पूर्ण राज्य बनाने की मांग उठी प्रधानमंत्री पी० वी० नरसिंहाराव ने उसे कुछ हद तक माना । भारतीय संसद ने नेशनल केपिटल टेरिटरी अधिनियम पारित किया और वहाँ भी मुख्यमंत्री तथा मंत्रिमण्डल की स्थापना हुई । वहाँ के कानून व्यवस्था की जिम्मेदारी आज भी केन्द्रीय सरकार की है ।और वहाँ पर

उपराज्यपाल (Lt. Governor) पूर्व की भॉति होता है । इस प्रकार दिल्ली पूर्ण राज्य नही बन सका और वह संघ राज्य क्षेत्र में पूर्व की भंाति है ।

केन्द्रीय सरकार को राज्यों के पुर्नठन की जो शक्ति दी गई है उसका कारण यह है कि भारत शासन अधिनियम के अधीन प्रान्तों की बनावट ऐतेहासिक और राजनीतिक कारणों पर आधारित थी । उसका आधार लोगों का सामाजिक सांस्कृतिक या भाषाई विभाजन नही था । प्राकृतिक लक्षणों के अनुसार इकाइयों के पुर्नगठन का प्रश्न संविधान बनाते समय उठाया गया था किन्तु उस समय इस विशाल कार्य को करने के लिये पर्याप्त समय नही था । यह समस्या भी कोई छोटी नही थी । इससे सम्बन्धित उपबन्ध संविधान के अनुच्छेद 3 और 4 में है ।

पिछले चार दशकों से अधिक अवधि के दौरान जिस आसानी के साथ भारत के मानचित्र को नया रूप दिया गया है वह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि संविधान में एक अनूठी सुनम्यता तथा लोच है और यह अनुच्छेद 2 और 3 तथा 4 की आवश्यकता तथा उनके औचित्य की पुष्टि करता है । दूसरी ओर भाषाई आधार पर राज्यों के पुनर्गठन की बुद्धिमत्ता अथवा अबुद्धिमत्ता के सम्बन्ध में कड़े विचार व्यक्त किये गये । इसके अलावा राज्यों और पुनर्गठन करने की मांगों का एक कभी न खत्म होने वाला सिलसिला बन गया है और कुछ लोग इस पक्ष में हैं कि राज्य छोटे आकार के तथा और अधिक संख्या में होने चाहिए ।

संविधान के प्रारम्भ से पूर्वगामी शक्ति का प्रयोग संसद द्वारा निम्नलिखित अधिनियमों को बनाने के लिये किया गया है ।

1 - असम (सीमा परिवर्तन) अधिनियम, 1951 इसके द्वारा भारत के राज्य क्षेत्र से एक पट्‌ टी भूटान को अध्यर्पित करके असम की सीमा में परिवर्तन किया गया है ।

2 - आंध्र राज्य अधिनियम; 1953 के द्वारा संविधान के प्रारम्भ के समय विद्यमान मद्रास राज्य कुछ राज्यक्षेत्र निकाल कर आन्ध्र नामक नया राज्य बनाया गया ।

3 - हिमांचल प्रदेश और बिलासपुर (नया राज्य) अधिनियम 1954 से हिमांचल प्रदेश और बिलासपुर; इन दो भाग ग राज्यों का विलय करके एक राज्य अर्थात् हिमांचल प्रदेश बनाया गया ।

4 - बिहार और पश्चिमी बंगाल (राज्यक्षेत्र अन्तरण) अधिनियम 1956 के द्वारा कुछ राज्यक्षेत्र बिहार से पश्चिमी बंगाल को अन्तरित किये गये ।

5 - राज्य पुनर्गठन अधिनियम : 1956 से भारत के विभिन्न राज्यों की सीमाओं में स्थानीय और भाषाई मांगों को पूरा करने के लिये परिवर्तन किया गया । विद्यमान राज्यों के बीच कुछ राज्यक्षेत्र को अन्तरित किया गया । इसके अतिरिक्त एक नया केरल राज्य बनाया गया और मध्य भारत, पेप्सू; सौराष्ट्र, ट्रावनकोर, कोचीन, अजमेर, भोपाल, कोड़गू, कच्छ और विंध्य प्रदेश की रियासतों का उससे लगे हुये राज्यों में विलय कर दिया गया ।

6 - राजस्थान और मध्यप्रदेश (राज्यक्षेत्र अन्तरण) अधिनियम ; 1959 द्वारा राजस्थान राज्य से कुछ राज्यक्षेत्र मध्यप्रदेश को अन्तरित किये गये ।

7 - आन्ध्र प्रदेश और मद्रास (सीमा परिवर्तन) अधिनियम 1959 द्वारा आंध्र प्रदेश और मद्रास राज्यों की सीमाओं में परिवर्तन किये गये ।

8 - मुम्बई पुनर्गठन अधिनियम 1960 द्वारा मुम्बई राज्य को विभाजित करके गुजरात का नया राज्य बनाया गया और मुम्बई के बचे हुये राज्य को महाराष्ट्र नाम दिया गया ।

9 - अर्जित राज्यक्षेत्र (विलयन) अधिनियम, 1960 से भारत और पाकिस्तान के बीच 1958-1959 में किये गये करार द्वारा अर्जित कुछ राज्यक्षेत्रों का असम, पंजाब और पश्चिमी बंगाल राज्यों में विलय के लिये उपबन्ध किया गया ।

पश्चिमी बंगाल और असम के कुछ राज्यक्षेत्रों का पूर्वोक्ति करार के अधीन पाकिस्तान को अन्तरण करने के लिये संविधान (9वॉ संशोधन) अधिनियम 1960 अधिनियनित किया गया, क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने यह परामर्श दिया था कि "संविधान का संशोधन किए बिना किसी विदेशी राज्य को भारत का कोई राज्यक्षेत्र अध्यर्पित नही किया जा सकता " ।

10 - नागालैण्ड राज्य अधिनियम, 1962 के द्वारा नागालैंण्ड राज्य की रचना की गई जिसमें "नागा पहाड़ी और त्युएनसांग क्षेत्र" का राज्यक्षेत्र समाविष्ट किया गया ।

पहले यह संविधान की छठी अनुसूची में उल्लिखित जनजाति क्षेत्र था जो असम राज्य का भाग था ।

11 - पंजाब पुनर्गठन अधिनियम, 1966 जिसके द्वारा पंजाब राज्य को पंजाब और हरियाणा राज्यों में और चंडीगढ़ के संघ राज्यक्षेत्रों में बांटा गया ।

12 - आन्ध्र प्रदेश और मैसूर (राज्यक्षेत्र अन्तरण) अधिनियम 1968

13 - बिहार और उत्तर प्रदेश (सीमा परिवर्तन) अधिनियम 1968

14 - असम पुनर्गठन (मेघालय) अधिनियम; 1969 द्वारा असम राज्य के भीतर मेघालय नाम का स्वशासी उपराज्य बनाया गया ।

15 - हिमांचल प्रदेश के संघ राज्य क्षेत्र को राज्य का दर्जा हिमांचल प्रदेश राज्य अधिनियम; 1970 द्वारा दिया गया ।

16 - पूर्वोत्तर क्षेत्र (पुर्नगठन) अधिनियम; 1971 द्वारा मणिपुर, त्रिपुरा और मेघालय को राज्यों के प्रवर्ग में सम्मिलित किया गया और मिजोरम तथ अरूणांचल प्रदेश को संघ राज्यक्षेत्र की सूची में सम्मिलित किया गया ।

17 - हरियाणा और उत्तर प्रदेश (सीमा परिवर्तन) अधिनियम 1979.

18 - मिजोरम राज्य अधिनियम ; द्वारा मिजोरम को राज्य का दर्जा दिया गया ।

19 - अरूणांचल प्रदेश राज्य अधिनियम 1986.

20 - गोवा, दमण और दीव पुनर्गठन अधिनियम 1987।

अध्याय - 3

संघवादी व्यवस्था

विश्व में दो प्रकार की प्रजातांत्रिक सरकारे हैं एकात्मक और संघात्मक, प्रसिद्ध विद्वान लेखक 'ए० वी० डायसी' ने अपनी पुस्तक लॉ आफ द कांस्टीट्यूशन में लिखा है कि "एकात्मक व्यवस्था में विधायिका की सारी सत्ता केन्द्र द्वारा प्रयोग में लायी जाती है जबकि संघात्मक व्यवस्था में विधायिका शक्ति को केन्द्र व राज्यों के मध्य विभाजित किया जाता है।"[1]

संघवादी व्यवस्था में सरकार की दो ईकाई एक केन्द्र और एक राज्य होते हैं। संघवाद वह तंत्र है जिसके द्वारा राज्य की सारी शक्तियें का विभाजन दो प्रकार की सरकारों के मध्य हो जाता है। यह दो प्रकार की सरकारें केन्द्रीय और राज्यों की सरकारो के रूप में होती हैं।

संघीय सरकार की परिभाषा करते हुये फाइनर ने कहा है कि "यह एक शासन है जिसमें सत्ता और शक्ति का एक भाग स्थानीय क्षेत्रों में नीहित होता है और दूसरा भाग केन्द्रीय संस्था में।"[2]

डायसी के अनुसार, "संघीय राज्य एक ऐसी राजनीतिक रचना है जिसमें राष्ट्रीय एकता और शक्ति तथा प्रदेशों के अधिकारों की रक्षा करते हुये दोनों में सामंजस्य स्थापित किया जाता है।"[3]

गार्नर के कथनानुसार, "ऐसी शासन प्रणालियें के केन्द्रीय और स्थानीय संगठन एक प्रभुसत्ता के अन्तर्गत स्थित होते हैं और ये दोनो प्रकार अपने निश्चित अधिकार क्षेत्र की सीमाओं में, जो सामान्य संविधान द्वारा निर्धारित की गयी है, सर्वोपरि होती है।"[4]

वस्तुतः संघवाद का सिद्धान्त सीमित सरकार के सिद्धान्त से सम्बन्धित है। संघवाद राष्ट्रीय सार्वभौमिकता और राज्यों के अधिकारो की प्रथक मांगों में जिस साधन द्वारा

1- डायसी ए० वी० : ला आफ द कॉन्स्टीटयूशन, 1938, पृ०. 131.
2- फाइनर हर्मर : थ्योरी एंड प्रैक्टिस ऑफ मॉर्डन गर्वन्मेंट, पृ०. 90-91
3- डायसी ए० वी० : लॉ ऑफ दि कॉन्स्टीट्यूशन; 1938, पृ० 138.
4- Garner, A unitary state is one where the habitual exercise of supreme legislative authority is vested in one central power; whereas a federal state is a political contrivance intended to reconcile unity and power with the maintencance of state rights.

समन्वय. और एकता स्थापित करता है । वह है लिखित संविधान, जिसके द्वारा सार्वभौमिकता सम्बन्धी शक्तियों का विभाजन केन्द्रीय और राज्यों की सरकारों के मध्य किया जाता है । संघवाद का मूल कारण शक्ति के विभाजन का सिद्धान्त है ।

के० सी० व्हीयर के अनुसार, "संघीय सिद्धान्त से मेरा तात्पर्य शक्ति के विभाजन के तरीके से है जिससे सामान्य(संघीय) एंव क्षेत्राधिकारी(राज्यों) सरकारें अपने क्षेत्र मे समान एवं पृथक होती हैं ।"[5]

इन सभी परिभाषाओं का मूल आधार यह है कि केन्द्र सरकार तथा स्थानीय सरकारों में कुछ संवैधानिक अधिकार निहित होते हैं जो उन्हे एक दूसरे के अधिकार में हस्तक्षेप से रोकते है । जहॉ आपस में सामंजस्य नही है और केन्द्र इकाईयों पर प्रभाव डालता हो तो उसे किसी रूप में संघ नही कहा जा सकता इस प्रकार संघीय व्यवस्था एकात्मक व्यवस्था से भिन्न है । एकात्मक व्यवस्था में स्थानीय निकाय, राज्य सरकारें पूर्ण रूपेण केन्द्र पर निर्भर रहती है । केन्द्र इन सबके ऊपर सर्वोच्च रहता है जिसे इनके कार्य क्षेत्र तथा अधिकार में परिवर्तन करने का पूरा अधिकार रहता है । वह स्थानीय निकाय की व्यवस्था तक को समाप्त कर सकता है संघीय व्यवस्था में इसके विपरीत होता है और उनकी सत्ता स्थानीय सरकारों पर निर्भर करती है । इसके पास स्वयं की कोई सत्ता नही होती है । यह स्थानीय निकायों पर निर्भर रहती है बिना उनकी सहायता के यह अपने संवैधानिक अधिकारों का भी प्रयोग नही कर सकती । इस व्यवस्था में केन्द्रीय कानून जब तक वे स्थानीय निकायों द्वारा लागू नही किये जाते वैध नही होते है । संघीय व्यवस्था में उनके अधिकार क्षेत्र निर्धारित रहते है और वे उन्हे अपने अपने कार्य क्षेत्र में प्रयोग करते हैं ।

जब दो या अधिक राज्य मिल कर एक ऐसी नई राज्य व्यवस्था स्थापित करते है जिनमें कुछ सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिये गिनी हुई शक्तियॉ अपने पास रख लेते है तो वे एक संघ का निर्माण करते हैं । अतः संघवाद के सिद्धान्तों के अनुसार स्थापित संघ में राज्य क्षेत्र दो समानाधिकारी संस्थाओं(केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों) में बंट जाता है । जिनमें प्रत्येक एक नवीन संविधान द्वारा नियमित होती है । प्रो० डायसी ने

---

5 व्हेयर के० सी० : फेडरल गवर्नमेंट (2nd ed.), पृष्ठ. 11.

कहा है कि "संघवाद का अर्थ है राज्य की शक्ति का विभाजन ऐसी समन्वयी संस्थाओं में जिनकी शक्ति का स्रोत एक ही संविधान होता है जो उनके कार्यो पर नियंन्त्रण रखता है।"[6]

ऐसे संघ राज्य में केन्द्रीय तथा राज्यों की सरकारों का सहअस्तित्व और सहयोग रहता है क्योकि दोनो ही नागरिक के संगठित जीवन को सफल बनाने का प्रयत्न करती है। अतएव संघवाद के अनुसार संघ में सम्मिलित होने वाले राज्यों की सरकारों की शक्तियों में कुछ कमी आ जाती है और वे सम्प्रभुत्तापूर्ण नही रहती क्योकि वे कुछ गिनायी हुई शक्तियॉ केन्द्र की सरकार को स्वेच्छा से देती हैं। जिस व्यवस्था में एकत्रित राज्य अपनी सम्प्रभुता को ज्यों का त्यों रखते है, उसे हम संघ न कहकर केवल अनुसंघ ही कहेंगे। संघ में केन्द्रीय और राज्य सरकारों की शक्तियॉ संघ के संविधान में वर्णित रहती है और प्रत्येक सरकार संघ के संविधान द्वारा नियंत्रित रहती हुई अपनी शक्ति का अपने राज्य क्षेत्र में उपयोग करती है।[7] संघ में सम्मिलित राज्यों की सरकारे अपना विलयन नही करती; वरन् वे राज्य कुछ राज्य क्षेत्र में एकता स्थापित करते है और इसलिये अपनी शासन शक्ति का एक स्पष्टतया वर्णित भाग एक केन्द्रीय सरकार को सौंपते हुये, शेष भाग अपने पास रखकर अपना पृथक व्यक्तित्व कायम रखते है। जिन शर्तो पर वे एक अनुबन्ध के रूप में संघ के संविधान में वर्णित कर दी जाती है। यह संविधान उन राज्यों की शक्तियों का राजनैतिक अनुबन्ध हो जाता है जो उन राज्यों की शक्तियों का स्रोत तथा उनके ऊपर नियंत्रण रखने वाला यन्त्र तथा उनके अस्तित्व का आधार होता है। यद्यपि ऐसे संघ मे सम्मिलित होने वाले राज्यों की पूर्व स्वतन्त्रता में कुछ घाटा अवश्य हो जाता है किन्तु उन्हे संघ की शक्ति का बल मिल जाने से लाभ अधिक होता है। इसी लाभ से ही आकर्षित होकर वे संघ बनाते है।[8]

फ्रीमेन के अनुसार इस विस्तृत अर्थ में "संघात्मक शासन की संज्ञा एक ऐसे राजनैतिक मेल को दे सकते है जो ऐसी कई इकाइयों में एकत्रित होने से उत्पन्न होता है

6- डायसी ए० वी० : लॉ आफ द कांन्स्टीटयूशन, 1938 (8th edition) पृष्ठ 153.

7- इनसाइक्लोपिडिया ब्रिटानिका, EdVIII; Vol X पृष्ठ 233

8- न्यूटन, ए० पी०.: फेडरल एण्ड यूनिफाइड कान्स्टीटयूशन, 1923, पृष्ठ 2.

जिसमें एकता का स्तर केवल मैत्री से अधिक होता है और साथ ही साथ प्रत्येक इकाई की स्वतन्त्रता व शक्ति नगरपालिकीय स्वतन्त्रता से अधिक होती है- प्रथम उस संघ के सदस्य राज्य अपने अपने उस राज्य क्षेत्र में स्वतन्त्र हों जो उनके लिये निर्धारित किया गया है । द्वितीय वे सब उस सार्वजनिक शक्ति अथवा शासन के नियन्त्रण के अधीन हो जो उसके सार्वजनिक हितों की रक्षा के लिये केन्द्रीय सरकार के रूप में स्थापित की गई है ।"[9]

इस प्रकार संघात्मक संविधान वह है जो राज्य की शक्ति को जो सार्वजनिक हित के लिये आवश्यक है; एक केन्द्रीय सरकार को देता है और उस शक्ति को जो प्रत्येक जिले, प्रदेश व देश के भाग के हित में आवश्यक है उसे स्थानीय सरकार को देता है जो उस पर शासन करती है । संघात्मक संविधान और एकात्मक संविधान में यही भेद है कि संघात्मक संविधान एक राजनैतिक अनुबन्ध जो राज्य की शासन शक्तियों को दो भागों में विभाजित कर दो सरकारों में बॉटता है; सरकार जो सारे संघ पर शासन करती है और सदस्य राज्य व इकाई की सरकार जो केवल स्थानीय क्षेत्र पर शासन करती है । परन्तु एकात्मक संविधान सारी की सारी शक्ति एक ही सरकार को देता है जो उस एकात्मक राज्य पर पूर्णतया शासन करती है ।

संघ में दोनों स्तरों की सरकारें(केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकार) सहअस्तित्व रखती हुई अपने निर्दिष्ट क्षेत्र में एक दूसरे के हस्तक्षेप से मुक्त रहती हुई; अपने कर्तव्य का पालन करती है । संघ में रहने वाला निवासी दोनों के प्रति निष्ठा रखता है । केन्द्रीय सरकार का राज्य क्षेत्र केवल वही भूखण्ड है जो पहले से उसके पास था, वे दोनों सरकारें अपने-अपने राज्य क्षेत्र पर शासन करती हैं । और एक दूसरे के अधिकार में हस्तक्षेप नही कर सकतीं, क्योंकि दोनों सरकारों की शक्तियाँ स्पष्टतया वर्णित होती हैं वे शान्तिपूर्वक शासन करती हैं । दोनों का उद्देश्य नागरिको की सेवा करना है संघ का सारा क्षेत्रफल कई प्रान्तों अथवा राज्यों मे विभक्त रहता है । विभिन्न संघ राज्यों में सदस्य राज्यों का जो संघ बनाते हें विभिन्न नामों से सम्बोधित किया गया हैं । संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया और भारत में उन्हे राज्यों की संज्ञा दी गई है; कनाडा में वे प्रान्त

9- फ्रीमेन, : हिस्ट्री आफ फेडरल गवर्नमेंट; Vol-1 पृष्ठ.2-3

कहलाते है । साम्यवादी रूस में गणराज्य और स्वीटजरलैंड में केन्टन कहे जाते है । केन्द्र की सरकार सारे क्षेत्रफल पर शासन करती है केवल उन विषयों में जो उसे संविधान द्वारा दिये गये हैं, परन्तु राज्यों की सरकारें अपने-अपने सीमित क्षेत्रफल पर शासन करती है, उन विषयों मे जो उन्हे संविधान से प्राप्त है । इन दो प्रकार और स्तरों की सरकारों के शासन की स्थिति और उनका सम्बन्ध इस चित्र से स्पष्ट हो जाता है-

अ	क	ख	ग	ब
द	घ	च	छ	स

उपरोक्त अ, ब, स, द किसी संघ राज्य के अधीन देश है जिसमें छ. उपराज्य अथवा प्रान्त क, ख, ग, घ, च, छ सम्मिलित हे । केन्द्रीय सरकार सारे संघ पर राज्य करती है; उसके कानून; आदेश तथा न्यायिक निर्णय सारे देश अ, ब, स, द पर लागू होते है, किन्तु प्रत्येक प्रान्त की सरकार का शासन अपने अधीन क्षेत्रफल पर ही होता है । जैसे - 'क' प्रान्त का निवासी दो सरकारों के प्रति निष्ठा रखता है; केन्द्रीय सरकार के प्रति जो अपनी निर्दिष्ट राज्य शक्ति सारे देश पर रखती है और प्रान्तीय सरकार के प्रति जिसकी राज्य शक्ति 'क' प्रांन्त के क्षेत्रफल पर उन विषयों में रहती है जो उसे संविधान से प्राप्त है । भेद केवल इतना है कि दोनो शासनों के अधीन विषय पृथक-पृथक होते है जिनका उल्लेख संविधान में स्पष्ट रूप से कर लिया जाता है । ये दोनो सरकारें अपना कार्य प्रत्येक समय करती रहती है ।"[10]

फ्रीमेन ने ठीक ही कहा है, "कि हम एक यथार्थ और पूर्ण संघ को राज्यों का संग्रह कह सकते है जिसमें राज्यो के आन्तरिक विधि निर्माण व विधान में केन्द्रीय सरकार

10- डॉ० शर्मा बी० एम० 'संघवाद ओर संघात्मक शासन', (हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ)

का हस्तक्षेप उतना होगा जितना राज्य सरकार का विदेशों से राजनयिक सम्बन्ध रखना ।"[11]

भौतिक विज्ञानों के विकास का इतिहास किसी और ही भॉति हुआ उसमें प्रयोगों, प्रयोगों के परिणामें का बहुत कुछ क्रमबद्ध हाथ रहा । इसके विपरीत सामाजिक शास्त्रों में विशेषता राजनीति के सिद्धान्तों में जो वृद्धि हुई उसमें विभिन्न युगों की परिस्थितियों तथा मानव की भावनाओं, चेतनाओं और आवश्यकताओं का अधिक भाग रहा फिर भी क्रमानुकूल अध्ययन तथा समयानुकूल परिस्थितियों का विचार रखते हुये हम उन कारको तथा सहायक हेतुओं और साथ ही साथ उन कारकों का भी ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं जिनसे संघवाद की वृद्धि और उसके विकास में सहायता मिली अथवा इस वृद्धि विकास में बाधायें पड़ीं ।

संघ शासन अन्य शासनों की अपेक्षा कुछ विशेषतायें रखता है । हर्मन फाइनर के कथनानुसार "ये विशेषतायें यह है- विधायिनी शक्ति और शासन अधिकारों का विभाजन, उपराष्ट्रों का संघ संसद में प्रतिनिधित्व, आय सम्बन्धी विशेष प्रबन्ध, दो शासन शक्तियों का साथ-साथ एक ही क्षेत्र में अधिकार होना । संघ शासन विधान की क्लिष्टता, न्यायपालिका का विशेष महत्व और राज्य निष्ठा तथा सम्बन्धोंच्छेद का विशेष सिद्धान्त ।"[12]

दो सरकारों का साथ-साथ रहना-

संघ शासन में सारे राष्ट्र की सम्मिलित सरकार जिसको केन्द्रीय सरकार भी कहते हैं सदस्य उपराज्यों या प्रान्तों की सरकार के सान्निध्य में रहती है । शासन की ये दो शक्तियॉ संविधान से अपने अधिकार प्राप्त करती है इसलिये वे एक दूसरे के अधीन न रह कर अपने-अपने शासन क्षेत्र में जो विधान द्वारा निश्चित हो जाता है स्वतन्त्र रहती है । संघ शासन विधान व "ऐकिक शासन विधान मे यही अन्तर है कि एक दूसरे प्रकार के संविधान के अन्तर्गत जहॉ एक ही शासन शक्ति मान्य होती है जो सब राजकीय मामलो में बिना अपवाद के सर्वशक्तिशाली और सर्वाधिकारी होती है वहॉ पहला अर्थात् संघ शासन, विधान शासन सम्बन्धी अधिकारों व शक्तियों को उपराज्यों की सरकारों व संघ सरकार के बीच बॉट देता है ।" एकिक राज्य में भी अब शक्तियों का विकेन्द्रीकरण

11- फ्रीमेन : हिस्ट्री आफ फेडरल गवर्नमेंट; पृष्ठ – 29-32.
12- फाइनर हर्मन : थ्योरी एंड प्रैक्सि आफ मॉर्डन गर्वन्मेंट, पृष्ठ. 90 – 91.

बढ़ता जा रहा है और स्थानीय शासन के हेतु स्थानीय संस्थायें बनती जा रही है। यद्यपि एकिक राज्य में शासन के दो स्तर है, एक केन्द्रीय और दूसरा स्थानीय पर फिर भी केन्द्रीय शासन का स्थानीय शासन पर आधिपत्य अक्षुण्ण रहता है। स्थानीय या नगर शासन की सृष्टि केन्द्रीय शासन शक्ति ही करती है और उस शक्ति को वैधानिक अधिकार प्राप्त रहता है कि इन स्थानीय शासनों में अधिकारों में वृद्धि कर दे या कमी कर दे। यही नही बल्कि उसको यह भी अधिकार रहता है कि वह इन शासन संस्थाओं को बिल्कुल तोड़ दे और किसी भी वैधानिक अनौचित्य की दोषी न हो। यदि कोई केन्द्रीय शासन शक्ति ऐसा करने का निश्चय करे तो इस निश्चय के विरूद्ध किसी न्यायालय में पुकार नही की जा सकती और न ऐसा निश्चय अवैध घोषित हो सकता है। क्योंकि केन्द्रीय शासन शक्ति स्वेच्छा से इन संस्थाओं की सृष्टि करती है जिससे उसके शासन कार्य में सुविधा रहे। इन स्थानीय शासन संस्थाओं के नियम केवल उपविधि ही रहते है और वे तभी तक लागू रहते है जब तक वे केन्द्रीय शासन शक्ति द्वारा मान्य समझे जाते है। संघ शासन में इसके विपरीत शासन के तीन स्तर होते हैं। जो केन्द्रीय, उपराज्यीय या प्रान्तीय और स्थानीय हैं। इससे स्पष्ट है कि उपराज्यीय शासन होने से ही संघ शासन और एकिक शासन में भेद हो जाता है। उपराज्यों के अधिकार केन्द्रीय सरकार से प्राप्त नही होते पर वे सीधे विधान से प्राप्त होते हें। इससे यह निश्चित है कि उपराज्यों की सरकारे केन्द्रीय सरकार की उपेक्षा नही करती, उनका स्वतन्त्र अस्तित्व संविधान द्वारा सुरक्षित रहता है। उपराज्यों की सरकारों के कानून उसी प्रकार वैद्य समझे जाते है- जैसे केन्द्रीय सरकार के कानून उनकी मान्यता केन्द्रीय सरकार की स्वीकृति या इच्छा पर निर्भर नही होती।

शासन अधिकारों का विभाजन-

संघ शासन विधान केन्द्रीय और प्रान्तीय सरकारों के अधिकार स्पष्टतया निश्चित कर देता है। शासनाधिकारों का यह विभाजन शासन क्षेत्र के सब विभागों में कर दिया जाता है। व्यवहार में यह पृथकीकरण बिलकुल पूरा रहता है उसमें सन्देह के लिये स्थान नही रहता, चाहे कानून बनाने का अधिकार हो या उसको कार्यान्वित करने का, न्यायिक अधिकार हो या प्रशासनिक, सबके सम्बन्ध में दोनो सरकारों की शक्ति स्पष्टतया मर्यादित

कर दी जाती है । आय के स्रोत आदि भी दोनों सरकारों में पृथक कर दिये जाते हैं । इस अधिकार विभाजन में साधारणता यह सिद्धान्त लागू किया जाता है कि वे अधिकार जो राष्ट्रीय महत्व के हितों की रक्षा के लिये आवश्यक है, संघ सरकार को दिये जाते है, जैसे- प्रतिरक्षा, विदेशी सम्बन्ध; बाहरी व्यापार पर कर, रेलवे, डाक, तार आदि । जबकि भिन्न-भिन्न प्रान्तों के अधीन शासन के वे विभाग तथा विषय होते है जिनकी देख-रेख प्रान्त की सरकार आसानी और अधिक लाभ से कर सकती है तथा जिन विषयों में सभी प्रान्तो में प्रबन्ध की समानता अनिवार्य नही है; उदाहरणार्थ - शिक्षा, न्याय, कला कौशल, छोटी सड़कें इत्यादि । संघ तथा प्रान्त दोनो ही सरकार अपने-अपने कार्य संचालन के लिये निजि टैक्स लगाती है और दोनो के लिये पृथक-पृथक कर के साधन निश्चित कर दिये जाते है । प्रायः संघ सरकार को अप्रत्यक्ष कर के साधन ही सुपुर्द होते हैं जैसे-विदेशी व्यापार पर कर आदि पर अब प्रवृत्ति यह होती जा रही है कि संघ सरकार को कर के प्रत्यक्ष साधन भी दिये जाते है । इस शक्ति विभाजन से संघ और प्रान्तों, देोना ही की सरकारों की स्थिति एक दूसरे से निरपेक्षित रहती है । प्रायः एक सरकार दूसरे के अधिकार क्षेत्र में हस्तक्षेप नही करती ।

अवशिष्ट, समवर्ती और निहित शक्तियां-

संघ संविधान के निर्माता चाहे इस अधिकार विभाजन के कार्य में कितने ही दक्ष हों और कितनी ही चतुराई से वे इस काम को करें पर फिर भी राज्य के कर्तव्य इतने अधिक है और उनकी संख्या में व विस्तार मे समय के बीतने से इतने परिवर्तन होते रहते हैं कि सब कर्त्तव्यों के सम्बन्ध मे दोनो प्रकार की सरकारों के अधिकारों का सर्वदा के लिये और सब तरह पूर्व वर्गीकरण और वितरण होना किसी भी संविधान निर्माता समिति या व्यक्ति के लिये असम्भव है उदाहरणार्थ, संयुक्त राज्य अमेरिका का विधान 1787 ई० में बनाया गया था जब न वैज्ञानिक आविष्कार हुये थे, न आने जाने के आज जैसे साधन ही उपलब्ध थे । विधान के निर्माता उस समय यह कल्पना न कर सकते थे कि 19वीं व 20वीं शताब्दी में वैज्ञानिक आविष्कारों से ऐसे साधन प्राप्त हो जायेंगे कि एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्र के बहुत निकट आ जायेगा और आपस में घनिष्ठता तथा सहकारिता की मात्रा इतनी बढ़ जायेगी जैसी आजकल वर्तमान है । इसलिये अब राष्ट्र के कार्यों में

जो नवीनता तथा वृद्धि हो गई है उसका उनको अनुमान न हो सकता था और न उसके लिये उन्होने संविधान में कोई आयोजन किया था ।

अवशिष्ट शक्तियॉ-

उपर्युक्त कठिनाई को दूर करने के लिये, सब संघ शासन विधान; जिनमे संयुक्त राज्य अमरीका का शासन विधान भी शामिल है, अवशिष्ट व अवर्णित शक्तियों के सम्बन्ध में विधान में कुछ धारायें बना देते हैं और इन धाराओं के द्वारा उन्हे या जो केन्द्रीय सरकार को या प्रान्तीय सरकार को सुपुर्द कर देते है यदि केन्द्रापसारी शक्तियॉ अधिक प्रबल होती है या बलशाली होती हैं तो केन्द्र को संयुक्त राज्य अमेरिका में संविधान वर्णित शक्तियों से बची हुई शक्तियॉ उपराज्यों को सुपुर्द है, वहॉ खिचाव केन्द्र से बाहर की ओर है । कनाडा में यह शक्तियॉ केन्द्रीय सरकार को है क्योंकि वहॉ केन्द्र को शक्तिशाली बनाने की प्रवृत्ति है ।

समवर्ती शक्तियॉ-

संघ विधान में प्रायः समवर्ती शक्तियों के सम्बन्ध में भी कुछ न कुछ आयोजन रहता है । कुछ मामले ऐसे होते है जिनको संघ व प्रान्त दोनो सरकारों मे से किसी एक को नही सौपा जाता या जो प्रान्तीय दृष्टि से महत्वशाली है । इन विषयों में संघ और प्रान्तीय दोनो सरकारों को व्यवस्था करने और प्रबन्ध करने का अधिकार रहता है । दोनो सरकारो में परस्पर विरोध न उत्पन्न हो जाये इस अधिकार से यह निश्चित कर दिया जाता है कि यदि किसी समवर्ती विषय के सम्बन्ध में दोनो सरकारों में मतभेद हो अथवा दोनो किसी एक ही समवर्ती विषय के सम्बन्ध में व्यवस्था और सम्बन्ध करे तो राष्ट्रीय व्यवस्था और प्रबन्ध अधिक मान्य होगा और प्रान्तीय व्यवस्था अमान्य रहेगी । ऐसा करने से यह लाभ होता है कि जो विषय महत्व के है सब प्रान्तों में उनकी व्यवस्था की समानता रहती है और राष्ट्रीय सरकार के कार्य में दृढ़ता व बल रहता है । उदाहरण के लिये जर्मनी के सन् 1919 के विधान की 13वीं धारा में यह दिया हुआ था कि जिन विषयों में केन्द्रीय व प्रान्तीय सरकोंरा को समवर्ती शक्तियॉ प्राप्त है उनमें यदि दोना सरकारें असमान कानून बनावें तो केन्द्रीय कानून ही लागू होगा प्रान्तीय कानून रद्द समझा जायेगा ।

निहित शक्तियों का सिद्धान्त-

इस सिद्धान्त का बड़ा महत्व है । संयुक्त राज्य अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन सबसे प्रथम किया था । अमेरिका के सन् 1787 के विधान में केन्द्रीय या राष्ट्रीय और प्रान्तों की शक्तियों का निश्चित रूप से वर्णन है और अवर्णित शक्तियॉ उपराज्यों की सरकारों के लिये सौंप दी गई है । केन्द्र की उल्लिखित शक्तियॉ बड़ी सीमित है ।

विधान के पहले अनुच्छेद की आठवीं धारा में कांग्रेस की शक्तियॉ इस प्रकार वर्णित है-

"कांग्रेस को टैक्स, ड्यूटी; इम्पोस्ट ओर एक्साइज लगाने का अधिकार होगा व ऋण चुकाने और सारे राष्ट्र की सुरक्षा और योगक्षेम के हेतु आयोजन करने का अधिकार होगा, परन्तु प्रतिबन्ध यह है कि सब डयूटियॉ, इम्पोस्ट और एक्साइज सारे संयुक्त राज्य में एक समान होंगे ।

"संयुक्त राज्य की सम्पत्ति और मान के आधार पर ऋण लेने का अधिकार होगा"।

"प्रान्तों विदेशों व इण्डियन जातियों से व्यापार को नियमन करने का अधिकार होगा ...... ।" इत्यादि इत्यादि ।

आठवीं धारा के अन्तिम शब्द ये है "कांग्रेस को इन सब कानूनों के बनाने का अधिकार होगा जो उपर्युक्त शक्तियों को और दूसरी शक्तियों को, जो विधान ने संयुक्त राज्य की सरकार को सुपुर्द की है या इसके किसी विभाग या अफसर को सौंपी है कार्यान्वित करने के लिये आवश्यक हो और उचित हो ।"[13] इन शब्दों का इतना विस्तृत अर्थ लगाया जा सकता है कि सर्वोच्च न्यायालय ने अधिकांश कांग्रेस के पक्ष में ही व्याख्या की है और निर्णय देते समय उस व्याख्या का उपयोग करते हुये निहित शक्तियों के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है इस सिद्धान्त के अनुसार चाहे यह उल्लेख न हो कि अमुख शक्ति किस सरकार को प्राप्त है किन्तु यदि किसी सरकार के लिये किसी विशेष

13- संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के पहले अनुच्छेद की आठवीं धारा के अन्तिम शब्द

शक्ति को कार्यान्वित करने के लिये अनिवार्य या उचित है, तो यह समझा जायेगा कि वह शक्ति दूसरी उल्लिखित शक्तियों मे निहित है या दूसरी उल्लिखित शक्तियों को देते समय अमुख शक्ति का देने का तात्पर्य था। इस सिद्धान्त के व्याख्यात प्रमुख न्यायाधीश मार्शल थे। उन्होंने इस सिद्धान्त के द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका की संघ सरकार अर्थात केन्द्रीय सरकार की शक्ति बढ़ायी।

दूसरे संघ शासनों में भी सर्वोच्च न्यायालयो के निर्णयों पर इस सिद्धान्त का प्रभाव पड़े बिना न रह सका है। और इस प्रकार शक्तियों को वर्णन करने में जो कभी रह जाती है जैसा कि स्वाभाविक है, तो उनके कारण कोई विशेष कठिनाई उत्पन्न नही होती।

क. दो सरकारों की नागरिकता-

संघ शासन में प्रत्येक नागरिक को दो सरकारों के प्रतिनिष्ठा रखनी पड़ती है। उन मामलों में जो प्रान्तीय सरकार के अधिकार क्षेत्र में है व्यक्ति अपनी प्रान्तीय सरकार का नागरिक रहता है और उसके बनाये हुये कानूनों का पालन करना व उसकी नागरिकता के स्वत्वों से लाभ उठाता है। इसके साथ ही साथ वह संघ सरकार का भी नागरिक होता है और संघ सरकार के बनाये हुये कानून का पालन करता है और उसकी नागरिकता के सम्पूर्ण अधिकार को प्राप्त करता है। एकिक शासन में व्यक्ति एक ही सरकार का नागरिक होता है। सामूहिक संघ में भी संघ के निवासी केन्द्रीय सरकार की प्रजा नही होते। वे अपने-अपने राज्य के नागरिक रहते है और संघ के कानून व आज्ञायें अपने राज्य की मध्यस्थता से उन पर लागू होते हैं। संघ के कानून व आज्ञायें बिना राज्य की अनुमति से प्रजा को मान्य नही समझी जाती।

राजशास्त्री ब्राइस- संघ की द्विनागरिकता की परिभाषा इस प्रकार करते है - "प्रमुख बात तो यह है कि प्रत्येक नागरिक के उपर दो सरकारों का आधिपत्य रहता है। एक तो उस उपराज्य या प्रान्त या कैन्टन की सरकार का आधिपत्य जिसका वह निवासी है और दूसरा राष्ट्र या संघ की सरकार का जिस संघ में वे सब उपराज्य या प्रान्त शामिल है जिनकी प्रजा पर संघ सरकार समानरूप से शासन करती है। इस प्रकार व्यक्ति की दो निष्ठायें रहती हैं; एक अपने प्रान्त के लिये और दूसरी सारे राष्ट्र के लिये। वह दो

कानूनों को मानता है, अपनी प्रान्तीय सरकार के कानून और संघ सरकार के कानून। वह संघ सरकार व प्रान्तीय सरकार के दो भिन्न-भिन्न अफसरों की आज्ञा पालन करता है और उन करों को छोड़कर जो उसकी नगर या ग्राम संस्था उस पर लगाती है, दो सरकारों को कर देता है।"[14]

ब्राइस के मतानुसार संघ शासन उसी को कहा जा सकता है जहॉ केन्द्रीय या संघ सरकार सदस्य उपराज्यों की प्रजा पर सीधा बिना उपराज्य की सरकार की मध्यस्थता के आधिपत्य रखती है। न्यूटन का भी मत इस विषय में स्पष्ट है - उनका कहना है कि, "संघ सरकार केवल सम्मिलित राज्यों पर शासन नही करती पर उनकी प्रजा पर भी स्वयं शासन करती है।"[15] एक दूसरे लेखक ने- एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका मे सघ शासन के नागरिक का दो सरकारों से कैसा सम्बन्ध रहता है, समझाते हुये लिखा है कि संघ सरकार अपनी उल्लिखित शक्तियों का उपयोग करने में अपने सदस्य उपराज्यों से सीधा सम्बन्ध स्थापित करती है और उन पर शासन करती है, पर उसके साथ-साथ संघ के प्रत्येक व्यक्ति से उसका सीधा सम्बन्ध रहता है; और फलतः संघ के निवासी दो सरकारों के, संघ सरकार के और प्रान्तीय सरकार के नागरिक रहते हैं "।[16]

ख. लिखित और क्लिष्ट संविधान-

यद्यपि एकिक शासन प्रणाली में अलिखित विधान से काम चल सकता है, पर संघ शासन में लिखित विधान अनिवार्य है। एकिक शासन प्रणाली में शासन की सारी शक्ति केवल एक सरकार के पास रहती है, और वही सरकार सर्वाधिकारी होती है। किन्तु संघ शासन में शासन शक्ति दो भिन्न-भिन्न एक दूसरे से निरपेक्ष सरकारों में बंटी रहती है। कुछ विषयों में केन्द्रीय सरकार का शासन रहता है और दूसरे में प्रान्तीय सरकार का यह विषय या विभाग दोनों सरकारों में पृथक-पृथक बंधे रहते हैं। ब्रिटेन का अब भी ऐसा उदाहरण है जहॉ एकिक शासन का लिखित विधान नही है। दूसरे एकिक शासनों में सब जगह लिखित विधान ही है। संघ शासन एक प्रकार का पूर्ण संविदात्मक करार है प्रान्तीय सरकारें आपस में एक मत होकर इस निश्चित करार पर पहुँचती है और अपने ऊपर

14- ब्राइस

15- न्यूटन ए० पी० : फेडरल एंड यूनिफाइड कान्स्टीटयूशन, 1923

16- एनसाइक्लोपिडिया ब्रिटेनिका- Ed XIII, Vol -X , पृष्ठ 234

संघ सरकार की स्थापना कर उसे निश्चित अधिकार देती है यह करार बड़ा नाजुक होता है और उसमें शक्ति व अधिकारों का बड़ा सूक्ष्म संतुलन रहता है दो व्यक्तियों में भी यदि कोई करार हो तो वह भी संदेह रहित और सब तरह से स्पष्ट नही रहता यदि वह लिखा न जाय तो भविष्य में उनकी शर्तो के सम्बन्ध में उन दोनो व्यक्तियों को भ्रांति हो सकती है व झगड़ा हो सकता है । यही बात अधिक मात्रा में उस पेचीदा करार के बारे में सत्य है जो राज्य शक्तियों के बीच में हो । संघ शासन संविधान संघ सरकार और प्रान्तीय सरकार की शक्तियों की मर्यादा स्थिर करता है । इसलिये दोनों सरकारों के ऊपर उसका महत्वपूर्ण स्थान है । संघ सरकार का या प्रान्तीय सरकार का कानून तभी वैध समझा जाता है जब वह विधान के अनुकूल हो । एकिक शासन में सरकार की शाक्तियों पर ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही होता क्योंकि वह स्वयं ही शक्तिमान रहती है ।

संघ शासन विधान परिवर्तन करने के लिये विशेषतया क्लिष्ट होता है । जब संघ शासन की स्थापना की जाती है तो विभिन्न सरकारों के प्रतिनिधि अपने-अपने राज्य के अधिकारों का दावा करते है । इन दावों पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया जाता है । और समझौते पर पहुँचने के पूर्व अनेको रूकावटों का सामना करना पड़ता है । सब अभ्यर्थनाओं का ऐसा संतुलन और सम्मिश्रण करना पड़ता है जिससे सदस्य राज्य संतुष्ट रहें और संघ में सम्मिलित होने को तैयार हों । जितने संघ राज्य ससार में स्थापित हुये है । उनका इतिहास इस सब बातों का साक्षी है । जब कई प्रान्त या उपराज्य मिलकर संघ स्थापित करते हैं तो इस बात का विशेष ध्यान रखते है कि संघ सरकार को केवल वे अधिकार दिये जायें जो सम्मिलित शासन के हित में अनिर्वाय रूप से आवश्यक हैं और वे प्रान्त शेष अधिकार व शासन शक्ति अपने पास सुरक्षित रखने का पूरा-पूरा उपाय कर लेते हैं । प्रान्त स्पष्ट शर्तो पर ही अपनी स्वतन्त्रता का कुछ अंश संघ शासन को सुपुर्द करते हैं और शेष स्वतन्त्रता को अपने पास रखते हैं । इन शर्तो को लिखित और स्पष्ट होना आवश्यक है । जिससे सबको अपने-अपने अधिकारों का स्पष्ट ध्यान रहे । और समय के बीतने से उनके सम्बन्ध में भ्रान्ति न हो जाये क्योंकि सदैव के लिये या उस समय तक के लिये जब तक संविधान में संशोधन न हो; इन्ही शर्तो से ही सब के अधिकारों की रक्षा होती हे । विधान बनानें में विरोधी अधिकारों का जब इस प्रकार सन्तुलन हो और बड़े प्रयत्न के पश्चात समझौते पर पहुँचा जाये तो यह आवश्यक है कि

विधान का संशोधन सुलभ न होना चाहिये । यदि यह संशोधन करना साधारण कानून की तरह सुलभ कर दिया जाये तो संविधान निर्माताओं का महत्वमूर्ण कार्य शीघ्र नष्ट हो जाये और संघ अधिक समय तक जीवित न रह सके । इसी कारण इस बात को निश्चित रखने के लिये जिन शर्तों पर प्रान्त गण संघ में सम्मिलित हुये हैं उनको बहुत काल तक सुरक्षित रखा जाय और शासन संविधान में परिवर्तन कठिनता से हो सके; उसी विधान में उसके परिवर्तन के ढंग का निर्देश कर दिया जाता है और वह ढंग क्लिष्ट होता है । इसका आशय यह नही है कि संविधान में परिवर्तन अथवा संशोधन हो ही न सके । संविधान के निर्माता कितने ही योग्य और दूरदर्शी राजनीतिज्ञ हों, वे संविधान बनाते समय सब अनागत घटनाओं के लिये उचित आयोजन करने में समर्थ नही हो सकते । क्योंकि मानव जाति अपनी प्रकृति से ही अस्थिर है । कोई विधान ऐसा नही बनाया जा सकता जो सब समय के लिये और सब अवस्थाओं के लिये समान रूप से उपयुक्त हो । मनुष्य जाति की आवश्कताओं में परिवर्तन होता रहता है उन्नति के मार्ग में नई कठिनाईयों और नई समस्याओं का सामना करना पड़ता है । जिससे नया अनुभव प्राप्त होता रहता है । संविधान को क्रियात्मक रूप में लाने से ही उसकी कमियां मालूम होती हैं । वर्तमान युग में तो विज्ञान के नये-नये आविष्कारों से मानव जाति की आर्थिक, सामाजिक, अन्तर्राष्ट्रीय व राजनैतिक स्थिति में दिन प्रतिदिन परिवर्तन होता रहता है । इसलिये यह आवश्यक है कि शासन को स्थिति के अनुकूल बदलने के लिये संघ विधान में परिवर्तन हो सकना सम्भव होना चाहिये । ऐसा भी प्रायः होता है कि संघ विधान के निर्माता कुछ गुत्थीवार समस्याओं को विधान बनाते समय हल नही कर पाते और उन्हे भविष्य में सुलझाने के लिये इसलिये छोड़ देते हैं कि विधान को कार्यान्वित करने में जो अनुभव प्राप्त होगा उसकी सहायता से उनको सुलझाना सुगम होगा । इसलिये संघ शासन संविधान में ही उसके संशोधन की विधि का उल्लेख कर दिया जाता है । संशोधन करने की प्रणाली सब संघ विधानों में एक सी ही नही होती पर साधारण कानून बनाने की अपेक्षा असीम विशेषतायें सब जगह रखती है प्रायः इस प्रणाली में ऐसा आयोजन रहता है कि संघ के सब सदस्यों, दलों और हितों का संघ विधान में परिवर्तन में मत प्रकाशन ही न हो सके वरन् उसका थोड़ा हाथ इस परिवर्तन अथवा संशोधन में हो । इसलिये यह प्रणाली अधिक पेचिदा और दुष्कर होती है ।

एकिक शासन विधान को जब चाहे सुविधा के लिये बदला जा सकता है । परन्तु संघात्मक संविधान को ऐसा बनाया जाता है कि उसमें अनिवार्य परिवर्तन तो न कर सके । संघ शासन विधान में परिवर्तन तथा संशोधन केवल इसी दशा में किया जा सकता है जबकि संघ के हित के लिये यड़ संशोधन अत्यन्त आवश्यक ह्रो और फिर इस संशोधन के करने का ढंग भी साधारण कानूनों के बनानें के ढंग से अधिक क्लिष्ट तथा विशेष प्रकार का ह्रोता ह्रो ।

ग. विशेष प्रकार की न्यायपालिका-

संघ शासन की विशेषता यह भी है कि इसमें एक ऐसा न्यायालय स्थापित किया जाता है जो प्रान्तों तथा केन्द्र दोनो की ही सरकारों के प्रभाव से मुक्त हो । इसमें प्रान्तीय सरकारों और संघ सरकार के बीच अधिकार और शक्तियों का विभाजन किया हुआ होता है । और उनमें आपस में सम्बन्धों की व्याख्या भी दी हुई होती है । संघ का शासन विधान एक प्रकार संविदात्मक करार की शर्तो का लिखित वर्णन है । जैसे मनुष्यों या जनसमूहों के बीच करार की शर्तों को सुरक्षित रखने तथा तोड़ने वाले को दण्ड देने के लिये शासन के न्यायालय की आवश्यकता होती है उसी प्रकार केन्द्र की सरकार और प्रान्तों की सरकार के बीच में करार के अनुसार अर्थात शासन विधान की शर्तों के अनुसार बाध्य करने तथा किसी सरकार को उसके अधिकारों का अतिक्रमण करने से रोकने के लिये न्यायालय की आवश्यकता होती है । इसलिये संविधान में एक स्वतन्त्र न्यायालय का आयोजन किया जाता है क्योंकि प्रान्तीय या संघ सरकार के अधीन रहने वाला न्यायालय इस काम को सुचारू रूप से नही कर सकता, न उसके निर्णयों का कोई मान होगा इसको सर्वोच्च न्यायालय कह कर पुकारा जाता है । जो सरकार के आपस के झगड़े को निपटाता है और दूसरी बातें भी करता है । इस न्यायालय के अधिकार शासन विधान में ही स्पष्ट तथा वर्णित रहते है । उन अधिकारों को विधान का संशोधन करके भले ही बदल दिया जा सकता है परन्तु किसी प्रान्त अथवा केन्द्र की सरकार उन्हे नही बदल सकती । जिस विधान से प्रान्तों अथवा केन्द्र की सरकारों को अपने-अपने अधिकार और शक्तियाँ प्राप्त है । उसी विधान से सर्वोच्च न्यायालय को अधिकार और शक्ति प्राप्त होती है । किसी भी एकिक शासन में न्यायालय को इस प्रकार की स्वतन्त्रता नही मिलती

। सर्वोच्च न्यायालय ही एक ऐसी संस्था है जिसकी उपस्थिति संघात्मक शासन को सुचारू रूप से चलाने में बहुत कुछ समर्थ है । सब संघ शासनों में सर्वोच्च न्यायालयों ने बड़े महत्वपूर्ण कार्य किये है । उदाहरणार्थ, निहित शक्तियों का सिद्धान्त संयुक्त राष्ट्र अमेरिका के सर्वोच्च न्यायालय ने प्रतिपादित किया था ।

घ. सम्बन्धोच्छेद का सिद्धान्त-

संघ शासन में राज्यों का सम्मिलन होना है । वे राज्य सम्मिलन से पूर्व या तो पूर्ण स्वतन्त्र होते है या अर्द्धस्वतन्त्र या सम्मिलन कई प्रकार का हो सकता है । इस सम्मिलन में मिलने वाली इकाइयॉ समान पदस्थ रह सकती है । बिल्कुल एक दूसरे के अधीन रह सकती है । यह सम्मिलन चिरकालीन या अल्पकालीन हो सकता है, इस सम्मिलन में से निकलना सुकर या दुष्कर या पृथक होना सम्भव ही न हो सकता हो । यह सम्मिलन पृथक इकाइयों ने अपने-अपने स्वार्थ साधन के लिये किया हो या यह सम्मिलन आवश्कताओं के कारण अनिवार्य या सामूहिक निष्ठा से प्रेरित हुआ हो ।

संघ शासन में संघ कहॉ तक अभंगनीय है अर्थात संघ बनाने वाली इकाइयों को संघ से पृथक होने का अधिकार कहॉ तक है इस विषय में दो विरोधी मत हैं । एक ओर उन लोगो का मत था कि जो यह कहते है उपराष्ट्र या प्रान्त संघ की स्थापना के पूर्व पूर्णसतात्मक स्वतन्त्र और एक दूसरे से पृथक इकाई थे । वे अपनी इच्छा से संघ में शामिल हुये । इनका कहना था कि संघ में रह कर सव कुछ सुविधायें प्राप्त करेगें और ज्योंहि ये उपराष्ट्र यह अनुभव करें कि संघ में रहने से उनको कोई लाभ नही है उनको संघ से पृथक होने का अधिकार है । इस मत के प्रतिपादकों में प्रमुख कलहाउन थे । संयुक्त राज्य अमेरिका में इस मत के प्रतिपादक थे, जो उपराष्ट्रो के अधिकारों की श्रेष्ठता के समर्थक थे । उनकी दृष्टिमें संघ के अधिकार उपराष्ट्रों के अधिकारों से गौण हैं । अमेरिका में जब पहली बार सम्बन्धोच्छेद का यह प्रश्न उठा तो उसको तत्कालीन विदेशियों व राजविद्रोह से सम्बन्धित अधिनियमों को रद्द करके टाल दिया ।

दूसरे मत के प्रतिपादकों में मुख्य स्थान डेनियल वैब्स्टर का है । इनका यह कहना था कि सारे देश के निवासियों ने मिलकर संघ की स्थापना की थी न कि पृथक-पृथक राज्यों ने इस आधार पर वे कहते हैं कि उपराष्ट्रों को संघ शासन के कानूनों को शून्य

करने या संघ से सम्बन्ध तोड़ने का कोई अधिकार नही है । वे अपने इस मत के समर्थन में जिससे वे संघ सरकार के अधिकारों को श्रेष्ठ और सर्वोपरि मानते थे, 1787 के संघ विधान की प्रस्तावना को सामने उपस्थित करते थे । इस प्रस्तावना में लिखा था कि "हम संयुक्त राज्य अमेरिका के निवासी एक सुदृढ़ व अधिक पूर्ण संघ की स्थापना के लिये, न्याय प्रतिष्ठा के लिये घरेलू शान्ति के लिये, सार्वजनिक सुरक्षा के लिये और अपने आपको व अपनी सन्तान को स्वतन्त्रता का सुख प्राप्त कराने के लिये इस संघ संविधान को दृढ़ संकल्प होकर संयुक्त राज्य अमेरिका के लिये स्वीकार करते हैं।"

सम्बन्धोच्छेद के सिद्धान्त की बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों ने कड़ी आलोचना की है । "अमेरिका के न्यायाधीश स्टोरी के अनुसार उपराज्यों या प्रान्तों को संघ से पृथक होने का अधिकार नही है इस प्रकार वे संघ को समाप्त नही कर सकते । वे यह बतलाते है कि संघ शासन के शान्तिपूर्ण स्थापित रहने से सब अधिकारी साझीदारों के प्रमुख हितों की रक्षा व पोषण होता है । उनके मत से संघ के साझीदार राज्य नही पर प्रजा है और प्रजा का हित शान्ति व सुव्यवस्था में ही है ।"[17]

स्विटजरलैंड में संविधान (1874) का पहला अनुच्छेद इस प्रकार है स्विटजरलैंड के पूर्ण सत्ताधारी केन्टनों की जनता इस संघ में सम्मिलित होकर स्विस संघ का निर्माण करती है ।

संघ की लोक सत्ता के सम्बन्ध में इन स्वतन्त्र उल्लेखों के अतिरिक्त, हमें यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि किसी भी शासन विधान में स्वसृजित राज्य का विलयन कराने वाली धारा नही रखी जा सकती न विधान इस विलयन की आज्ञा ही दे सकता है ।

"जब कभी कोई एक या एक से अधिक उपराज्यीय सरकारें संघ में अपने आप को अल्पसंख्यक दल में पाये और उनको यह प्रतीत हो कि उनके हितो की किसी केन्द्रीय सरकार के कानून से भारी हानि हो रही है, तो इस अल्पसंख्यक दल को प्रार्थना करनी चाहिए और बात चीत के द्वारा अपना मत प्रकाशित कर ऐसा प्रयत्न करना चाहिए कि वह कानून उसके अनुकूल बना दिया जाये । पर जब एक बार संघ की सारी जनता ने उस केन्द्रीय सत्ता की स्थापना कर दी तब उस सरकार को संघ से पृथक होने का कोई

17- स्टोरी

भी अधिकार नही है, क्योंकि यदि दुर्दान्त उपराज्यों का पृथक होने का अधिकार दे दिया जाय तो सारे राज्य संगठन की स्थिरता ही नष्ट हो जाने का भय है । जिस संघ में सब मेल कराने वाले हितों को व मार्गो को दूर कर व उनके विच्छेद कराने वाले कारणों से अधिक शक्तिशाली व पुष्ट बनाकर संघ शासन की स्थापना की हो वहॉ प्रायः ऐसे झगड़े नही उठ सकते जिनके कारण कोई उप राज्य संघ से अपना सम्बन्ध तोड़ने को वाध्य हो जाये । वास्तव में यदि कोई संघ राज्य किसी उपराज्य के पृथक होने से भंग हो जाये तो यह समझ लेना चाहिये कि संघ वास्तव में संघ न था । केवल एक मित्र संगठन मात्र था ।''[18] वास्तव में संघ शासन का भंग न हो सकना अब सभी स्वीकार करते है संघ शासन की प्रशंसा बड़े-बड़े राजनीतिज्ञों ने भी की है उनमें डायसी का नाम महत्वपूर्ण है ''उनका तो यहॉ तक कहना है कि यदि सामाजिक संगठन को यथेष्ठ बनाना है तो उसका रूप संघात्मक ही होना चाहिए ।''[19]

भारत में किस प्रकार के संघ की स्थापना कि जाये, इसके बारे में संविधान निर्माताओं ने बहुत सोंच विचार किया । संविधान प्रारूप समिति के सदस्य संघवाद की सीमाओं में रहते हुये केन्द्र को अधिक से अधिक बलशाली बनाने के पक्ष में थे । क्योंकि भारत के इतिहास में प्रारम्भ से ही चली आ रही केन्द्रविमुख प्रवृत्तियों के बारे में काफी सचेत थे । परन्तु संविधान सभा के कुछ सदस्यों ने संविधान में निहित संघीय योजना पर अपनी निराशा भी प्रकट की । उन्होने यह वादानुवाद किया कि संविधान में शक्तिशाली एकात्मक सरकार की व्यवस्था की गई है । और राज्यों को शानदार जिला बोर्डो की स्थिति तक ले आया गया है । उदाहरण स्वरूप श्री पी० टी० चाको ने कहा कि ''संविधान का एक बाहरी रूप संघात्मक होगा । परन्तु वास्तव में इसमें एकात्मक सरकार की स्थापना की गई है ।''[20] श्री महबूब अली तथा एन० जी० रंगा को यह भय था कि, ''केन्द्रीकरण पर जो बल दिया गया है और जितनी आसानी से केन्द्रीय सरकार संघात्मक सरकार को एकात्मक सरकार में बदल सकेगी उससे भारत में स्वायत्तवाद अथवा तानाशाही

18- डायसी ए० वी० : लॉ आफ द कान्स्टीटयूशन, 1938
19- डायसी ए० वी० : लॉ आफ द कान्स्टीटयूशन, 1938 पृष्ठ. 135.
20- अग्रवाल आर० सी० : ''भारतीस संविधान के विवेचन''

स्थापित हो जायेगी और लोकतन्त्र का अन्त हो जायेगा।"[21] श्याम नन्दन सहाय ने यह दृढ़तापूर्वक कहा कि "संविधान में एक प्रकार की संघीय एकात्मक पद्धति अपनायी गई है जो कि बहुत हद तक एकात्मक पद्धति की ओर झुकी हुई है और जिसमें इकाइयॉ केवल केन्द्र की प्रहरी होगी।"[22] मिस्टर बी० एम० गुप्त ने अपना यह मत प्रकट किया कि "भारत एक संघीय राज्य नही है अपितु एक संयोग है और केन्द्र एक संघात्मक सरकार नही है बल्कि समग्र शक्तियों और सामाजिक उद्देश्य वाली सरकार है।"[23] श्री एच० वी० पाटस्कर मध्य प्रदेश के भूतपूर्व राज्यपाल ने विश्व मामलों की भारतीय परिषद की राज्य शाखा को सम्बोधित करते हुये कहा कि मेरे विचार में भारत में संघात्मक सरकार नही है।"[24] अपने लेख में जिसका शीर्षक था "क्या भारत एक संघ है" जो कि डाक्टर कृष्ण प्रसाद मुखर्जी ने अखिल भारतीय राजनीतिक सम्मेलन में पढ़ा; दृढ़तापूर्वक कहा,"मेरा विचार है जिस समय संविधान का प्रारूप बना या जनवरी 1950 मे सविधान पर विचार हुआ चाहे जो कुछ स्थिति रही हो परन्तु अब यह निश्चित रूप से असंघीय या एकात्मक है।"[25]

डॉ० के० सी० ह्येयर, जो कि संघवाद पर एक माने हुये लेखक है का कहना है, "पूर्व रूप से संविधान पर विचार करने के बाद यह प्रतीत होता है कि संविधान सभा 1935 के अधिनियम की अपेक्षा भारतीय संयोग को और अधिक केन्द्रीकृत बनाना चाहती थी। 1935 के अधिनियम में भी केन्द्र को प्रान्तों में हस्तक्षेप करने की आज्ञा थी और उस ढॉचे को देखकर हमें संयुक्त राज्य अमेरिका के बजाये कनाडा के संविधान की अधिक याद आती है। भारत का नया संविधान उससे आगे बढ़ गया है। यह वास्तव में ऐसी सरकार की स्थापना करता है जो कि अधिक से अधिक अर्द्ध संघात्मक कही जा सकती है, जो कि शक्तियों का काफी हस्तान्तरण करती है परन्तु वास्तव में एकात्मक राज्य है जिसमें थोड़ी सी संघात्मक विशेषतायें है बजाए इसके कि यह संघात्मक राज्य हो और इसमें थोड़ी सी एकात्मक विशेषतायें हों।" सरआइवर जेर्निंस तथा ग्लैंडहिल भी के० सी०

21- वही
22- वही
23- शर्मा वी. एम. : संघवाद और संघात्मक शासन (हिन्दी समिति सूचना विभाग) उत्तर प्रदेश लखनऊ पृष्ठ 314, 315, 345
24- शर्मा वी. एम. : संघवाद और संघात्मक शासन (हिन्दी समिति सूचना विभाग) उत्तर प्रदेश लखनऊ पृष्ठ 314, 315, 345
25- वही पृष्ठ 314, 315

ह्वेयर के इस परिणाम से सहमत है । प्रोफेसर मोरिस जोन्स ने लिखा कि चौथे आम चुनाव के फलस्वरूप; भारत पूर्णरूप से संघात्मक राज्य के युग में प्रवेश कर गया है और इसमें अनेक प्रकार की कठिनाइयॉ नीहित होती है । जैसा कि संयुक्त राज्य अमेरिका ने कई बार सीखा है कि संघवाद में अनेक समस्यायें उत्पन्न होती है । परन्तु विभिन्नता के लिये यह काफी उपयुक्त है ।"[26]

फिर भी यह कहना बिल्कुल अनुचित होगा कि भारत में एकात्मक सरकार की स्थापना की गयी है । भारत में संघात्मक सरकार की तीनों विशेषतायें अर्थात शक्तियों का विभाजन, संविधान की सर्वोच्चता तथा उच्चतम न्यायालय की सर्वोच्चता इत्यादि पायी जाती है । अतः हमारे देश में संघात्मक सरकार ही स्थापित की गई है संयुक्त राज्य अमेरिका, स्विटजरलैण्ड और आस्ट्रेलिया के संविधान यद्यपि इकाइयों को बहुत हद तक स्वायत्तता प्रदान करते है परन्तु उन देशों में भी प्रथम महायुद्ध के बाद ऐसी प्रवृत्तियॉ उत्पन्न हो रही है जिससे स्पष्ट होता है कि वहॉ पर भी केन्द्रीय सरकार बलवान होती जा जा रही है । उदाहरणस्वरूप, यद्यपि अमेरिकी संविधान में राष्ट्रपति को संकटकालीन घोषणा करने का कोई अधिकार नही है । तथापि जिस समय भी किसी राज्य में बहुत अधिक आन्त्रिक गड़बड़ हो गई है, तो केन्द्रीय सरकार ने कई बार राज्य की सरकार की इच्छा के विरूद्ध भी वहॉ पर शक्ति स्थापित करने के लिये सेनायें भेज दी हैं और इस कार्यवाही को यह कह कर ठीक सिद्ध करने की कोशिश की है कि अर्न्तराज्यीय वाणिज्य तथा व्यापार और यातायात पर केन्द्रीय नियन्त्रण है और यदि किसी राज्य में आन्त्रिक शक्ति नही रहती है, तो इन सब बातो में रूकावट उत्पन्न होगी । इसके अतिरिक्त हम देखतें है कि चाहे कनाडा की तरह भारत में केन्द्र को बलवान बनाने की कोशिश की गई है परन्तु वहॉ की तरह ही इकाईयों (राज्यों) को व्यवहार में काफी स्वायत्तता दे दी गई है । प्रत्येक संघ में शक्तियों के केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति पायी जाती है ।

डेविड फालमेन ने ठीक ही कहा है कि, "अमेरिका के उच्चतम न्यायालय ने दोहरे संघवाद के विरोधी मत पर अपनी नाक चढ़ा ली है । उच्चतम न्यायालय ने शक्तियों के अन्तर्निहित सिद्धान्त से केन्द्र को बहुत अधिक शक्तियॉ प्रदान कर दी है । वास्तव में

26- व्हेयर के० सी० : फेडरल गवर्नमेंट (आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, लंदन 1963)

केन्द्रीकरण न केवल अमेरिकी संघवाद का अपितु आस्ट्रेलिया, कनाडा, और स्विटजरलैण्ड के संघवाद का भी सक्रिय यन्त्र है।"[27] जो कुछ न्यायालयों, अभिसमयों (रूढ़ियों) आचरणों (व्यवहारों) तथा प्रथाओं और चलनों के द्वारा अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया में प्राप्त किया गया है । वहीं भारत में स्पष्ट रूप से संविधान के अनुच्छेदों में रख दिया गया है । श्री अल्लादी कृष्णा स्वामी अयर ने जो कि संविधान प्रारूप समिति के प्रभावशाली सदस्य थे, इस बात को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि, "संविधान के प्रारूप ने जो कुछ किया है; वह यह है कि इसने प्रत्येक आधुनिक संघ में केन्द्रीय सरकार की शक्तियों को सुदृढ करने वाली अवश्यम्भावी प्रवृत्तियों पर विचार किया है और इस हेतु उपयुक्त उपबन्ध रखे हैं बजाय इसके कि इस बात को अमेरिका की तरह उच्च्य न्यायालय के लिये छोड़ा जाये जिसने की वहॉ पर संविधान की व्याख्या इस तरह से की है जिससे केन्द्र की शक्तियॉ बढ़ गई है ।"[28]

भारत ने अपना संविधान सन् 1950 को लागू किया जिसमें भारत को एक पंथ निरपेक्ष राज्य की संज्ञा दी । 26 नवम्बर 1949 को संविधान सभा द्वारा संविधान के अंगीकृत किये जाने के समय डा० राजेन्द्र प्रसाद सभा के अध्यक्ष ने यह स्वीकार किया कि- "प्रशासकीय कृत्यों और अन्य कृत्यों के समस्त कृत्यों से सम्बन्धित संघ एंव राज्यों के मध्य शक्ति तथा कार्य वितरण के सम्बन्ध में अधिक विस्तार से चला गया है ।" सम्भव है कि प्रारूप समिति तथा संविधान सभा के सदस्यगण संघ और राज्य सरकारों के मध्य भविष्य में उत्पन्न होने वाले संघर्षो को दूर करने की इच्छा से प्रेरित हुये हों; परन्तु वास्तव में देश के बंटवारे द्वारा उत्पन्न अवस्था में और संविधान सभा के नेताओं की राजनैतिक जीवन में अस्थिरता दूर करने के लिये संविधान को शीघ्रता शीघ्र रूप प्रदान करने की उत्सुकता में उन्होने संविधान के बृहत आकार की ओर अधिक ध्यान दिये यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि विभिन्न तत्वों को संतोष प्रदान करने तथा शासन की शक्ति को स्थिर करने के लिये अनेको अनुच्छेदों को शामिल करना आवश्यक बना दिया । ब्रिटिश शासन तथा भारत सरकार अधिनियम; 1935 की छाया भारतीय गंणतन्त्र के

27- फालमेन डेविड : फेडरल गवर्नमेंट एंड फेडरेशन ।
28- अययर एस० पी० : स्टेट रिलेशंस इन इण्डिया, दि पालिटिकल आस्पेक्टस (इन नूरानी ए० जी० एंड सेन्टर स्टेट रिलेशंस इन इण्डिया)

संविधान पर मंडराती हुई दिखाई पड़ती है और इसे अन्य वर्तमान राज्यों के संविधानों से अतुलनीय विशाल प्रलेख बना देती है।

संविधान घोषणा करता है कि "भारत अर्थात इण्डिया राज्यों का संघ होगा" निःसंन्देह संविधान अनिवार्यतः स्वरूप में संघीय है जिसमें विपुल मात्रा में एकात्मक प्रवृत्तियॉ स्थिर है जो कि सन् 1947 के पूर्व पायी जाने वाली परिस्थितियों के कारण और उन दशाओं के कारण जिनमें संविधान का निर्माण हुआ था; आवश्यक बन गयी हैं ।"[29]

भारतीय संविधान के किसी अन्य विषय पर शायद ही इतना अधिक वाद विवाद रहा हो और इतने अधिक विरोधी मत व्यक्त किये गये हो जितने मत भारत के संघीय स्वरूप के सम्बन्ध में प्रतिपादित किये गये है । स्वयं संविधान निर्मात्री सभा में भी इस बात पर मतभेद था कि भारतीय संविधान को संधात्मक संविधान की श्रेणी में रखा जाय या उसे एकात्मक संविधान की संज्ञा दी जाये । परन्तु संविधान निर्मात्री सभा के काफी सदस्यों का यह मत था कि भारत का संविधान संघात्मक है ।"[30]

संविधान प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ० बी० आर० अम्बेडकर ने इस विषय पर विचार करते हुये कहा था कि "यह एक संघीय संविधान है क्योंकि यह दोहरे शासनतंत्र की स्थापना करता है । जिसमें केन्द्र में संघीय सरकार तथा उसके चारो ओर परिधि में राज्य सरकारे हैं जो संविधान द्वारा निर्धारित क्षेत्रों में सर्वोच्च सत्ता का प्रयोग करती है ।"[31] के० संथानम ने कहा था कि हमारा संविधान संघात्मक है और इसकी संघीयता न्यायपालिका द्वारा इतनी अच्छी तरह सुरक्षित है कि इसे संविधानिक संशोधन के अतिरिक्त भंग नही किया जा सकता ।"[32]

संविधान के अंगीकृत होने के बाद भी यह वाद विवाद समाप्त न हुआ और विभिन्न संविधानविज्ञ तथा राजनीतिशास्त्री उपरोक्त दोनों दृष्टिकोणों के पक्ष और विपक्ष में अपने-अपने मत व्यक्त करते रहे ।

29- शर्मा वी० एम०: संघवाद और संघात्मक शासन (हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश लखनऊ) पृष्ठ - 314, 315, 345.

30 - कोठारी रजनी: भारतीस सरकार एवं राजनीति पृष्ठ 78-79

31- अम्बेडकर बी० आर०: फेडरेशन वरसेस फ्रीडम (बाम्बे) आर० के० टेटनिस 1939, पृष्ठ 156

32- साथनंम के०: यूनियन स्टेट रिलेशन इन इंण्डिया (एशिया पब्लिशिंग हाऊस बाम्बे)

प्रसिद्ध लेखक के० सी० ह्येयर का कहना है कि भारतीय संविधान मूलतः एकात्मक संविधान है जिसमें गौड़ रूप से कुछ संघीय विशेषतायें पायी जाती है । उन्होने भारतीय संविधान को अर्द्धसंघात्मक संविधान कहा है ।[33]

जेनिंग्स ने भी लिखा है कि भारत एक ऐसा संघ है जिसमें केन्द्रीकरण की तीव्र प्रवृत्ति पाई जाती है"[34]

एलेन ग्लेडहिल ने भी इसी दृष्टिकोण से सहमति प्रकट की है भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी अनेक निर्णयों में प्रासंगिक रूप से भारतीय संविधान के संघात्मक होने की पुष्टि की है ।"[35]

इस प्रकार संविधान में भारत को 'राज्यों का संघ' कहा गया है किन्तु भारतीय संविधान विद्वानों के लिये एक प्रश्न चिन्ह बना हुआ है । संविधान निर्माण के समय से ही भारतीय शासन व्यवस्था की इस विशेषता पर देश विदेश में बौद्धिक दंगल छिड़ा हुआ है । इसका कारण यह है कि भारतीय संघवाद अपनी प्रकृति में अनोखा है । इसके अनेक रूप देखने में मिलते है । संविधान सभा में देश के शासन व्यवस्था के स्वरूप पर खुलकर बहसें हुई और तभी एक ऐसा संविधान अपनाया गया जो स्वरूप में संघात्मक किन्तु आत्मा में एकात्मक है । डॉ० रजनी कोठारी ने संविधान सभा द्वारा अंगीकृत शासन व्यवस्था के संघात्मक एकात्मक ढॉचे को कुछ ही पंक्तियों में निम्नलिखित रूप में चित्रित किया है-

"संसदीय शासन का ढॉचा स्वीकार किया गया, जिसमें केन्द्र और राज्यों में मन्त्रिमण्डल सरकारें बनाई गई और सरकार को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता और सामाजिक न्याय के लिये लोकतन्त्री ढंग से काम करने का निर्देश किया गया । राज्य की संस्थाओं का जो ढॉचा तैयार हुआ, वह स्वरूप में आधुनिक है किन्तु राष्ट्रीय एकता और सामाजिक साम्य के ख्याल से उसमें कुछ विशेष व्यवस्थायें की गई जिससे यह पश्चिमी नमूने से भिन्न हो जाता है । भारत का राष्ट्रपति केवल नाम का पद है, फिर भी उसको राज्यों में कानून और व्यवस्था भंग होने की स्थिति में बहुत अधिक आपातकालीन अधिकार दिये गये है ।

33- व्हेयर के० सी० : फेडरल गवर्नमेंट(आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, लंदन1963 पृष्ट 28)
34- जेनिंग्स सर आइवर : सम कैरेक्टरिस्टिक्स आफ इंडियन कांस्टीटयूशन (आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस, लन्दन 1953), पृष्ठ 1
35- ग्लेडहिल एलेन :'दि रिपब्लिक आफ इंडिया'(स्वीवेंस ऐंड संस; लंदन; 1951) पृष्ठ 92,

राज्यों के गवर्नर की नियुक्ति राष्ट्रपति करता है, राज्य की जनता या विधान मण्डल नही । केन्द्रीय सरकार की सलाह पर राष्ट्रपति आपातकालीन अधिकारों का प्रयोग और नियुक्तियाँ करता है । केन्द्रीय सरकार को देश के राजस्व का अधिकांश भाग और राज्यों पर प्रशासनिक और निर्देशन अधिकार दिये गये है । समवर्ती विषयों पर और अन्य कई मामलों में केन्द्रीय संसद के अधिकार राज्यों के ऊपर है और राज्यों में संविधानिक मशीनरी के टूट जाने पर संसद उनके विधान मण्डलों और शासन के अधिकार ले सकती है । केन्द्र के अवशिष्ट अधिकार भी दिये गये हैं । इस प्रकार केन्द्र को बहुत शक्तिशाली बनाया गया है । दूसरी ओर ग्राम-पंचायतों और स्वशासी संस्थाओं की स्थापना के द्वारा और राज्यों को शासन के बड़े काम सौंप कर शासन व्यवस्था को संघीय रूप दिया गया है । और शासन में जनता को तथा प्रान्तों, जिलों और गॉवों को भी हिस्सा दिया गया है ।"[36]

अमेरिका में केन्द्रीय सरकार राज्यों के अस्तित्व को खत्म नही कर सकती जबकि भारत में इकाई राज्यों का अस्तित्व संसद की दया पर निर्भर करता है अतः यह कहना गलत न होगा कि भारतीय संघ भले ही विनाशयोग्य न हो लेकिन राज्य विनाश योग्य है, अर्थात् राज्यों का बनाना या मिटाना संसद की इच्छा पर निर्भर करता है । इसलिये के० संथानम ने कहा है, "ऐसा लगता है कि इस मौलिक सिद्धान्त को कि एक संघ राज्यों की भौगोलिक अखंडता पर निर्भर करता है (भारत में) भुला दिया गया है ।[37]

विद्वान एलेक्जेंड्रोविकज़ का कहना है कि, "भारत निसन्देह एक ऐसा संघ है जिसमें सर्वोच्च सत्ता के गुणों में केन्द्र और राज्य सरकारें साझेदार है ।[38]

पाल एच० ऐपलबी ने भारतीय संविधान को अत्यधिक संघात्मक माना है ।[39] डॉ० सुभाष कश्यप का विचार है कि, "संविधान दोहरे शासन तन्त्र की स्थापना करता है । सरकारों की दो श्रेणियॉ है- संघ की सरकार और अवयवी राज्यों की सरकार । संविधान में संघ सरकार और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण किया गया है । संघवाद

36- कोठारी रजनी : भारतीय सरकार एवं राजनीति, पृष्ठ 78-79
37- संथानम के० : 'यूनियन स्टेट रिलेशंस इन इंडिया' (एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बंबई, 1963)
38- अलेक्जेंन्ड्रोविच सी० एच०: कांस्टिट्यूशन डेवलपमेंटस इन इंडिया (आक्सफोर्ड यूनिव० प्रेस, लंदन 1957) पृष्ठ 169.
39- ऐपलवी पाल : पब्लिक ऐडमिनिस्ट्रेशन इन इंडिया रिपोर्ट आफ ए सर्वे (गवर्नमेंट आफ इंडिया)

के इन बहिरंग लक्षणों के बावजूद भारतीय संविधान का प्रधान स्वर एकात्मकता का है।"[40] इस प्रकार संविधान विशेषज्ञों के मध्य संविधान के स्वरूप के विषय में विवाद बना हुआ है । संविधान अंगीकृत हो जाने के बाद भी यह विवाद समाप्त नही हुआ । हमारे संविधान निर्माताओं का ध्येय कोई मौलिक संविधान बनाना नही था अपितु वे तो एक 'कामचलाऊ' और 'व्यवहारिक' संविधान निर्मित करना चाहते थे। इसी कारण उन्होने प्रचलित संघीय संविधानों से केवल ऐसे तत्वों को लिया है जिन्हे उन्होने अपने लिये उपयोगी समझा ।

अतः जिस प्रकार राजनीतिक व्यवस्था के स्वरूप के बारे में विवाद बना हुआ है उसी प्रकार अथवा उससे भी कहीं अधिक असके संघीय स्वरूप के बारे में विवाद है और यह विवाद 1950 से जब से संविधान बना तब से बराबर चला आ रहा है । और इस विवाद का मुख्य बिन्दु यह है कि भारतीय व्यवस्था संघीय है अथवा नही ।

भारत में विघटनकारी प्रवृत्तियॉ 1947 ई० में भारत के बॅटवारे के बाद से ही समित रही है और राज्यों के पुनर्गठन के लिये आन्दोलन चले है । इसलिये श्री वी० वी० गिरि ने; जो उस समय मैसूर के राज्यपाल थे (बाद में भारत के उपराष्ट्रपति तथा राष्ट्रपति बने) भाषाओं के आधार पर राज्यों के पुनर्गठन पर शोक प्रकट किया और भारत में एकात्मक सरकार की स्थापना के लिये वकालत की । उन्होने अपनी इस मांग को 22 दिसम्बर 1967 को दोहराया जबकि उन्होने उत्तरी दिल्ली के रोटरी क्लब को सम्बोधित किया । इस समय वी० वी० गिरि भारत के उपराष्ट्रपति थे और बाद में भारत के राष्ट्रपति बन गये । 25 जनवरी 1973 को राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने 25वें गणराज्य दिवस की पूर्व सन्ध्या को राष्ट्र के नाम अपना परम्परागत सन्देश प्रसारित करते हुये आन्ध्र प्रदेश में यथाशीध्र हिंसा समाप्त करने तथा पुनः सामान्य स्थिति कायम करने की मांग की जिससे बिना किसी पूर्व शर्त या मान्यता के सभी दृष्टिकोंण पर पूरी तरह से खुलकर विचार विनिमय में सुविधा हो सके हिंसा और सार्वजनिक सम्पत्ति के विनाश को राष्ट्रीय हितों के विरूद्ध बताते हुये राष्ट्रपति ने अपने सन्देश में इस बात पर जोर दिया कि आन्ध्र प्रदेश के भावी स्वरूप के बारे में जो समस्यायें उठ खड़ी हुई है। उनके सभी पहलुओं पर अत्यन्त सावधानी से विचार की जरूरत है । सरकार कोई भी फैंसला धमकी

40- कश्यप सुभाष संविधान की आत्मा, पृष्ठ 76-77.

में आकर नही करेगी । भारत के भूतपूर्व मुख्य न्यायाधिपति श्री मेहर चन्द महाजन तथा हिदायतुल्ला ने भी भारत में विघटनकारी और संकुचित प्रवृत्तियों को देखते हुये एकात्मक सरकार का सुझाव दिया । भारतीय जनसंघ ने 1962. ई० में अपने चुनाव घोषणा पत्र में कहा कि, भारत के वर्तमान संविधान में केन्द्र को यूनियन कहकर और प्रान्तों को राज्य का नाम देकर इकाइयों का कुछ हद तक प्रभुता सम्पन्न दर्जा मान लिया गया है । यह भी राष्ट्रीय एकता के मार्ग में कुछ बाधा है । भारतीय जनसंघ संविधान में संशोधन करेगा और भारत में एकात्मक राज्य घोषित करेगा जिससे निचली इकाइयों को शक्ति देने के लिये विकेन्द्रीकरण की काफी व्यवस्था होगी । भारतीय जनसंघ ने इस विचार का तब से लेकर अप्रैल 1973 तक लगातार समर्थन किया क्योकि मार्क्सवादी संविधान की कार्यविधि में बाधा डालना तथा वर्ग युद्ध को तेज करना चाहते थे । इसके अतिरिक्त चूँकि कांग्रेस 1947 ई० से लेकर अब तक केन्द्र में प्रशासन करती रही थी, इसलिये भी हमारे देश में संघवाद की सीमाओं में रहते हुये केन्द्र को अधिक से अधिक बलशाली बनाने की प्रवृत्ति पायी जाती है ।

भारत में संकट कालीन घोषणाओं का अभी तक दुरूपयोग करके एकात्मक सरकार स्थापित नही की गई है बल्कि किसी खराब स्थिति को सुधारनें के लिये ही इनका थोड़े समय के लिये प्रयोग किया गया है । पंजाब, आन्ध्र, हरियाणा, बंगाल, यू० पी०, बिहार, उड़ीसा, गुजरात, मणिपुर, जम्मू कश्मीर, नागालैंड, तमिलनाडु, पांडिचेरी तथा केरल में खराब स्थिति को सुधारने के लिये संकटकालीन घोषणा की गई और ज्यों ही वह परिस्थिति दूर हुई, त्योंहि वहॉ चुनाव कराके उत्तरदायी सरकार दुबारा स्थापित कर दी गई।इसलिये हम कह सकते है कि भारत में संघात्मक सरकार ही है परन्तु देश में एकता कायम करने के लिये ही केन्द्र को संघवाद की सीमाओं में रहते हुये अधिक से अधिक बलशाली बनाने का यत्न किया गया है ।

संघात्मक सरकार का मुख्य लक्षण संविधान द्वारा विधायी तथा कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्र और इकाइयों में वितरण करना है । इस सिद्धान्त का हमारे संविधान में अनुसरण किया गया है अतः यह कहना असत्य है कि राज्यों को केन्द्र के अधीन रखा गया है । केन्द्र अपनी इच्छा से विभाजन रेखा बदल नही सकता । इसमें न्यायालय भी परिवर्तन नही कर सकते । वे संशोधन कर सकते है, किन्तु वितरण को नही बदल सकते

। नई युक्तियाँ तथा नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर न्यायालय इन उपबन्धो की व्याख्या में कुछ अन्तर ला सकते हैं । किन्तु फिर भी निश्चित रूप से विपरीत सत्ता द्वारा ऐसी सीमा रेखा सी बन जाती है जिसे वे लाँघ नही सकते न ही वे निश्चित रूप से दी गई शक्तियों का पुर्नविभाजन ही कर सकते हैं । सत्ता वितरण की वर्तमान व्यवस्था को न्यायालय द्वारा व्यापक रूप दिया जा सकता है किन्तु एक अधिकारी को नही सौंप सकते है ।

भारतीय संघवाद में केन्द्रीय शासन और उपराज्यों के सम्बन्धों को इतना घनिष्ठ कर दिया गया है कि संविधान के भाग-11 में अनुच्छेद 245-255 में उनके विधायी सम्बन्ध; अनुच्छेद 256-263 में प्रशासनिक सम्बन्ध साधारण और जल सम्बन्धी विवाद और सामान्य समन्वय की प्रक्रियाओं तथा भाग-18 की 352-360 अनुच्छेद में आपात उपबन्धों का स्पष्टीकरण कर दिया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि भारतीय संघवाद में संघात्मक प्रणाली का रूप राष्ट्रींय एकता को दृढ़ करता है । इसके अनुसार सामान्यतः भारतीय गणराज्य संघात्मक ही है, किन्तु संकटकाल मे केन्द्रीय शासन को ऐसी विशिष्ट शक्तियॉ औंर अधिकार प्राप्त है कि गणराज्य का रूप ऐकिक राज्य के जैसा हो जाता है ।

भारतीय प्रशासन में व्यवहार में आपात शक्तियों के प्रयोग में अथवा विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय सम्बन्धो के क्षेत्र में राज्यों पर छा जाने की प्रवृत्ति केन्द्र में कभी नही है, अधिकांशतः राज्य केन्द्र की नीति को पर्याप्त मात्रा में प्रभावित करते रहे है । केन्द्र महत्वपूर्ण मसलों पर राज्यों के परामर्श को महत्व देता रहा है और उसका सदैव यही प्रयास रहा है कि प्रत्येक राज्य को अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य करने का अवसर मिलता रहे ।

भारत में केन्द्र तथा राज्यों का सम्बन्ध विधायिनी तथा प्रशासकीय में विभाजित किया जा सकता है । संविधान की 7वीं अनुसूची को 3 सूचियों में विभाजित किया गया है जो केन्द्र राज्य तथा निर्दिष्ट शक्तियों का वितरण करती है । जबकि देश में दो सरकारें मिलकर कार्य करती है तो नागरिको के सामाजिक तथा आर्थिक क्षेत्र में उन्नति के लिये उन्हे मिलकर ही कार्य करना पड़ता है । संविधान के 256 वें अनुच्छेद मे कहा गया है कि, "प्रत्येक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार होगा कि जिससे संसद द्वारा निर्मित विधियों का तथा किन्ही वर्तमान विधियों का जो उस राज्य में लागू है पालन

सुनिश्चित रहे तथा संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार किसी राज्य को ऐसे निर्देश देने तक विस्तृत होगा जो कि भारत सरकार को उस प्रयोजन के लिये आवश्यक दिखाई दे ।"[41]

अनुच्छेद 257 राज्य सरकारों को ऐसा कार्य करने को मना करता है । जिसमें केन्द्र सरकार को कार्य करने में रूकावट पड़ती है । यह दोनो अनुच्छेद प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से राज्यों की कार्यकारिणी शक्ति पर नियंन्त्रण लगाते हैं और संघ सरकार को अपने कार्य करने में पूर्ण स्वतन्त्रता देते हैं । निस्सन्देह यह एक ऐसी रूकावट है जो दूसरे संघ शासनें मे नही पायी जाती है ।

प्रशासकीय विचार के अनुसार विधायनी समवर्ती सूची के विषयों को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । प्रथम वह विषय जो सामाजिक तथा आर्थिक कल्याण से सम्बन्धित होते हैं, द्वितीय वह विषय जो शान्ति, सुव्यवस्था तथा व्यक्ति के अधिकार क्षेत्र का उपयोग या तो न्यायालय द्वारा होता है या राज्यों द्वारा, परन्तु ऐसे मामलों में केन्द्रीय सरकार दूसरे प्रकार के विषयों में खनिज पदार्थ, फैक्टरियॉ, श्रमिक वर्ग, श्रमिकों के उद्योग धन्धे, श्रमिकों का कल्याण छूआछूत की बीमारी, बिजली तथा चलचित्र सम्मिलित है । इन विषयों पर बिना किसी रोक टोक के संघीय सरकार संघीय कानूनों को लागू करने के लिये आज्ञायें दे सकती है ।

प्रशासकीय क्षेत्र में संविधान का अनुच्छेद 260 कहता है कि, "भारत सरकार किसी ऐसे राज्य क्षेत्र की सरकार में निहित किसी कार्यपालक विधायी या न्यायिक कृत्यों को ग्रहण कर सकेगी । किन्तु प्रत्येक ऐसा करार विदेशी क्षेत्राधिकार के प्रयोग से सम्बन्ध किसी तत्समय प्रवृत्त विधि के अधीन रहेगा और उससे शासित होगा ।"[42] राज्य सरकार के परामर्श से राष्ट्रपति सरकारी कर्मचारियों के उपर नियंन्त्रण रख सकता है । संविधान में पुनः कहा गया है कि भारत सरकार राज्य सरकार की सहमति से कोई भी कार्यकारिणी, विधायिनी न्यायिक शक्तियॉ जो राज्याधीन हैं ले सकती है । इस प्रकार केन्द्र सरकार की शक्तियॉ बहुत ही विस्तृत है ।

---

41 - पायली एम० वी० : इण्डियास कान्स्टीटयूशन, पृष्ठ, 289-90
42 - पायली एम० वी० : इण्डियास कान्स्टीटयूशन, पृष्ठ, 289-90

संविधान संघ और राज्य की विधायिनी शक्तियों का उल्लेख करता है । इसके अतिरिक्त समवर्ती शक्तियों का भी वर्णन करता है । समवर्ती शक्तियों में कई प्रकार की शक्तियों का वर्णन मिलता है । संविधान के अनुच्छेद 248 में कहा गया है कि अवशिष्ट शक्तियॉ केन्द्र के पास रहेंगी । जबकि राज्यों के पास राज्य सूची है । अनुच्छेद 249(1) कहता है कि "इस अध्याय के पूर्वगामी उपबन्धो में किसी बात के होते हुये भी यदि राज्य सभा ने उपस्थित और मत देने वाले सदस्यों के दो तिहाई बहुमत से समर्पित संकल्प द्वारा घोषित किया है कि "राष्ट्रीय हित में यह उल्लिखित किसी विषय के बारे मे विधि बनाये तो जब तक वह संकल्प प्रवृत्त है संसद के लिये उस विषय के बारे में भारत के सम्पूर्ण राज्य क्षेत्र अथवा उसके किसी भाग के लिये विधि बनाना विधि संगत होगा ।"[43]

कानूनों की व्याख्या तथा कानूनों की मान्यता चाहे वह राज्य सरकार के हों अथवा केन्द्र सरकार के उच्चतम न्यायालय ही करता है और उसका निर्णय अन्तिम माना जाता है । लेकिन संविधान के अनुच्छेद 132 में कहा गया है कि संकटकाल समय में राष्ट्रपति राज्य के लिये किसी भी कानून को बना सकता है ऐसी दशा में राज्यपाल भी राष्ट्रपति द्वारा नियन्त्रित होता हैं । संकटकाल समय में राज्य के सभी मामले केन्द्र द्वारा नियंत्रित होते है ।

संकटकाल में केन्द्र सरकार राज्य सरकारों के ऊपर पूर्णरूपेण नियन्त्रण रखती है । यह नियंन्त्रण संयुक्त राज्य अमेरिका के संविधान के अनुच्छेद (1) के खण्ड 18 के उपखण्ड 8 के आधार पर बनाया गया है । अमरीका में अवशिष्ट शक्तियॉ राज्यों को दी गई हैं, और केन्द्र के पास केवल लिखित शक्तियॉ हैं । इन्ही अधिकारों के आधार पर निहित शक्तियो के सिद्धान्त का उदय हुआ । किन्तु भारत में ऐसे किसी भी सिद्धान्त की आवश्यकता नही थी क्योंकि संविधान के अनुच्छेद 249 में कहा गया है कि यदि किसी विषय पर राष्ट्रीय सरकार कोई नियम बनाने में इच्छुक है चाहे वह विषय पर संघ तथा राज्य सरकार में मतभेद उत्पन्न हो जाये कि, "यदि किन्ही दो अथवा अधिक राज्यों के विधानमण्डलों को यह वांछनीय प्रतीत हो कि उनके विषयों में से, जिनके बारे में संसद को अनुच्छेद 249 और 250 में उपबन्धित रीति के अतिरिक्त उन राज्यों के लिये विधि बनाने

43- पायली एम० वी० : इण्डियास कान्स्टीटयूशन, पृष्ठ, 289-90

की शक्ति नही है; किसी विषय का विनियमन ऐसे राज्यों में संसद विधि द्वारा करे तथा यदि उन राज्यों के विधानमण्डलों के सब सदनें ने उस लिये संकल्प का पारण किया है तो उस विषय का तद्‌नुकूल विनियमन करने के लिये किसी अधिनियम का पारण करना संसद के लिये विधि संगत होगा तथा इस प्रकार पारित कोई अधिनियम ऐसे राज्यों को लागू होगा तथा किसी अन्य राज्य को; जो तत्पश्चात् अपने विधानमण्डल के सदन अथवा जहॉ दो सदन हो, वहॉ दोनों सदनों में से प्रत्येक से उस लिये पारित संकल्प द्वारा उसको अंगीकार करे, लागू होगा ।"[44] अनुभव इस बात से अवगत कराते है कि प्रत्येक संघ में केन्द्र तथा राज्यों के सम्बद्ध जीवन की कठिन समस्याओं के उद्‌गम रहे है ।

उपरोक्त विचारों के आधार पर भारत में संघ तथा राज्यों का सम्बन्ध विभिन्न परिस्थितियों, राष्ट्रीय आवश्कताओं, अन्तर्राष्ट्रीय शक्तियों, देश की सामाजिक तथा आर्थिक उन्नति तथा सार्वजनिक शक्तियों के आधारों पर आधारित है। राज्यों की सीमाओं को निर्धारित करने की मांग, भाषा एंव संस्कृति के आधार पर नये राज्यों की सीमा और पड़ोसी राज्यों के व्यवहार ने संविधान को नयी परिस्थितियों द्वारा सुलझाने को विवश कर दिया है ।

संघवाद के ऐतेहासिक अध्ययन से ज्ञात होता है कि संघीय शासन प्रणाली के अन्तर्गत अल्पमत वालों के जीवन शान्ति तथा रक्षा को किस प्रकार से ध्यान में रखा गया है; यद्यपि उस समय और आज भी राजनैतिक जीवन में उतार चढ़ाव तथा युद्ध आदि हुये, परन्तु इसमें कोई सन्देह नही है कि संघीय शासन प्रणाली में अल्पमत लोगों की पूर्ण रूप से रक्षा की गई है । देश की एकता को कायम रखने के उद्देश्य से सुदृढ़ सरकार स्थापित करने के लिये और निर्धनता तथा भुखमरी एंव असमानताओं को शीघ्रतापूर्वक दूर करने के लिये नीतियों और योजनाओं के सरलतापूर्वक निष्पादन की व्यवस्था के लिये और समृद्धिशाली तथा शक्तिशाली राज्य की प्राप्ति को तीब्र गति प्रदान करने के लिये संविधान एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना करता है । देश में पायी जाने वाली आर्थिक, भाषीय और राजनैतिक दशाओं में संविधान संघीय होंने के अतिरिक्त कुछ नही हो सकता था । भारत में अंग्रेजों की सबसे महत्वपूर्ण सिद्धि देश के उन विभिन्न भागों का एकीकरण थी ।

44- पायली एम० वी० : इण्डियास कान्स्टीटयूशन, पृष्ठ, 289-90

जिन्होने मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर अपनी स्वतंन्त्रता अथवा अर्द्ध-स्वतन्त्र सरकारों की स्थापना की थी । किसी अन्य विचार की अपेक्षा प्रशासकीय सुविधा के विचारों से प्ररित होकर अंग्रेजों ने शनैः-शनैः किन्तु दृढ़तापूर्वक समस्त देश केन्द्रीय सरकार के घेरे के अन्तर्गत कर दिया लेकिन राष्ट्रवाद के उदय के साथ दो विपरीत किन्तु परस्पर विरोधी नयी प्रवृत्तियॉ प्रकाश में आयी । एक ओर तो भारत के लिये स्वशासन अथवा स्वराज्य कि मांग की गई और दूसरी ओर प्रत्येक प्रान्त की जनता को अपनी विशेष आवश्यकताओं के अनुसार अपने भाग्य निर्माण के योग्य बनाने के लिये प्रथम व्यवहारिक पग के रूप में प्रान्तीय स्वराज्य पर बल दिया गया । सन् 1833 से 1906 तक मान्य केन्द्रीकरण की नीति को बदलना पड़ा तथा 1909 के मिन्टो मार्लो सुधार विकेन्द्रीकरण के विचार पर आधारित थे केवल संघ के विचार को ही व्यवहार में अनुसरण के योग्य बना दिया । सन् 1928 में नेहरू समिति ने भारत के संघीय संविधान का सुझाव रखा था इसके सामने भारत सरकार अधिनियम 1919 था जिसकी प्रस्तावना में कहा गया था, "और इसलिये भारत के प्रान्तों को प्रान्तीय विषयों में भारत की सरकार से अधिक मात्रा में स्वतन्त्र रखा जाये जो कि उस(भारत सरकार) के उत्तरदायित्वो को पूर्ण करने के अनुरूप है" आदि । सन् 1930 की साइमन कमीशन रिपोर्ट के सुझाव का आधार भी संघ सिद्धान्त था । 1930 की शरद ऋतु में होने वाले गोलमेज सम्मेलन मे भी देशी रियासतों को सम्मिलित करते हुये अखण्ड भारत संघ पर स्वीकृति प्रदान की थी । अत· 1935 के भारत सरकार अधिनियम में निहित संघ का आधार ब्रिटिश भारत के नेताओं, देशी रियासतों के शासकों और ब्रिटिश सरकार द्वारा स्वीकृत संघीय विचारधारा द्वारा भली-भॉति तैयार किया जा चुका था । यह सहमति संघ के अविरल सिद्धान्त का आधार बनी ।

भारत सरकार अधिनियम 1935 ने एक ऐसी संघीय व्यवस्था पर विचार प्रस्तुत किया जिसमें कुछ प्रतिकूल लक्षण भी थे । इसकी प्रथम विषमता इकाइयों की असमान स्थिति थी । संघ में शामिल होने वाली देशी रियासतों की अपेक्षा ब्रिटिश प्रान्तों पर केन्द्र का अधिक नियन्त्रण रखा गया था । प्रान्तों में संसदीय व्यवस्था को प्रचलित रखा गया था जबकि देशी रियासतें, देशी राजाओं, जिन्हे अपनी सरकार पर पर्याप्त रूप से विदेशी सत्ता के प्रयोग की अनुमति प्राप्त थी, के अधीन रखे गये थे । इसके अन्तर्गत सामान्य संघीय नागरिकता नही थी । संघीय विधानमण्डल के दोनों सदनों के निर्वाचन के विषय में

इकाइयों के लिये समान पद्धति नही थी, प्रो० कीथ इस संघीय योजना को एक ऐसी योजना कहते है जो कि, "संघ को अद्वितीय विशेषता प्रदान करती है और कुछ प्रतिकूल लक्षणों को जन्म देती है ।"[45]

संघ और राज्यों में कार्यपालिका सम्बन्ध-

कार्यपालिका सम्बन्ध के विषय में यह निश्चित कर दिया गया है कि राज्य अपनी कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार करेंगे कि संसद द्वारा निर्मित विधि का पालन हो और संघ की कार्यपालिका शक्ति पर न तो किसी प्रकार का कुप्रभाव पड़े और न उसके प्रयोग में अड़चन संघ की सरकार राज्यों की सरकारों को यह आदेश दे सकेगी, कि वे राष्ट्रीय महत्व के यातायात के मार्गों को बनावे और अपने राज्य क्षेत्र के भीतर स्थित इन मार्गों तथा रेलों का संरक्षण करे(अनुच्छेद 257) राष्ट्रपति राज्य की सरकार की अनुमति से उसके किसी पदाधिकारी को ऐसे काम दे सकेंगे जो संघीय कार्य क्षेत्र से सम्बद्ध हो । संकट के काल में राष्ट्रपति राज्यपाल को आवश्यक आदेश दे सकेंगे । जो संघीय कार्य क्षेत्र से सम्बद्ध हो । संकट के काल में राष्ट्रपति; राज्यपालों को आवश्यक आदेश दे सकेंगे । यदि कोई राज्य; राष्ट्रपति के नियमाकूल जारी किये गये कार्यपालिका आदेश का उल्लंघन करेगा; तो राष्ट्रपति इसे संवैधानिक कार्यपद्धति की विफलता समझेंगे और सम्बद्ध राज्य के कार्यपालिका अधिकार अपने अधीन कर सकेंगे ।

संघ की संघातरित राज्यों की कार्यपालिका के सम्बन्ध में भी संघ सरकार की प्रभुता प्रायः प्रत्येक विषय में कायम रखी गयी है । राज्यों की सरकार के अधिकार बड़े परिमत है और अनेक अवसरों पर उन्हें न्यूनाधिक संघ सरकार के अधीन काम करना पड़ता है । इसलिये यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान देखने में तो संघात्मक है पर वास्तव में वह एकात्मक दिशा की ओर झुका हुआ है । भारत की संचित निधि तथा विभिन्न राज्यों की संचित निधियाँ बनाई गई हैं ।

1. संघ और राज्यों की समस्त आय अपनी-अपनी निधियों में जमा होती हैं ।

45- काश्यप सुभाष : भारत का संविधान और संवैधानिक विधि ।

2. भारत की या राज्य की संचित निधि में से कोई धन विधि की अनुकूलता से तथा इस संविधान में उपबंधित प्रयोजनों और रीति से अन्यथा विनियुक्त नही किया जायेगा ।
3. संसद अपनी विधि द्वारा और राज्य का विधानमण्डल अपनी विधि द्वारा; अग्रदाय के रूप में आकस्मिक निधि की स्थापना करेंगे । यह विधि राष्ट्रपति, राज्यपाल के अधीन होगी और इसमें से वे आकस्मिक व्यय के लिये अग्रिम धन दे सकेंगे ।
4. विधि के अधिकार के सिवाय कोई कर न तो आरोपित और न संग्रहित किया जायेगा ।
5. संविधान द्वारा संघ और संघातरित राज्यों के आय के साधन निर्धारित कर दिये गये हैं । संघातरित राज्यों की आय की मदों की सब आय राज्यों को मिलेगी । इसके अतिरिक्त उन्हे संघीय आय की कुछ मदों का अंश मिलेगा ।

संविधान द्वारा भारतीय संघ की सर्वश्रेष्ठ कार्यपालिका शक्ति निर्वाचित राष्ट्रपति को दी गई है । वह इसका प्रयोग संविधान के अन्तर्गत या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है । संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समादेश राष्ट्रपति में निहित है और उसका प्रयोग विधि से विनियमत होता है । प्रो० ली स्मिथ का विचार था कि "भारतीय संघीय पद्धति एक अनजानी पद्धति होगी ।"[46] बी० एन० शुक्ल के अनुसार संघात्मक सरकार में शक्तियों का बंटवारा आवश्यक है । संयुक्त राज्य अमेरिका में केन्द्रीय सरकार की शक्तियॉ संविधान में निश्चित कर दी गयी है और शेष शक्तियॉ राज्यों को दे दी गई हैं । कनाडा के संविधान में बिलकुल उलटा किया गया है । वहॉ पर शेष शक्तियॉ केन्द्र को दे दी गई है । भारत के संविधान में शक्तियों का बंटवारा 1935 के एक्ट के सिद्धान्तों और आदेशों के अनुसार किया गया है ।

राज्यों तथा संघ में विधायी सम्बन्ध-

भारत में संघात्मक संविधान की स्थापना की गयी है । संघात्मक सरकार की यह विशेषता है कि इसमें शक्तियों का बंटवारा इकाइयों तथा केन्द्र में होता है । संघात्मक सरकार दूसरी विशेषता है इसमें संविधान सर्वोच्च माना जाता है और यह लिखित तथा

46- प्रो० स्मिथ ली

दुष्परिवर्तनीय होता है । तीसरे इसमें उच्चतम न्यायालय संविधान की व्याख्या करता है तथा केन्द्र और इकाइयों में संवैधातिक झगड़ों का निर्णय करता है । भारतीय संविधान में यह सारी विशेषतायें पायी जाती है ।

भारतीय संविधान में शक्तियों के विभाजन के लिये तीन सूचीयॉ दी गई हैं पहली संघ सूची, दूसरी राज्य सूची और तीसरी समवर्ती सूची है ।

संघ सूची में केवल 97 विषय रखे गये है । संघ सूची में प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, नोट व मुद्रा; डाक व तार, विदेशों से वाणिज्य और व्यापार, यातायात, रेलवे, बॉटों व मापों की मान स्थापना और बीमा आदि सम्मिलित किये गये है ।

संघ सूची पर कानून बनाने का अधिकार केवल संसद के पास है । राज्यों के विधानमण्डल उनके सम्बन्ध में कोई कानून नही बना सकते ।

समवर्ती सूची में 47 विषय शामिल हैं । उदाहरणार्थ इसमें बिजली, पागलखाने, व्यवहार प्रक्रिया, दण्ड विधि आर्थिक और सामाजिक आयोजन, विवाद और विवाद विच्छेद; जीवन सम्बन्धी सांख्यिकी जिसमें जन्म और मृत्यु का पंजीयन भी शामिल है । समाचार पत्र, पुस्तकें और मुद्राणालय; विधि वृत्तियॉ; और अन्य वृत्तियॉ, न्यास और न्यासी; कारखाने, मूल्य नियंन्त्रण और खाद्य पदार्थों और अन्य वस्तुओं का अपमिश्रण इत्यादि शामिल है ।

समवर्ती सूची पर राज्य के विधानमण्डलों और संसद दोनों को कानून बनाने का अधिकार है परन्तु संविधान में लिखा गया है कि यदि दोनों एक दूसरे के विरोधी कानून बना दें तो उस समय राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाया हुआ कानून रद्द समझा जाएगा और संसद का कानून लागू होगा ।

राज्य सूची में ऐसे विषय रखे गये हैं जिन पर प्रायः संघीय सरकार को कानून बनाने की आवश्यकता नही है और जो केवल राज्यों की सरकारों के लिये ही महत्व के है । राज्य सूची में कुल 66 विषय रखे गये है । उदाहरणार्थ- पुलिस, न्याय प्रशासन, स्थानीय स्वशासन, कृषि, अंगहीनों और नौकरी के लिये अयोग्य व्यक्तियों की सहायता, जंगल, राजस्व जेल तथा सुधार गृह इत्यादि इस सूची में शामिल है । राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार यद्यपि राज्यों के विधान मण्डलों को दिया गया है, तथापि इनकी शक्तियों पर कुछ परिसीमाऍ लगाई गई है । उदाहरण स्वरूप यदि राज्यपाल के प्रतिवेदन

पाने के पश्चात अथवा अन्य किसी तरीके से राष्ट्रपति की सन्तुष्टि हो जाये कि किसी राज्य में सरकार संविधान के अनुसार नही चलायी जा सकती, तो वह संवैधानिक आपात की घोषणा कर देता है(अनुच्छेद 356) इसका यह प्रभाव होगा कि संसद को राज्य सूची पर कानून बनाने का अधिकार होगा ।

यदि केन्द्रीय सरकार ने किसी अन्य देश की सरकार से कोई सन्धि कर ली है तो वह सब राज्यों पर लागू होगी । संसद उसको व्यवहारिक रूप देने के लिये किसी प्रकार का कानून बना सकती है, चाहे वह विषय राज्य सूची में ही क्यों न हों ।

यदि राष्ट्रपति आपात उदघोषणा कर दे तो उस समय राष्ट्रपति के पास राज्य की कार्यपालिका की सारी शक्तियॉ आ जायेगी और संसद के पास राज्य के विधानमण्डल की सारी शक्तियॉ आ जायेगी । संसद को उस समय राज्य सूची पर कानून बनाने का पूर्ण अधिकार होगा ।

यदि किसी एक राज्य का विधानमण्डल या अधिक राज्यों के विधानमण्डल संसद से राज्य सूची के विषय पर कानून बनाने की प्रार्थना करें, तो संसद उस विषय पर कानून बना सकती है परन्तु ये कानून उन्ही राज्यों में लागू होंगे, जिन्होने इसके लिये प्रार्थना की थी ।(अनुच्छेद 252)

यदि राज्य सभा उपस्थित और मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से एक प्रस्ताव पास कर दे कि राज्य सूची का कोई विषय राष्ट्रीय महत्व का बन गया है तो उस समय संसद को उस विषय पर निर्धारित समय के लिये कानून बनाने का अधिकार हो जायेगा (अनुच्छेद 249) ।

अवशिष्ट शक्तियॉ-

इनको भी भारतीय संविधान में केन्द्र के अधीन किया गया है न कि इकाइयों के । इसका यह अर्थ है कि ऐसे विषय जो न तो संघ सूची में शामिल किये गये है । और न ही राज्य सूची तथा समवर्ती सूची में, उन पर कानून बनाने का अधिकार संसद को होगा न कि राज्य विधान मण्डलों को । अमेरिका में अवशिष्ट शक्तियॉ राज्यों को दी गई है । आस्ट्रेलिया में भी अमेरिका के ही मॉडल को बनाया गया है । वहॉ पर केन्द्रीय सरकार की शक्तियों का वर्णन कर दिया गया है और राज्यों की सरकारों के पास शेष

शक्तियॉ छोड़ दी गई है । कनाडा में अमेरिका की पद्धति को नही अपनाया गया है । यहाँ पर राज्यों की सरकारों की शक्तियों को निश्चित किया गया है । और केन्द्र को अवशिष्ट शक्तियॉ दी गई है । भारत में भी कनाडा की पद्धति को (अवशिष्ट शक्तियों के बारे में) अपनाया गया है ।

ऊपर लिखे हुये केन्द्र और राज्यों के सम्बन्ध से पता चलता है कि केन्द्रीय सरकार को शक्तिशाली बनाने का विशेष प्रयत्न किया गया है । संसद को संघ सूची और समवर्ती सूची पर कानून बनाने का अधिकार दिया गया है । चूँकि अवशिष्ट शक्तियॉ केन्द्र को दी गई है । अतः केन्द्र की शक्तियॉ सदैव बढ़ती रहेगी और राज्य की शक्तियॉ सीमित होती रहेंगी ।

राज्य तथा संघ में प्रशासकीय सम्बन्ध-

संघीय अथवा केन्द्रीय सरकार का राज्यों की सरकारो पर निम्न लिखित मामलो मे नियंत्रण है-

1. राष्ट्रपति को राज्यपाल की नियुक्ति का पूर्ण अधिकार होता है । राष्ट्रपति व्यवहार में प्रायः प्रधानमंत्री की सलाह के अनुसार ही ऐसी नियुक्ति करता है परन्तु उसको राज्यों के विधानमण्डल अथवा राज्यों के मंत्रिमण्डल से परामर्श लेने की आवश्यकता नही है । राज्यपाल राज्य के मुखिया होते है और उनके द्वारा केन्द्रीय सरकार देश में शासन सम्बन्धी एकता को स्थापित करने का यत्न करती है । यद्यपि संविधान के अनुसार राज्यपालों को केवल वैधानिक मुखिया बना दिया गया है तथापि कुछ विशेष परिस्थितियों में उन्हे राष्ट्रपति की आज्ञा के अनुसार मनमानी करने की भी शक्तियॉ दी गई है ।
2. केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को यह आदेश दे सकती है कि वे अपनी शक्तियों का प्रयोग इस तरह से करें जिससे केन्द्रीय सरकार की कार्यपालिका शक्तियों के प्रयोग में कोई अड़चन उपस्थित न हो ।
3. ऐसी नदियों के सम्बन्ध में जो एक से अधिक राज्यो के भीतर से होकर गुजरती हैं । संसद को तमाम झगड़ों के निपटाने और उनके सम्बन्ध में कानून बनाने का अधिकार है ।

4. यदि राष्ट्रपति बाहरी आक्रमण युद्ध अथवा युद्ध की सम्भावना के कारण संकट कालीन अवस्था की घोषणा करे तो राष्ट्रपति राज्यों की सरकारों की नीतियों मे मेल उत्पन्न करने के लिये राज्यों की सरकारों के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुला सकता है और उनको कुछ सिफारिशे कर सकता है ।
5. केन्द्रीय सरकार भारत के सारे राज्यों में शासन सम्बन्धी एकता स्थापित करने और केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों की नीतियों में मेल उत्पन्न करने के लिये राज्यों की सरकारो के प्रतिनिधियों का सम्मेलन बुला सकती है ।
6. केन्द्रीय सरकार राज्यों के भीतर संचार साधनों की देखभाल तथा रेलों की सुरक्षा के लिये भी आदेश जारी कर सकती है । राज्यों के आपसी झगड़ों को निपटाने के लिये राष्ट्रपति कोई परिषद बना सकता है ।
7. जब राज्यपाल से रिपोर्ट पाकर अथवा किसी अन्य तरीके से राष्ट्रपति को विश्वास हो जाये कि किसी राज्य में संविधान के अनुसार सरकार नही चलायी जा सकती तो राष्ट्रपति उस राज्य में वैधानिक संकट की घोषणा कर देता है । उस समय राष्ट्रपति का शासन घोषित कर दिया जाता है । और राज्यपाल को राष्ट्रपति की आज्ञा के अनुसार राज्य का शासन चलाना पड़ता है । मंत्रिमण्डल को प्रायः ऐसी अवस्था में समाप्त कर दिया जाता है । और कुछ समय के पश्चात नये चुनाव कराये जाते हैं ।
8. जो कार्य केन्द्रीय कार्यपालिका के क्षेत्र में आते है और उनको राज्यों के अधिकारी व्यवहार में लाते है तो उस विषय में केन्द्रीय सरकार उन अधिकारियों को अधिक वेतन दे सकती है और अधिक शक्ति प्रदान कर सकती है ।

संघ और राज्यों में वित्तीय सम्बन्ध-

किसी देश के शासन को चलाने के लिये धन का बहुत महत्वपूर्ण स्थान है । धन के बिना सरकार ठीक तरह से नही चल सकती है । अतः विधान में राज्यों की सरकारों तथा केन्द्रीय सरकारों को आमदनी के काफी साधन दिये गए हैं ।

संविधान में केन्द्र तथा राज्यों में बंटवारा निम्न लिखित प्रकार से दिया गया है -

स्टाम्प फीस, दवाइयों और श्रृंगार की वस्तुओं पर ऐसे उत्पादन शुल्क जो संघ सूची में बयान किये गये हैं भारत सरकार द्वारा लगाये जायेंगे। परन्तु वे राज्यों को सौंप दिये जायेंगे-

1. कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के उत्तराधिकार के सम्बन्ध में शुल्क।
2. समाचार पत्रों की खरीद व विक्री तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर टैक्स।
3. रेल, समुद्र या वायु से ले जायी जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर।
4. रेल भाड़ों और वस्तु भाड़ों पर कर।
5. कृषि भूमि पर आमदनी को छोड़कर अन्य सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्पदा शुल्क।
6. शेयर बाजार और सट्टे (वायदा बाजारों) के सौदों पर मुद्रॉक शुल्क (Stampdutees) के अतिरिक्त अन्य टैक्स।

राज्यों की सरकारों को निम्नलिखित साधनों से आय है-

1. भू-राजस्व
2. उत्पादन कर (Excise)- यह शराब, अफीम, भांग और पोस्त आदि पर लगाया जाता है।
3. बिजली टैक्स
4. विलास की वस्तओं पर कर
5. कृषि पर कर
6. समाचार पत्रों में होने वाले विज्ञापनों को छोड़कर अन्य विज्ञापनों पर कर
7. प्रति व्यक्ति कर
8. आमोद शर्त लगाने और जुआँ आदि खेलने पर कर
9. जंगलात
10. मुद्रांक शुल्क (राज्यों की सरकारों को अदालती टिकट तथा व्यापारिक टिकटों से भी वहुत आमदनी है।
11. खनिज अधिकारों पर कर
12. वृत्तियों, व्यापारों, आजीविकाओं और नौकरियों पर कर
13. पथ कर

14. वाहन पर कर तथा सड़कों और देश के अन्दर के जलमार्गों से ले जाए जाने वाले यात्रियों पर कर

15 समाचार पत्रों को छोड़कर अन्य वस्तुओं की खरीद और बेच पर कर ।

केन्द्रीय सरकार आयकर को उगाहती है परन्तु इसे केन्द्रीय सरकार तथा राज्यों की सरकारों में वित्त आयोग की सिफारिशों के अनुसार बॉट दिया जाता है । केन्द्रीय सरकार को आयकर पर अधिभार लगाने का भी अधिकार है । उसकी आमदनी केन्द्र रख सकता है । आय कर से होने वाली 75 प्रतिशत आय राज्यों में और एक प्रतिशत केन्द्र प्रशासित इलाकों में बांट दी जाती है । राज्यों में संघीय उत्पादन कर का कुछ भाग भी बॉट दिया जाता है । संविधान में कहा गया है कि इस संविधान के आरम्भ होने से दो वर्ष की अवधि के भीतर राष्ट्रपति एक वित्त आयोग की स्थापना करेगा जिसका एक सभापति होगा और उसके चार अन्य सदस्य होंगे । प्रत्येक पाँच वर्ष के बाद एक नया वित्त आयोग स्थापित किया जायेगा । संसद उसके लिये योग्यतायें और उसकी नियुक्ति का तरीका निश्चित करेगी ।

विधायिनी शक्ति के उच्च्च विभाजन से यह पता चलता है कि :-

1. भारतीय संविधान अत्यधिक एकात्मक दिशा कि ओर झुका हुआ है । संघीय संसद, संघीय, समवर्ती तथा अवशिष्ट विषयों की विधि बना सकती है । समवर्ती विषयों में उसकी विधि राज्य की विधि से श्रेष्ठतर होगी और यदि राज्य की विधि उससे असंगत होगी; तो संघीय विधि ठीक और राज्य की विधि असंगत अंश तक रद्द समझी जायेंगी । यह राज्य सूची के विषयों की भी विधि बना सकती है । इसके लिये तीन शर्तो की पूर्ति आवश्यक है -

   I. यदि राज्य सभा दो तिहाई बहुमत से इस आशय का प्रस्ताव पास करे

   II. यदि संबद्ध राज्यों के विधानमण्डल संसद से इस प्रकार की विधि बनाने की प्रार्थना करें;

   III. यदि असाधारण परिस्थिति की घोषणा की जाय । ऐसी अवस्था में संसद को राज्य सूची के विषयों की भी विधि बनाने का अधिकार मिल जाता है । इस प्रकार की विधि असाधारण परिस्थिति के अन्त की घोषणा के पश्चात छः महीने तक लागू रहती है ।

2. उक्त व्यवस्था के अंतर्गत, संघ और संघातरित राज्य दोनों अपने-अपने अधिकार क्षेत्र में प्रभुता संपन्न हैं ।
3. भारतीय संविधान में विधायिनी शक्ति विभाजन की सूचियाँ अत्यधिक ब्यौरेवार बनायी गयी है ।
4. भारतीय संविधान में असाधारण परिस्थिति की व्यवस्था एक अनोखी बात है । संसार के अन्य संघ संविधानों में इस प्रकार की व्यवस्था नही पायी जाती है ।

संघ की आय-

नये संविधान की वित्तीय व्यवस्था पूर्वकालीन व्यवस्था का विकसित स्वरूप है । विधायिनी शक्ति वितरण की संघ तथा राज्य सूचियों में कुछ ऐसे विषय हैं, जिन्हे हम आय और व्यय के विषय कह सकते है । विभिन्न सरकारों की आय, आय की इन्ही मदों से होती हैं और वे अपनी आय को अपने कामों के करने में खर्च करती है । संघीय आय की मदों में बहिःशुल्क, केन्द्रीय उत्पादन शुल्क, निगम कर, आय कर, अफीम, व्याज, मुद्रा और टक्साल डाकघर और तारघरों तथा रेलों से खर्च के पश्चात आय आदे मुख्य है । उसके व्यय की मदें निम्नलिखित है- रक्षा, आबकारी, असैनिक शासन; मुद्रा और टकसाल, सार्वजनिक काम, पेंशन; संघातरित राज्यों को अनुदान, आकस्मिक व्यय आदि ।

संघातरित राज्यों की आय-

संघातरित राज्यों की आय सात प्रकार के विभिन्न साधनों से होती है:

1. वे साधन जिनकी सारी आय राज्यों को मिलती है । राज्य ही इन करों को लगाते तथा उगाहते है। इनमें से निम्नलिखित मुख्य है-

   भूमि कर, कृषि आय कर; शराब तथा कुछ नशीली वस्तुओं पर कर, भूमि और भवनों पर कर, स्थानीय क्षेत्र में वस्तुओ के प्रवेश पर कर, समाचार पत्रों में प्रकाशित हाने वाले विज्ञापनों को छोड़ कर अन्य विज्ञापनों पर कर, पथ कर, प्रतिव्यक्ति कर; वृत्तियों; व्यापारों; आजीविकाओं और नौकरीयों पर कर, जुऑ और मनोरंजन के साधनों पर कर स्टाम्प कर आदि ।

2. कुछ कर ऐसे होते है जो संघ द्वारा लगाये जायेंगे, पर राज्य उन्हे उगाहेंगे तथा अपने पास रख लेंगे । इनमें से मुख्य ये हैं-

   विनिमय बिल, चेक, शेयर. बीमा आदि पर जो स्टाम्प से आय होगी । दवाई और श्रृंगार की वस्तुओं में प्रयुक्त, नशीली वस्तुओं पर उत्पादन शुल्क ।

3. वे कर जो सघ द्वारा लगाये तथा उगाहे जायेंगे, पर जिनकी सारी आय संघातरित राज्यों को मिलेगी । इनमें से निम्नलिखित मुख्य है-

   कृषि भूमि के अतिरिक्त अन्य सम्पत्ति के बारे में सम्पत्ति शुल्क, रेल या समुद्र या वायु से ले जाने वाली वस्तुओं या यात्रियों पर सीमा कर, समाचार पत्रों के क्रय या विक्रय पर तथा उनमें प्रकाशित होने वाले विज्ञापनों पर कर आदि ।

4. कुछ ऐसे कर होते है जिन्हे संघ राज्य लगायेगा तथा वसूल करेगा पर जिनकी आय का कुछ अंश वह संघातरित राज्यों का देगा जैसे - कृषि आय के अतिरिक्त अन्य आय कर ।

5. संविधान द्वारा संघ को संघातरित राज्यों की आर्थिक सहायता का अधिकार है । संघीय अनुदान विशेष रूप से राज्य की विकास योजनाओं की सफलता तथा अनुसूचित जातियों और अनुसूचित आदि निवासियों के कल्याण के कामों के लिये दिये जायेंगे आसाम को इस सम्बन्ध में विशेष रूप से सहायता मिलेगी ।

6. पटसन पर जो निर्यात लगेगा, उसका राष्ट्रपति द्वारा निर्धारित अंश पश्चिमी बंगाल, बिहार, आसाम और उड़ीसा के राज्यों को संघ की संचित निधि से मिलेगा ।

वित्त आयोग-

संविधान के आरम्भ से दो बर्ष के भीतर और तत्पश्चात प्रत्येक पॉचवें बर्ष की समाप्ति पर एक वित्त आयोग का गठन किया जायेगा जिसमें अध्यक्ष के अतिरिक्त चार अन्य सदस्य होंगे । संसद, विधि द्वारा, सदस्यों की योग्यतायें तथा उनके संवरण की विधि निर्धारित करेगी । आयोग का काम निम्नलिखित बातों की सिफारिश करना है:

1. संघ और संघातरित राज्यों में ऐसे करों की युद्ध आय का विभाजन, जो इस प्रकार वितरित किये जाने को है ।
2. संघ द्वारा संघातरित राज्यों को सहायक अनुदान के सिद्धान्त,

3. सुदृढ़ वित्त के हित में राष्ट्रपति द्वारा सौंपे गये किसी अन्य विषय के बारे में ।

यदि हम इस वित्त व्यवस्था को देखे तो हमें निम्नलिखित बात मालूम होती है कि-

1. वित्तीय व्यवस्था का सम्बन्ध समस्त भारत से है । इसके पूर्वकालीन ब्रिटिश भारत और भारतीय रियासतों के आधार पर किसी प्रकार का विभेद नही किया गया है । भारतीय रियासतों और भारत के वित्तों का एक प्रकार से एकीकरण कर दिया गया है ।
2. संघ की वित्तीय स्थिति अधिक से अधिक सुदृढ़ बनायी गयी है । उसे आय के ऐसे साधन मिले है जिनके आगम के बढ़ने की संभावना है । पूर्वकालीन मेस्टन निर्णय की भाति संघ, संघातरित राज्यों द्वारा दी गयी आर्थिक सहायता पर निर्भर नही है ।
3. संघातरित राज्यों को राष्ट्र निर्माण के प्रायः सभी काम दिये गये है पर उन सबकी आय के ऐसे साधन नही है जिनके आगम से उनका सारा खर्च निकल सके । अतएव उनके लिये संघीय अनुदान और संघीय आय की कुछ मदों के आगम के वितरण की व्यवस्था की गयी है । उसके कारण भी भारतीय संघ एकात्मक दिशा की ओर झुका हुआ संघ बन गया है ।

संविधान द्वारा भारतीय संघ की सर्वश्रेष्ठ कार्यपालिका शक्ति निर्वाचित राष्ट्रपति को दी गयी है । वह उसका प्रयोग संविधान के अन्तर्गत या तो स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है । संघ के रक्षा बलों का सर्वोच्च समावेश राष्ट्रपति में निहित है और उसका प्रयोग विधि से विनियमत होता है ।

इतिहास इस बात का प्रमाण है कि मानव जाति, अपनी वर्तमान स्थिति पर पहुँचने से पहले, अनेक प्रकार की सफलताओं के क्रम से गुजर चुकी है मानव व्यवहार और प्रगति निरन्तर प्रगतिशील रही है, प्रगतिशील है और रहेगी इस प्रगतिशीलता का आधार मानव बुद्धि है जिसके बल और तर्क से मनुष्य ने अपने जीवन को निरन्तर सभ्य, सुखी और अधिक सम्पन्न बनाने का प्रयास किया है अपने कार्य की कठिनाइयों को दूर किया है और बदलते हुये वातावरण में अपनी नित नई आवश्यकताओं की पूर्ति की है । यहॉ हमें अरस्तू का यह कथन कि "मनुष्य एक सामाजिक और राजनीतिक प्राणी है" यह स्मरण कराता है कि सहस्त्रों वर्षों के इतिहास में मनुष्य ने अपने विभिन्न पहलुओं को

तरह-तरह के समुदाय बना कर जाहिर किया है । अपनी विभिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये मनुष्य ने अनेक समुदाय बनाये है और संस्थाओं और संवासों की स्थापना की है, परन्तु राजनीतिक संगठन में मनुष्य के कौशल और चतुरता की पराकाष्ठा हो गई है ।

व्यक्तियों की भॉति व्यक्ति समूहों तथा राज्यों की अपनी-अपनी विभिन्न परिस्थितियॉ एवं समस्यायें एवं आवश्यकतायें होती हैं जिनको सुलझाने के लिये प्रत्येक राज्यों को कोई शासन प्रणाली अपनानी पड़ती है । सन् 1919 में जब भारत में राजनैतिक सुधारों की योजना लागू की गयी थी तब सभी का यह विचार था कि आगे चलकर अखिल भारतीय संघ की स्थापना ही देश का राजनीतिक ध्येय होगा है । यों तो अशोक और औरंगजेब ने भारत में एक साम्राज्य की स्थापना कर देश के सभी भागों को सम्बद्ध कर दिया था परन्तु जब 1757 में अंग्रेजी राज्य की स्थापना का श्रीगणेश हो गया तो सौ वर्ष के भीतर लगभग सारे देश के शासन की बागडोर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के हाथों में आ गई । सन् 1861 से ही शासन में केन्द्रीकरण तथा विकेन्द्रीकरण दोनों ही सिद्धान्त अपनाये गये । फलतः 1919 से 1937 तक इस देश के शासन में जो परिवर्तन हुये वे ऐतेहासिक पृष्ठभूमि के अनुसार ही थे । जब 15 अगस्त 1947 को देश का विभाजन हुआ तो भारत की संविधान सभा के कार्य में जो पहले रूकावट खड़ी हो गयी थी, वे दूर हो गई और भारत का गणराज्य एक संघ बन गया जिसके संविधान में संघवाद के सिद्धान्त आवश्यक हेर-फेर के साथ अपना लिये गये । संघवाद के सिद्धान्त विभिन्न राज्यों ने अपनी विशेष परिस्थितियों, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि और समस्याओं के कारण कुछ हेर-फेर के साथ अपनाते है । विभिन्न देशों और राज्यों की भौगोलिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक परिस्थितियों मे इतनी विभिन्नतायें और अन्तर है कि उन्होंने संघवाद के सिद्धान्तों के अपनाने पर भी उनकी शासन प्रणालियों में विभिन्नता आ गई है । इस विभिन्नता के पीछे उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि की असमानता का विशेष प्रभाव पड़ा है । किसी भी देश ने यदि संघवाद को उपनाया है तो इसके कई कारण हो सकते है ।

अध्याय - 4

श्री नरसिंहाराव के पूर्व केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की प्रकृति

संविधान लागू होने से चतुर्थ आम चुनाव 1967 तक भारत में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के सम्बन्ध सामान्यतः सहयोग और सद्‌भावना पर आधारित थे और उनके बीच कोई विशेष टकराव की स्थिति नही उत्पन्न हुई जिसका मूल कारण केन्द्र तथा लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस का प्रभुत्व था 1947 से पूर्व केन्द्र और राज्यों के बीच कुछ मामलों में स्थिति उत्पन्न हुई, लेकिन यह विरोध अंर्तदलीय विरोध था और उन्हे पारिवारिक झगड़ों से ज्यादा महत्व नही दिया जा सकता । ऐसे अवसरों पर दल के हाईकमान या प्रधानमंत्री के हस्तक्षेप द्वारा इन झगड़ों का निपटारा होता रहा ।

श्री सी० एस० पंडित के शब्दों में "गत चौबीस वर्षो में जब व्यवहारिक रूप से लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस दल के हाथों में सत्ता रही, केन्द्र सरकार ने एक पितृसत्ता के रूप में विकसित होकर अधीनस्थ इकाइयों को अपने दल के मुख्यमंत्रियों के माध्यम से नियंत्रित किया । इस बीच जो टकराव उत्पन्न हुये उसको दल के अन्दर ही तय कर दिया गया ।"[1]

1967 के आम चुनाव के पश्चात भारत में कांग्रेस दल के प्रभुत्व का अन्त हुआ और आठ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई । इस राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के बीच प्रत्येक कदम पर टकराव आरम्भ हुआ जिसका एक कारण तो उनके दलीय सिद्धान्तों की भिन्नता और दूसरा कारण कांग्रेस दल के विरूद्ध विपक्षी दलों में पायी जाने वाली द्वेष की भावना थी । इसलिये लगभग सभी गैर कांग्रेसी सरकारों वाले राज्यों की ओर से केन्द्र के बढ़ते हुये नियंत्रण के खिलाफ आवाज उठायी गयी और यह मांग की गयी कि राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिलनी चाहिए । और इस दृष्टिकोण से केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों को नये सिरे से निश्चित किया जाना चाहिए ।

केन्द्र के विरूद्ध अधिकतम स्वायत्तता की मांग एक ओर तो बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार की ओर से उठाई गयी और दूसरी ओर तमिलनाडु की डी० एम० के० सरकार ने इसे एक आन्दोलन का रूप दे दिया । अप्रैल 1970 में मद्रास के मुख्यमंत्री करूणानिधि ने यह नारा दिया कि "सेल्फ रूल इन दि स्टेट्स ऐंड कंपोजिट रूल ऐट दि

1-इण्डियन एक्सप्रेस दिल्ली 30 मार्च 1969

सेंटर" और इस नारे को डी० एम० के० दल के संविधान में भी सम्मिलित किया गया ।[2] मुख्यमंत्री करूणानिधि ने यह नारा दिया कि भारत, भारत वालों के लिये और तमिलनाडु, तमिल लोगों के लिये है ।[3] इसी प्रकार उड़ीसा में प्रगतिदल के नेता बीजू पटनायक ने अपने प्रदेश के आर्थिक साधन पर पूर्ण नियंत्रण प्राप्त करने वाले विदेशों से प्रत्यक्ष रूप से सहायता लेने की मांग की ।[4] पंजाब में अकाली दल की ओर से राज्यों के लिये अधिक से अधिक स्वयत्तता देने की मांग की गई और यह कहा गया कि रक्षा, विदेशी सम्बन्ध तथा मुद्रा निर्माण के अतिरिक्त सारे अधिकार राज्यों के पास होने चाहिए । यहॉ तक की उच्च्व न्यायालयों के न्यायाधीशों और राज्यपाल की नियुक्ति का अधिकार भी राज्य सरकारों को मिलना चाहिए ।

केन्द्र तथा राज्यों के बीच 1967 के बाद से जो टकराव उत्पन्न हुये उन्हे प्रो० इकबाल नारायण ने तीन श्रेणियों में विभक्त किया है -

1. संस्थागत विवाद
2. कार्यात्मक विवाद
3. आर्थिक विवाद ।

1. संस्थागत विवाद-

भारतीय संविधान का वास्तविक स्वरूप 1967 के पश्चात ही सामने आया जब देश के कुछ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हुई और इन सरकारों ने संविधान के विभिन्न उपबन्धों के आधार पर केन्द्र सरकार से अधिक से अधिक अधिकारों की मांग की । विभिन्न राजनैतिक संस्थाओं तथा राजनैतिक पदों के पारस्परिक सम्बन्धों तथा शक्तियों के विषय में अनेक प्रश्न उठाये गये जो इससे पहले शायद ही कभी सामने आये हों । ऐसे सांविधानिक प्रश्नों में सबसे गम्भीर वाद विवाद राज्यपाल की शक्तियों तथा स्थिति के सम्बन्ध में उठा और विरोधी दलों की ओर से यह आरोप लगाया गया कि केन्द्र सरकार राज्यपाल से गैर कांग्रेसी सरकारों को अपदस्थ कराने का कार्य लेती रही है । अनेक

2- दि टाइम्स आफ इंडिया (दिल्ली) 11 जनवरी 1973.

3- पैट्रियाट (दिल्ली), 21 जुलाई 1973

4 हिन्दुस्तान स्टैंडर्ड (दिल्ली), 26 दिसम्बर 1953

राज्यों में राज्यपाल और विधानसभा के सम्बन्ध, राज्यपाल और मंत्रिमण्डल के पारस्परिक सम्बन्ध तथा राज्यपाल की वैधानिक और परम्परागत स्थिति को लेकर विभिन्न प्रकार के गम्भीर संवैधानिक प्रश्न उठाये गये राज्यपाल के सम्बन्ध में सबसे पहले राजस्थान में वाद-विवाद उत्पन्न हुआ इसका कारण यह था कि राजस्थान विधानसभा में किसी एक राजनीतिक दल को पूर्ण बहुमत न मिल सका और विभिन्न विरोधी दलों ने एक संयुक्त मोर्चे के रूप में संगठित होकर राज्यपाल से उन्हे सरकार बनाने का अवसर देने की मांग की जिसे राजस्थान के तत्कालीन राज्यपाल डॉ० सम्पूर्णानन्द ने अस्वीकार कर दिया और उन्होने कांग्रेस दल के नेता श्री सुखाड़िया को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया। राज्यपाल की ओर से यह तर्क दिया गया कि कांग्रेस विधानसभा में सबसे बड़ा राजनीतिक दल था, इसलिये सरकार बनाने का अवसर पहले उसे दिया जाना चाहिए। राज्यपाल का निर्णय निःसन्देह अन्यायपूर्ण था। विपक्षी दलों के सदस्यों ने राष्ट्रपति के समक्ष उपस्थित होकर यह सिद्ध किया कि उनका यह संयुक्त संगठन वास्तव में बहुमत मे था और राज्यपाल ने उसे सरकार बनाने का अवसर न देकर राजनीतिक पक्षपात का परिचय दिया है।

राज्यपाल पर पक्षपात और दलीय हितों को बढ़ावा देने का आरोप उन सभी राज्यों में लगाया गया जहाँ गैर कांग्रेसी मंत्रिमण्डल की स्थापना हुई, विशेषकर पश्चिमी बंगाल, पंजाब, उत्तरप्रदेश तथा हरियाणा मे राज्यपाल के पक्षपात पूर्ण रवैये के विरूद्ध घोर असन्तोष प्रकट किया गया और यह कहा गया कि केन्द्र सरकार का प्रतिनिधि होने के नाते राज्यपाल गैर कांग्रेसी सरकारों को असफल बनाने तथा उन्हे गिराने के अभियान में सक्रिय भाग ले रहे है। कुछ राज्यों में राज्यपाल को हटाने की भी मांग की गई।

राज्यपाल के सम्बन्ध में सबसे बड़ा विवाद 1967 में पश्चिमी बंगाल में उत्पन्न हुआ जहाँ राज्यपाल धर्मवीर ने अपनी सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग करके अजय मुखर्जी के मंत्रिमण्डल को वर्खास्त कर दिया। राज्यपाल के इस कार्य के विरूद्ध यह तर्क दिया गया कि एक सांविधानिक प्रधान होने के नाते राज्यपाल को किसी भी मंत्रिमण्डल को सदन में पराजित हुये बिना उसे बर्खास्त करने का अधिकार नही है। 1969 के मध्यावधि चुनाव के पश्चात पुनः अजय मुखर्जी ने मंत्रिमण्डल का निर्माण किया। इस मंत्रिमण्डल ने राज्यपाल का जो भाषण तैयार किया उस में एक आलोचनात्मक पैराग्राफ अजय मुखर्जी

मंत्रिमण्डल के विघटन के सम्बन्ध में भी था जिसे राज्यपाल ने पढ़ने से इन्कार कर दिया । इस बात पर फिर यह आपत्ति उठाई गई कि एक संसदीय शासन का प्रधान होने के नाते राज्यपाल को मंत्रिमण्डल के परामर्शानुसार कार्य करना चाहिए ।

उत्तर प्रदेश तथा पंजाब में भी विधान सभा में बहुमत निर्धारण के सम्बन्ध में राज्यपाल द्वारा अपनाये जाने वाले तरीको के खिलाफ आवाज उठायी गयी और जिन राज्यों में विधानसभा का विघटन किया गया लगभग उन सबमें विराधी दलों ने राज्यपाल के विरूद्ध यह आरोप लगाया कि उसने गैर कांग्रेसी दलों को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किये बिना विधानसभा को भंग करने की संस्तुति केन्द्र सरकार को भेजी है । विभिन्न राज्यों के राज्यपालों ने एक ही प्रकार की परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न तरीकों को अपनाया और अनुच्छेद 356 का प्रयोग बड़ी उदारता के साथ किया गया ।

राज्यपाल और विधानसभा के पारस्परिक सम्बन्धों को लेकर कुछ ऐसी सांविधानिक समस्यायें उत्पन्न हुई कि पूरे देश में संविधान को परिवर्तित करने और केन्द्र तथा राज्य सरकार के पारस्परिक सम्बन्धों को ज्यादा स्पष्ट बनाने की मांग की गयी । यह कहा गया कि केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का वितरण इस प्रकार किया जाना चाहिए कि उसके वीच सन्तुलन बना रहे और केन्द्र का राज्यों पर जो प्रभुत्व है उसका अन्त किया जा सके । राज्यों की ओर से की जाने वाली मांगों में समवर्ती सूची को विकसित करना; स्वविवेक अनुदानों को परिसमाप्त करना, योजना आयोग को स्थायी तथा सांविधानिक स्वरूप प्रदान करना, अनुच्छेद 263 के अधीन अंतर्राज्यीय परिषद का गठन करना; राष्ट्रपति तथा राज्यपाल के सम्बन्ध में वर्तमान सांविधानिक उपबन्धों को इस प्रकार कियात्मक बनाना जिससे वह संकट की स्थिति में महत्वपूर्ण भूमिका अदा कर सके आदि मुख्य मांगे थीं ।

केन्द्र तथा राज्यों में पारस्परिक सम्बन्धों के पुनः निर्धारित करने और उनमें संस्थागत परिवर्तन लाने के उद्देश्य से 19 अगस्त 1969 को तमिलनाडु के तत्कालीन मुख्यमंत्री करूणानिधि ने विधानसभा में तीन सदस्यों की एक समिति के गठन की घोषणा की । इस समिति के सभापति डॉ० पी० वी० राजमन्नार तथा सदस्यों में डॉ० ए० एल० मुदानियर तथा टी० पी० चंद्रा रेड्डी थे । इस समिति के निर्माण का उद्देश्य केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो के सांविधानिक तथा व्यवहारिक पक्षों को दृष्टि मे रखते हुये

संविधान में ऐसे संशोधन करने का सुझाव देना था जो राज्यों को समुचित स्वायत्तता देने के लिये आवश्यक हो । इस समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सुझाव दिये । और केन्द्र तथा राज्यों के बीच संविधान के द्वारा किये गये वर्तमान शक्ति विभाजन को इस तरह संशोधित करने की संस्तुति की जिससे केन्द्र का राज्यों पर नियंत्रण कम से कम रहे और राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिल सके ।

प्रशासन सम्बन्धी क्षेत्रों में जो सुझाव इस समिति ने दिये उसमें कुछ महत्वपूर्ण संस्तुतियॉ ये हैं[5]-

प्रशासनिक क्षेत्र-

इस समिति ने कहा कि अनुच्छेद 256, 257 और 339(2) को संविधान से निकाल दिया जाये कि केन्द्र सरकार अन्तर्राज्यीय परिषद की स्वीकृति के बिना राज्यों को कोई निर्देश नही देगी । समिति ने इस बात पर बल किया कि अन्तर्राज्यीय परिषद का तुरन्त निर्माण किया जाये जिसमें सभी राज्यों के मुख्यमंत्री अथवा उनके मनोनीत किये हुये व्यक्ति होंगे और प्रधानमंत्री को उसका सभापति बनाया जाये । इस परिषद से परामर्श किये बिना संसद में ऐसा कोई विधेयक प्रस्तुत न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्य प्रभावित हों । प्रतिरक्षा और विदेशी सम्बन्धो के अतिरिक्त इस परिषद से परामर्श किये बिना ऐसा कोई निर्णय न किया जाये जिससे एक या अधिक राज्यों के हित प्रभावित हों । केन्द्रीय मंत्रिमण्डल का कोई अन्य सदस्य इस परिषद का सदस्य न होगा ऐसे बिल जिसका प्रभाव एक या एक से अधिक राज्यों पर पड़ता हो संसद में प्रस्तुत करने से पूर्व अन्तर्राज्यीय परिषद को प्रेषित किया जाये और उसके द्वारा प्रकट किये गये विचारों को बिल के पुनः स्थापन के समय संसद के समक्ष रखा जाये अन्तर्राज्यीय परिषद की सिफाारिशों को केन्द्र सरकार के द्वारा साधारणतया गाना जाना आवश्यक होगा और यदि किसी कारणवश केन्द्र सरकार इस परिषद की शिफारिशों को अस्वीकार करे तो उसके कारणों को संसद और राज्य विधानमण्डल के सामने प्रस्तुत करना आवश्यक होगा ।

5- रिपोर्ट आफ दि सेंटर स्टेट रिलेशंस इक्वारी कमेटी (गर्वनमेंट ऑफ तमिलनाडु; 1971) पृष्ठ-215-27.

विधायिनी क्षेत्र-

राजमन्नार समिति ने केन्द्र और राज्यों की विधायिनी शक्तियों के सम्बन्ध में यह सिफारिश की कि संविधान की सातवीं अनुसूची की प्रथम तथा तृतीय सूचियों में दी गई प्रविष्टियों का पुनर्वितरण करने के लिये एक उच्च स्तरीय आयोग नियुक्त किया जाना चाहिए । समिति ने विभिन्न विषयों को संघ और समवर्ती सूची से राज्य सूची में हस्तान्तरित करने के लिये विस्तृत सुझाव दिया । समिति ने यह भी कहा कि समवर्ती सूची में दिये गये किसी विषय पर कोई विधेयक संसद में पुनः स्थापित करने से पूर्व उसके विषय में राज्यों और अंतर्राज्यीय परिषद से परामर्श किया जाना चाहिये और उनके दृष्टिकोण को बिल प्रस्तुत करते समय संसद के समक्ष रखना चाहिए । राज्य विधान मण्डलों द्वारा पारित किये गये विधेयकों को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये आरक्षित करने के प्रावधान को (अनुच्छेद 288(2) के अतिरिक्त) संविधान से निकाल देना चाहिए ।

वित्तीय क्षेत्र-

राज्य सरकार की आर्थिक स्थिति में सुधार लाने की दृष्टि से राजमन्नार समिति ने संघ सरकार के क्षेत्राधिकार से आय के अनेक साधनों को राज्यों को हस्तान्तरित करने की सिफारिश की । समिति ने वित्त आयोग को सुसंगठित और प्रभावशाली बनाने के लिये अनेको सुझाव दिये योजना आयोग के सम्बन्ध में समिति ने यह कहा कि एक स्वतन्त्र सत्ता का रूप देना चाहिए जिस पर संसदीय कार्यकारिणी का अथवा कोई अन्य राजनीतिक प्रभाव न हो । इस उद्देश्य की पूर्ति के लिये योजना आयोग के निर्माण का प्रावधान संसद के द्वारा बनायी गयी एक विधि द्वारा किया जाना चाहिए । आयोग के सदस्यों में कोई भी भारत सरकार का सदस्य नही होना चाहिए । राजमन्नार समिति ने यह भी सिफारिश की कि विभिन्न राज्यों को औद्योगिक उपक्रमों को स्थापित करने की अनुमति तथा उसके लिये आवश्यक सुविधायें दी जानी चाहिए ।

न्यायिक क्षेत्र-

देश की न्यायिक व्यवस्था मे सुधार लाने के लिये राजमन्नार समिति ने यह सुझाव दिया कि किसी राज्य के उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय के विरूद्ध सर्वोच्च न्यायालय में अपील किये जाने के अधिकार का अन्त किया जाना चाहिए सिवाय ऐसे

मामलों में जिसमें किसी संघीय विधि की व्याख्या का प्रश्न अथवा कोई संवैधानिक प्रश्न निहित हो । उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को हटाने के लिये सम्बन्धित राज्य विधानमण्डल को ऐसा प्रस्ताव राष्ट्रपति को प्रेषित करने का अधिकार दिया जाना चाहिए । राज्य विधानमण्डल द्वारा बनाये गये कानूनों का संवैधानिकता के सम्बन्ध में उठने वाले प्रश्नों के निपटारे के लिये इस समिति ने सुझाव दिया कि यदि किसी राज्य के द्वारा बनाये गये किसी कानून को उस राज्य के उच्च न्यायालय में चुनौती दी जाये तो सम्बन्धित राज्य सरकार को उच्च न्यायालय से यह अनुरोध करने का अधिकार होना चाहिए कि उस मामले को न्यायालय की ऐसी बेंच के समक्ष प्रस्तुत किया जाना चाहिए जिसमें मुख्य न्यायाधीश के अतिरिक्त तीन या उससे अधिक न्यायाधीश हों । न्यायालय को सम्बन्धित विधेयक के विभिन्न प्रावधानों पर सविस्तार विचार करना चाहिए । उस विधेयक की सांविधानिकता के सम्बन्ध में उच्च न्यायालय का दिया गया निर्णय अन्तिम होगा जिसकी संवैधानिकता को पुनः चुनौती नही दी जा सकेगी ।

राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में राजमन्नार समिति ने यह सिफारिश की कि राज्यपाल की नियुक्ति सम्बन्धित राज्य के मंत्रिमण्डल के परामर्श से की जानी चाहिए । एक व्यक्ति राज्यपाल के पद पर एक बार से अधिक नियुक्त नही किया जाना चाहिए । संविधान के वर्तमान प्रावधान जिसमें यह कहा गया है कि 'मंत्री अपने पदों पर राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त कार्य करेंगे' संविधान से निकाल दिया जाना चाहिए । राष्ट्रपति को यह अधिकार दिया जाना चाहिए कि वह राज्यपाल को निर्देश जारी कर सके ऐसे निर्देशों में मंत्रिमण्डल के निर्माण और राज्यपाल के साथ उनके सम्बन्धों के विषय में भी आवश्यक निर्देश शामिल होगे ।

इस प्रकार समिति ने यह सुझाव दिया कि जब विधानसभा में कोई एक राजनीतिक दल स्पष्ट बहुमत में न हो तो वह विधानसभा का अधिवेशन बुलाएगा और विधानसभा जिस व्यक्ति को अपना नेता नियुक्त करेगी उसे मुख्यमंत्री नियुक्त किया जायेगा । इसी प्रकार यदि किसी समय राज्यपाल को इस बात का संदेह हो कि मुख्यमंत्री के साथ विधानसभा का बहुमत नही है तो वह स्वयं ही विधानसभा का अधिवेशन बुलाएगा और मुख्यमंत्री से विधानसभा का विश्वासमत प्राप्त करने को कहेगा । यदि वह उससे असफल रहता है तो मंत्रिमण्डल को विघटित करने का अधिकार राज्यपाल को प्राप्त होगा ।

आपातकालीन उपबन्ध-

राजमन्नार समिति ने यह भी सिफारिश की कि संविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को संविधान से निकाल देना चाहिए और यदि इस अनुच्छेद को बनाये रखना है तो संविधान में यह उपबन्ध कर देना चाहिए कि अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा केवल उस समय ही की जानी चाहिए जब किसी राज्य में शान्ति और सुव्यवस्था पूरी तरह भंग हो गयी हो और सम्बन्धित राज्य जनता की जान और माल की सुरक्षा करने में असमर्थ हो, अनुच्छेद 356 में यह भी व्यवस्था की जाये कि किसी राज्य में संवैधानिक तन्त्र की विफलता घोषित करने से पूर्व उस राज्य के राज्यपाल द्वारा भेजे गये उपरोक्त आशय के प्रतिवेदन को सम्बन्धित राज्य की विधानसभा के समक्ष उसके मत को जानने के लिये प्रस्तुत करना चाहिए ।

अनुच्छेद 352 और 356 के प्रयोग के सम्बन्ध में भी राजमन्नार समिति ने कुछ नियंन्त्रात्मक सुझाव दिये; विशेष रूप से इस समिति ने यह कहा कि ऐसी घोषणा उस समय तक नही की जानी चाहिए जब तक की युद्ध या बाहरी आक्रमण की स्थिति ना हो । समिति ने वित्तीय आपात से सम्बन्धित अनुच्छेद 360 को संविधान से निकाल देने की सिफारिश की ।

लोक सेवा आयोग के सम्बन्ध में भी राजमन्नार समिति ने कुछ महत्वपूर्ण सिफारिशें की-

संविधान द्वारा केन्द्र सरकार को दिये गये इस अधिकार के सम्बन्ध में कि वह विभिन्न राज्यों के भूभाग में अनेक प्रकार से परिवर्तन कर सकती है । राजमन्नार समिति ने यह सुझाव दिया कि सम्बन्धित राज्य की स्वीकृति किसी न्यायिक प्राधिकरण के निर्णय अथवा सम्बन्धित राज्य की जनता के मत को प्रत्यक्ष रूप से जाने बिना किसी राज्य के क्षेत्रफल में कोई परिवर्तन नही किया जाना चाहिए ।

संसद के उच्च सदन में विभिन्न राज्यों को समान प्रतिनिधित्व देने और सदस्यों को मनोनीत किये जाने की वर्तमान व्यवस्था का अन्त कर देने की संस्तुति भी समिति द्वारा की गयी । समिति ने यह भी सिफारिश की कि संसद में सदस्यों को अंग्रेजी अथवा संविधान की आठवीं अनुसूची में वर्णित किसी भी भाषा में भाषण देने का अधिकार होना

चाहिए । और केन्द्र तथा राज्यों के बीच सम्पर्क भाषा अंग्रेजी को बनाना चाहिए । राज्यों में स्थिति केन्द्रीय कार्यालयों में उस राज्य की सरकारी भाषा का प्रयोग किया जाना चाहिए ।

अनुच्छेद 355 में आवश्यक संशोधन करके यह व्यवस्था की जाये कि किसी भी राज्य में सेंट्रल रिजर्व पुलिस बल को सम्बन्धित राज्य के अनुरोध अथवा स्वीकृति के बिना तैनात न किया जाये ।

केन्द्रीय मंत्रिमण्डल का निर्माण इस ढंग से किया जाये कि देश के समस्त भागों का प्रतिनिधित्व उसमें हो सके ।

संविधान के संशोधन के सम्बन्ध में राजमन्नार समिति ने यह सिफारिश की कि कोई भी सांविधानिक संशोधन बिना 3/4 अथवा 2/3 राज्य विधानमण्डल की स्वीकृति के न किया जाना चाहिए ।

राजमन्नार समिति ने अपने प्रतिवेदन में जो सिफारिशें की उनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि तमिलनाडु सरकार ने केन्द्रीय सरकार की शक्तियों में बहुत ज्यादा कटौती करने की मांग की और राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता दिये जाने पर बल दिया । केन्द्र सरकार ने इस प्रतिवेदन को अस्वीकार कर दिया ।

2. कार्यात्मक विवादः

केन्द्र और राज्यों के बीच विरोध का दूसरा विषय शांन्ति और सुव्यवस्था का रहा है । सितम्बर 1968 में केन्द्रीय कर्मचारियों की हड़ताल के दौरान राष्ट्रपति ने एक अध्यादेश एसेंशियल सर्विस मेंटेनेंस आर्डिनेंस जारी किया । इस अध्यादेश का उद्देश्य सरकारी कर्मचारियों द्वारा हड़ताल को अवैधानिक घोषित करना था । केरल सरकार ने यह कहा कि उसका उत्तरदायित्व केवल इतना है कि वह केन्द्रीय कार्यालयों तथा संस्थाओं की रक्षा करें और यह देखें कि इन कार्यालयों में प्रवेश करने में कोई बाधा न उत्पन्न होने पाये । केरल सरकार ने इस अध्यादेश के उन उपबन्धों को कार्यान्वित करने से इनकार किया जिनके द्वारा हड़ताल के लिये उकसाने वाले व्यक्तियों को दंडित करने की व्यवस्था की गयी थी और यह कहा कि केन्द्रीय कर्मचारियों के सेवा सम्बन्धी मामलों का प्रबन्ध करना राज्य सरकार के क्षेत्राधिकार के बाहर है । इस पर केन्द्र सरकार ने यह कहा कि केन्द्रीय

विधियों की व्याख्या करने का अधिकार राज्य सरकारों को नही है और अनुच्छेद 256 तथा 257 के अनुसार वह अपनी सीमाओं में केन्द्र सरकार द्वारा बनायी गयी विधियों को लागू करने और संघ सरकार के निर्देशां का पालन करने के लिये बाध्य है । मुख्यमंत्री नंबूदरी पाद ने यह आरोप लगाया कि केन्द्र सरकार ने हड़तालियों की गिरफ्तारी के मामले में भेदभाव किया है ।

केन्द्र सरकार द्वारा राज्यों में सेंट्रल रिजर्व पुलिस के भेजे जाने की भी कठोर आलोचना की गई और इसे केन्द्र का अनुचित हस्तक्षेप माना गया ।केरल में जब 1968 में केन्द्र सरकार द्वारा सी० आर० पी० की नियुक्ति की गई तो इस विषय पर गम्भीर वाद विवाद उत्पन्न हुआ और 19 सितम्बर 1968 को पूरे देश के केन्द्रीय सरकार के कर्मचारियों ने हड़ताल की और कुछ स्थानों पर स्थिति अत्यन्त गम्भीर हो गयी तत्कालीन गृह मंत्री वाई० वी० चह्वाण ने केरल सरकार की पूर्व अनुमति के बिना सी० आर० पी० की एक बटालियन केरल में स्थित केन्द्र सरकार के कार्यालयों की रक्षा करने के लिये भिजवा दी । मुख्यमंत्री नम्बूदरीपाद ने केन्द्र सरकार के इस कार्य के विरूद्ध रोष प्रकट किया और 18 दिसम्बर को वहॉ के मंत्रिमण्डल ने न्यायालय की अनुमति से केन्द्रीय कर्मचारियों के विरूद्ध सारे मुकदमों को वापस ले लिया । केन्द्र सरकार ने इस निर्णय पर रोष प्रकट करते हुये राज्य सरकार को यह चेतावनी दी कि उसका यह कार्य अवैधानिक तथा असंवैधानिक था । केन्द्र सरकार ने यह तर्क दिया कि संविधान में ऐसा कोई प्रतिबन्ध नही है कि किसी राज्य में सशस्त्र पुलिस भेजने के लिये सम्बन्धित राज्य की अनुमति ली जाये । परिस्थितियों के अनुसार यह केन्द्र सरकार के स्वविवेक पर निर्भर करता है कि वह कब किस स्थान पर सी० आर० पी० भेजे ।[6]

इसी प्रकार पश्चिमी बंगाल में जब दुर्गापुर तथा काशीपुर में फैली हुई अशान्ति तथा अव्यवस्था पर नियन्त्रण करने के लिये केन्द्र सरकार ने सी० आर० पी० भेजी तो पश्चिमी बंगाल सरकार ने उसका कड़ा विरोध किया । और यह मांग की कि केन्द्र सरकार सी० आर० पी० को तुरन्त वापस बुला ले । और जब काशीपुर गन तथा शैल फैक्ट्री मे हुये गोलीकांड की जॉच करने का आश्वासन केन्द्र सरकार की ओर से दिया गया तो पश्चिमी

6- हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, 8 अक्टूबर, 1968

बंगाल के उपमुख्यमंत्री ज्योतिबसु ने इसका विरोध किया और इस कांड की केन्द्रीय सरकार द्वारा जॉच किये जाने के कार्य में सहयोग देने से इन्कार किया ।[7] इसी प्रकार बिहार के भूतपूर्व मुख्यमंत्री महामाया प्रसाद सिंह ने केन्द्र की लापरवाही से तंग आकर एक बार रूसी सरकार से यह अपील की थी कि उस राज्य में अकाल की स्थिति का सामना करने के लिये रूस सरकार उसकी मदद करे ।[8] उत्तर प्रदेश के भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री चन्द्रभानु गुप्त और श्रीमती सुचेता कृपलानी ने भी यह शिकायत की थी कि केन्द्र सरकार उनके प्रदेश में बढ़ती हुई निर्धनता और भुखमरी की ओर से बिलकुल लापरवाह रही है और कुछ राज्यों को राजनीतिक कारणों से केन्द्र सरकार असीमित रूप से धन दे रही है ।[9]

3. आर्थिक विवाद-

केन्द्र और राज्यों के बीच टकराव का एक अन्य कारण राज्यों की आर्थिक दशा का खराब होना है । राज्यों को केन्द्र द्वारा समुचित सहायता न दिया जाना और केन्द्र का असहयोगपूर्ण रवैया रहा है । उदाहरण, जैसे 1967 में केरल सरकार ने यह शिकायत की कि केन्द्र सरकार उसे समुचित मात्रा में गल्ला नही दे रही है और यह कहा कि यदि केन्द्र सरकार ने अपने वायदे को पूरा न किया तो वह चीन से गल्ले का प्रबन्ध कर लेंगे ।[10]

कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमंत्री वीरेन्द्र पाटिल ने एक बार यह शिकायत की थी कि केन्द्र सरकार गैर कांग्रेसी सरकारों के सभी मुख्यमंत्रियों के साथ असमानता का व्यवहार करती है और अपनी नीतियों आदि से उन्हे पूर्णरूप से अवगत नही कराती । उन्होने यह भी आरोप लगाया कि केन्द्रीय सरकार के मंत्री जब उस राज्य में आते है तो विधानसभा के सदस्यों को दल बदल कर कांग्रेस में शामिल हो जाने का प्रोत्साहन देते है ।[11]

राज्य सरकार के आर्थिक साधन इतने सीमित है कि वे अपनी जिम्मेदारी को पूरा करने के लिये केन्द्र सरकार से बराबर आर्थिक अनुदान ऋण मांगती रहती है । यह

7- यूनियन स्टेट रिलेशंस 'इन इंडिया' मे उद्दत पूर्वोत्तर पृष्ठ 188.
8- डी० सी० गुप्त 'इंडियन गवर्नमेन्ट ऐड पालिटिक्स' (विकास पब्लिशिंग हाऊस; दिल्ली 1972) पृष्ठ 106
9- वही
10- वही पृष्ठ 105
11- हिन्दुस्तान टाइम्स, 23 नवम्बर 1970.

अनुदान बहुत कुछ केन्द्र सरकार के स्वविवेक पर निर्भर करता है । योजना आयोग के निर्माण के पश्चात सम्पूर्ण देश के लिये योजनायें बनाने का कार्य इस केन्द्रीय संस्था के हाथों में पहुँच गया है । योजना आयोग स्थानीय तथा क्षेत्रीय विभिन्नताओं, समस्याओं तथा आवश्यकताओं पर पूरी तरह ध्यान दिये बिना योजनाओं को बनाता है तथा नीतियों से सहमत न होते हुये भी राज्य योजना आयोग का विरोध नही कर सकते क्योंकि उसके समर्थन के बिना उन्हे उपर्युक्त आर्थिक सहायता नही मिल सकती । कुछ राज्यों में इस स्थिति के विरूद्ध इतना असन्तोष था कि अप्रैल 1969 में राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक में पश्चिमी बंगाल तथा केरल के मुख्यमंत्रियों ने चतुर्थ पंचवर्षीय योजना के प्रारूप को अस्वीकार किया । केरल के मुख्यमंत्री ने यह भी आपत्ति उठाई कि राष्ट्रीय विकास परिषद की बैठक ऐसे समय पर बुलाई जाती है जब सरकार द्वारा योजना अन्तिम रूप से तैयार कर ली जाती है और उसमें परिवर्तन करने की कोई सम्भावना नही रह जाती ।

राज्य सरकारों की आर्थिक निर्बलता का मूल कारण यह है कि एक ओर तो राज्य सरकारों के कार्यक्षेत्र में बृद्धि हुई है, और दूसरी ओर इसकी आय में अपेक्षाकृत कमी हुई है । इसका प्रमुख कारण यह है कि कुछ राज्यों में राजनीतिक कारणों से सत्तारूढ़ दल ने एक निश्चित सीमा तक लगान माफ कर दिया है । कुछ राज्यों में मदिरा निषेद्व का कानून पारित किये जाने के फलस्वरूप सरकार को दोहरा नुकसान पहुँचता है । एक ओर तो शराब की दुकान बन्द हो जाने से कर के रूप में होने वाली आमदनी बन्द हो गई और दूसरी ओर इस कानून को कार्यान्वित करने के लिये प्रशासकीय संगठन का विस्तार करना पड़ा जिससे स्वाभावतः सरकार के खर्चे में वृद्धि हुई । जहाँ तक बिक्री का सम्बन्ध है दायित्व को पूरा करने में उदासीन रही है और उन्होने केन्द्र सरकार द्वारा बनायी गयी योजनाओं को सरकार उपरोक्त वस्तुओं पर एक निश्चित सीमा तक ही कर लगा सकती है । इस साधन का असीमित रूप से प्रयोग नही किया जा सकता । इस स्थिति का परिणाम यह है कि राज्य सरकारें आर्थिक दृष्टि से केन्द्र पर आश्रित होती जा रही हैं और आर्थिक मामलों को लेकर उन राज्यों में केन्द्र से विरोध होना स्वाभाविक है जिनमें गैर कांग्रेसी सरकारें स्थापित होगी ।

राज्य सरकारों के विरूद्ध केन्द्र सरकार को यह शिकायत रही है कि राज्य सरकारें अपने दायित्व को पूरा करने में उदासीन रही हैं और उन्होने केन्द्र सरकार द्वारा बनायी

गयी योजनाओं को कार्यान्वित करने में शिथिलता बरती है । यह एक सर्वविदित तथ्य है कि गत बीस वर्षों में केन्द्र सरकार द्वारा निर्मित अथवा सहायता पानें वाली अधिकांश योजनाओं के सम्बन्ध में निर्धारित किये गये लक्ष्यों की प्राप्ति नही हो सकी है जिससे यह स्वाभाविक रूप से स्पष्ट होता है कि राज्य प्रशासन में कोई कमी, कोई त्रुटि अथवा कोई दोष है । अतः इन क्षेत्रों में सुधार लाने के लिये आवश्यक कदम उठाना होगा ।[12]

कृषि, परिवार नियोजन, स्वास्थ्य शिक्षा आदि कुछ ऐसे विषय है जो मुख्य रूप से राज्य सरकारों के क्षेत्राधिकार में आते है लेकिन इन क्षेत्रों में भी केन्द्र द्वारा बनाई गई योजनाओं में राज्यों ने पूरी दिलचस्पी नही ली है । यह भी कहा जाता है कि कृषि विकास नियोजन के क्षेत्र में राज्य सरकारों ने कोई विशेष रूचि का प्रदर्शन नही किया है और उन्होने नये विचारों को ग्रहण करने तथा नये अविष्कारों से लाभान्वित होने के प्रति उदासीनता दिखाई है । कृषि सुधार सम्बन्धी अनेक योजनाएं तथा नीतियॉ केन्द्र सरकार के द्वारा बनायी गयी है । लेकिन राज्य सरकारों द्वारा उनका भी कार्यान्वयन ठीक ढंग से नही किया गया है ।

प्रशासनिक सुधार आयोग ने भी इस तथ्य की ओर संकेत किया था कि नियोजन तथा विकास के सम्बन्ध में राज्य सरकारें अपेक्षाकृत उदासीन रही हैं और समय-समय पर केन्द्र द्वारा आवश्यक निर्देश दिये जाने के बाद भी राज्य सरकारें अच्छी प्रकार की विकास योजनाओं के बनाने और कार्यान्वित करने में असफल रही है । योजनाओं के निर्माण मे अत्यधिक संकीर्णता, उनके लिये आवश्यक अनुशासन की कम जानकारी तथा अपर्याप्त राजनीतिक साहस और योजनाओं को कार्यान्वित करने के लिये अपर्याप्त प्रशासकीय क्षमता व्याप्त रही है । ----------------ऐसा कहा जाता है कि राज्य सरकार को अपनी असफलताओं के लिये केन्द्र सरकार को 'व्हिपिंग ब्वाय' (whepping Boy)* का रूप दे दिया है । यह देखा गया है कि साधारणतया राज्य सरकारें ऐसी योजनाओं को कार्यान्वित करने

12- एस० एन० जैन ऐंड अदर्स (सं०); दि यूनियन ऐंड दि स्टेटस (नेशनल पब्लिशिंग हाऊस; दिल्ली 172), पृष्ठ 397.

* इग्लैण्ड में पहले यह तरीका था कि राजकुमार के साथ एक और लड़का पढ़ने के लिये बिठाया जाता था, और जब राजकुमार कोई भूल करता था तो शिक्षक उस दूसरे लड़के को दण्ड देता था ।दूसरा लड़का 'व्हिपिंग ब्वाय' कहलाता था । इसका अर्थ यह है कि गलती किसी और की और दण्ड किसी दूसरे को दिया जाये ।(एस० एम० सईद - भारतीय राजनीतिक प्रणाली से उद्दत)

में केन्द्र के साथ पूरा सहयोग नही करती जो उनके क्षेत्रीय हितो से ज्यादा मेल नही खाती । क्षेत्रवाद की भावना राष्ट्रीय विकास में किसी सीमा तक बाधक हुई है, और केन्द्र सरकार की ओर से प्रायः राज्यों पर संकीर्णता का आरोप लगाया जाता है । राज्यों की ओर से बराबर यह कहा जाता है कि उनके आय के साधन अत्यधिक सीमित है और उन्हे अपने दायित्वों को पूरा करने के लिये केन्द्र सरकार का मुँह देखना पड़ना है यह बात किसी सीमा तक ठीक है । लेकिन इसमें भी सन्देह नही कि राजस्व के स्रोत राज्य सरकारों के क्षेत्राधिकार में है उनमें भी वह पूरी तरह लाभ नही उठाती । राज्य सरकारेंा में सत्तारूढ़ दल को, अपने पक्ष में बनाये रखने के लिये और अलोकप्रिय होने के डर से विभिन्न प्रकार के करों से छूट देने की बराबर घोषणायें करता रहता है । यहॉ तक की कुछ राज्यों में सवा छः एकड़ की भूमि पर लगान माफ कर देने का निर्णय लिया गया इससे स्वाभाविक रूप से राज्य सरकारों की आर्थिक स्थिति पर खराब प्रभाव पड़ा । राजनीतिक कारणेंा से ही राज्य सरकारों ने कृषि से होने वाली आय पर कर लगाने में भी संकोच किया है ।

राज्यों के सम्बन्ध में यह शिकायत भी रही है, की जाती है कि वे स्वयं भी केन्द्र सरकार पर आर्थिक दृष्टि से आश्रित रहने के अधिक अभ्यस्त हो गये है और उनमें यह भावना विकसित होती रही है कि कोई अनुच्छेद होता है तो केन्द्र सरकार स्वयं ही उसको पूरा करेगी । यही कारण है कि वे अपने आर्थिक साधनों को ठीक से प्रयोग नही करते और लगभग प्रत्येक राज्य मे करों का काफी वकाया पड़ा हुआ है जिसे राज्य सरकारें वसूल करने में असमर्थ रही है ।संघीय शासन प्रणाली के सुचारू रूप से चलने के लिये यह अति आवश्यक है कि केन्द्र और राज्यों के बीच समुचित सामन्जस्य हो और उनके बीच परस्पर सहयोग की भावना उत्पन्न हो ।

भारत के राज्यों में राज्यपाल एक संवैधानिक प्रमुख होगा अथवा नही, यह अभी तक एक विवाद का विषय बना हुआ है । हमारे संविधान की अनुच्छेद 163(1) में लिखा है कि जिन बातों में राज्यपाल के लिये आवश्यक है कि वह स्वविवेक से कार्य करें, उन सब कार्यों को छोड़कर राज्यपाल की सहायता और मंत्रणा के लिये एक मंत्रिपरिषद होगी जिसका अध्यक्ष मुख्यमंत्री होगा । इसके अतिरिक्त संविधान में यह भी लिखा है कि मंत्रिपरिषद सामूहिक रूप से विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होगी इन सब बातों पर विचार

करके हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि विशेष परिस्थितियों को छोड़कर राज्यपाल मंत्रिपरिषद की मंत्रणा से बाध्य होगा । 1935 के अधिनियम के अनुसार अनेक प्रकार की स्वविवेक अथवा स्वेच्छाचारी शक्तियॉ राज्यपाल से ले ली गयी । राज्यपाल को अब केवल संवैधानिक प्रमुख बना दिया गया है और राज्यों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना कर दी गई है, इसलिये राज्यपाल बहुमत दल के नेता को मंत्रिमण्डल के निर्माण के लिये आमंत्रित करेगा और उसको मुख्यमंत्री नियुक्त करेगा राज्यपाल मुख्यमंत्री की सलाह से अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करेगा; तथा प्रशासकीय कार्य उसी की मंत्रणा के अनुसार चलायेगा । इस प्रकार हम कह सकते है कि 'राज्यपाल की सारी शंक्तियों का प्रयोग मुख्यमंत्री करेगा और राज्यपाल को केवल अपने मंत्रियों को मंत्रणा, चेतावनी और प्रोत्साहन देने का अधिकार होगा । मुख्यमंत्री का यह भी परम कर्त्तव्य होगा कि राज्यपाल को मंत्रिपरिषद के निर्णयों से पूरी तरह सूचित रखें और राज्यपाल को प्रशासन सम्बन्धी अन्य सारी सूचनायें भी दें ।

परन्तु कुछ विशेष परिस्थितियों में राज्यपाल स्वविवेक से कार्य कर सकता है उस समय वह अपने मंत्रियों की अवहेलना भी कर सकता है । जैसे- असम के राज्यपाल को कबीलों और सीमा के प्रदेशों का शासन चलाने में स्वविवेक से कार्य करने का अधिकार है, और जब विधानसभा में किसी दल का बहुमत न हो तो भी राज्यपाल को मुख्यमंत्री की नियुक्ति में कुछ अधिक स्वतन्त्रता मिल जाती है । जब राज्य में संवैधानिक संकट की रिपोर्ट राष्ट्रपति के सामने रखनी हो तो भी वह स्वविवेक से कार्य करता है और जब राष्ट्रपति संकटकालीन उदघोषणा घोषित कर देता है; उस समय भी राज्यपाल राष्ट्रपति का अभिकर्त्ता बन जाता है । उस समय वह राष्ट्रपति के आज्ञाओं का पालन करता है और मंत्रियों की मंत्रणा से बाध्य नही होगा । संवैधानिक संकट के समय मंत्रिपरिषद का अन्त कर दिया जायेगा और राज्यपाल राष्ट्रपति के आदेशों के अनुसार ही कार्य करेगा । उसे विधानसभा के विघटन की भी थोड़ी स्वतन्त्रता रहती है ।

इस प्रकार राज्यपाल की स्वेच्छाचारी शक्तियॉ होने के बाद भी वह अधिनायक नही बन सकता है । क्योंकि शान्तिकाल में उसे अपने मंत्रियों की मंत्रणा माननी पड़ी है क्योंकि राज्यों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की गयी है । संकटकालीन अवस्था में उसे राष्ट्रपति की आज्ञाओं का पालन करना पड़ता है और राष्ट्रपति की निगरानी भी उस पर

रहेगी । इस मत का समर्थन इस बात से भी होता है कि सुनील कुमार बोस मुख्य सचिव बंगाल सरकार 1950 केस में कलकत्ता उच्च न्यायालय ने निर्णय दिया था कि "संविधान के अनुसार राज्यपाल मंत्रियों के परामर्श से ही कार्य करेंगे । भारत सरकार अधिनियम 1935 के अनुसार राज्यपालों की दूसरी स्थिति थी, उस समय राज्यपाल कुछ कार्य स्वविवेक से कर सकता था, वह कुछ कार्य अपने व्यक्तिगत निर्णय से कर सकता था । अर्थात् उसको मंत्रियों से सलाह लेनी पड़ती थी परन्तु उसके अनुसार कार्य करना या न करना उसकी इच्छा पर निर्भर था । भारत के संविधान में राज्यपाल से स्वविवेक शक्तियॉ तथा व्यक्तिगत निर्णय की शक्तियॉ ले ली गई हैं और राज्यपाल को अवश्य ही अपने मंत्रियों की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिए । भारत के महान्यायवादी का राज्यपाल की संवैधानिक स्थिति के बारे में यही विचार है ।*

चौथे आम चुनाव के पूर्व केन्द्र तथा राज्यों में अच्छे सम्बन्ध रहे क्योंकि लगभग सभी राज्यों और केन्द्र में कांग्रेस दल की ही सरकार थी । चौथे आम चुनाव के पश्चात कई राज्यों में विरोधी दलों की मिली जुली सरकारे स्थापित हो गयी और केन्द्र में कांग्रेस की ही सरकार रही । इसलिये केन्द्र व राज्य सरकारों में संघर्ष आरम्भ हो गया ।जब केन्द्र ने राज्यपालों की सहायता से चौथे आम चुनावों के पश्चात हरियाणा और बंगाल में गैर कांग्रेसी सरकार को हटाया और गैर कांग्रेसी राज्यों में अनुचित हस्तक्षेपकिया तो परिस्थिति विकट हो गई । पंजाब में अकाली दल के प्रधान सन्त फतेह सिंह ने अकालियों के सोलहवें अधिवेशन में जो बटाला (जिला, गुरूदासपुर) में 21 दिसम्बर; 1968 को हुआ राज्यों में केन्द्र के अनुचित हस्तक्षेप की कड़ी आलेचना की । उन्होने राज्यों के लिये

---

* The following observations regarding the power of Governer under the new Constitution were made by a special bench of the Calcutta High Court in the case of Sunil Kumar Bose and others Vs. The Chief Secretary of the Government of west Bengal (1950)- " The Governor under the present Constitution can not act except in accordance with the advice of his Ministers under the Government of India Act 1935, the position was different, the Governor could do certain act in his discretion, that is without asking for the advice of any Minister, he would do certain acts in his individual capacity to follow the advice of his Ministers, under the present Constitution the power to act in his discretion or in his individual capacity has been taken away and the Governor therefore, must act on the advice of his Ministers. This is the constitutional position as explained to us by the Attorny General of India and we accept his view.

अधिक शक्तियों की मांग की । मद्रास के स्वर्गीय मुख्यमंत्री श्री अन्नादुराई तथा तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री करूणानिधि ने भी राज्यों के लिये अधिक शक्तियों तथा साधनों की मांग की । तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने इस मांग को अनुचित बताया और कहा कि राज्यों के पास संविधान द्वारा दिये हुये आमदनी के पर्याप्त साधन और काफी शक्तियॉ है तथा केन्द्र का कोई अनुचित हस्तक्षेप नही है ।

19 सितम्बर 1968 को केन्द्रीय कर्मचारियों ने हड़ताल की, उस समय केरल में कानून और व्यवस्था टूटी तो केरल के तत्कालीन मुख्यमंत्री नम्बूदरीपाद ने केन्द्रीय रिजर्व पुलिस के केरल में रहने पर आपत्ति प्रकट की और अपनी पुलिस द्वारा केन्द्रीय सम्पत्ति की रक्षा की कोई व्यवस्था नही की । केरल सरकार तथा कई अन्य सरकारों ने केन्द्र पर यह आरोप लगाया कि वह राज्यों को पर्याप्त सहायता नही दे रहा है । तत्कालीन केन्द्रीय विदेश मंत्री श्री मोरारजी देसाई ने इस आरोप को स्वीकार नही किया । दिल्ली के तत्कालीन मुख्य कार्यकारी पार्षद श्री विजय कुमार मल्होत्रा ने भी कहा कि चुॅकि दिल्ली में जनसंघ का शासन है, इसलिये केन्द्र की कांग्रेस सरकार दिल्ली को पर्याप्त आर्थिक सहायता नही दे रही है और केन्द्र उनके बहुत से मामलों में अनुचित हस्तक्षेप कर रहा है । पश्चिम बंगाल के तत्कालीन गृहमंत्री ज्योति बसु ने भी केन्द्रीय सम्पत्ति की रक्षा के लिये बंगाल में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस को ठहराना अनुचित बताया । उन्होने 25 मार्च 1969 को अपने एक बयान में कहा कि शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना राज्य की जिम्मेदारी है न कि केन्द्र की । श्री बसु ने कहा कि ‘‘मै केन्द्र से पूछंगा कि किस कानून के अधीन केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बंगाल में ठहराई गयी । राज्य में इस पुलिस की कोई आवश्यकता नही है । दुर्गापुर के इस्पात कारखानें में प्रबन्धकों तथा मजदूरों की यूनियनों में मार्च 1968 में जो झगड़ा हुआ उसमें भी केन्द्रीय रिजर्व पुलिस ने लाठी और गोली चलाई । इसके सम्बन्ध में भी ज्योति बसु ने कहा कि किस कानून के अन्तर्गत दुर्गापुर में केन्द्रीय रिजर्व पुलिस बल जमी हुई है । जबकि उसे जाने के लिये काफी पहले आदेश दे दिया गया है । दूसरी तरफ तत्कालीन प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी ने संघ और राज्यों के अच्छे सम्बन्धों पर राष्ट्रीय एकता परिषद की बैठक में बल दिया । उन्होने 21 मार्च 1969 को राष्ट्रीय एकता परिषद की स्थायी समिति को सम्बोधित करते हुये कहा कि ‘‘बदलती हुई स्थिति में केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों का ध्यानपूर्वक अध्ययन किया

जाय"[13] उन्होने कहा कि "यह सोंचने की आवश्यकता है कि केन्द्र शक्तियों को घटाने के क्या परिणाम होंगे जबकि राज्य विभिन्न दिशाओं में खिंच रहे हैं ।"[14] उन्होने पुनः केन्द्र द्वारा राज्यों को सहयोग का आश्वासन दिया और संघीय पद्धति में विशेष रूप से केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक अच्छे सम्बन्धो पर बल दिया ।

अकाली दल, द्रविड़ मुनेत्र कड़गम (D.M.K.) तथा साम्यवादी दलों ने राज्यों को अधिक अधिकार देने की समय-समय पर मांग की । भारतीय संविधान में अनुच्छेद 257A जोड़ा गया है जिसकी धारा 1 के अनुसार भारत सरकार को यह अधिकार दिया गया है कि वह किसी भी राज्य में कानून और व्यवस्था क़ी गम्भीर स्थिति का सामना करने के लिये सेनाओं का प्रयोग कर सकती है और वे सेनाएं केवल भारतीय सरकार के अधीन रहेंगी । राज्य सरकार उनके मामलों में कोई हस्तक्षेप न कर सकेगी ।

भारत में केन्द्र और राज्यों के मध्य शक्तियों का वितरण प्रारम्भ से ही वाद-विवाद का विषय रहा है । संविधान द्वारा केन्द्र सरकार को विस्तृत शक्तियॉ प्रदान की गयी है और राज्यों को निसंन्देह कम शक्तिशाली बनाया गया है । भारतीय संविधान द्वारा केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों का जो विभाजन किया गया है उससे यह स्पष्ट है कि सभा क्षेत्रों में केन्द्र सरकार काफी शक्तिशाली है और राज्य सरकारें शक्तिहीन न केवल संघ सूची में वर्णित विषयों की संख्या ही अधिक है बल्कि जितने भी महत्वपूर्ण विषय है उन सभी का समावेश संघ सूची मे किया गया है और कम महत्व के विषय ही राज्य सूची में रखे गये हैं । यही नही कुछ परिस्थितियों में संघ सरकार राज्य सूची में दिये गये विषयों पर भी कानून बना सकती है । जहॉ समवर्ती सूची का सम्बन्ध है इस पर केन्द्र तथा राज्य सरकारों दोनों का ही संयुक्त अधिकार है लेकिन व्यवहारिक रूप से समवर्ती सूची संघ सरकार के अधीन है क्योंकि इस सूची में दिये गये किसी विषय पर यदि केन्द्र या राज्य सरकार कानून बनाती है तो केन्द्र सरकार द्वारा बनाया हुआ कानून ही मान्य होगा । विधायिनी क्षेत्र में संघ सरकार का महत्व इस कारण भी अधिक है क्योकि अवशिष्ट शक्तियॉ केन्द्र सरकार को ही दी गयी हैं । संविधान के 42वें संशोधन के द्वारा शिक्षा,

---

[13] दि टाइम्स इाफ इण्डिया (न्यू दिल्ली,) 12 जुलाई 1970, पृष्ठ. 1

[14] दि हिन्दुस्तान टाइम्स, दिल्ली, 8 अक्टूबर, 1968

वन तथा न्याय प्रशासन विषयों को जो अब तक राज्य सूची में थे समवर्ती सूची में हस्तान्तरित कर दिया गया है जिससे स्वाभावतः केन्द्र सरकार की शक्तियों में बृद्धि हुई है ।

जहॉ तक कार्यकारिणी शक्तियों का सम्बन्ध है इस क्षेत्र में भी केन्द्र सरकार का राज्य सरकारों पर प्रभुत्व दिखाई देता है विशेष रूप से राज्यो के प्रधान राज्यपालों की नियुक्ति और विमुक्ति का अनन्य अधिकार केन्द्र सरकार के पास होने तथा राज्य विधानमण्डलो का इसमें कोई भाग न होने के कारण केन्द्र सरकार राज्यों पर प्रभावी नियंन्त्रण स्थापित कर सकती है । केन्द्र सरकार के पास राज्यों को कार्यकारी निर्देश देने का अधिकार तथा कुछ अन्य उपबंन्ध है जो राज्यों की स्वयत्तता के लिये घातक प्रतीत होते हैं आपातकाल में केन्द्र सरकार की शक्तियॉ और भी ज्यादा बढ़ जाती हैं ।

भारत की संघ व्यवस्था में राज्य सरकारों की केन्द्र पर निर्भरता का सबसे महत्वपूर्ण कारण राज्यों का संघीय सरकार पर आर्थिक दृष्टि से आश्रित होना है । जैसा कि कहा जा चुका है कि राज्य सरकारों के राजस्व स्रोत इतने सीमित हैं कि बिना केन्द्र सरकार की आर्थिक सहायता के राज्य सरकारें अपने उत्तरदायित्वों विशेषकर कल्याणकारी योजनाओं का निर्वहन ठीक ढंग से नही कर सकतीं ।

संविधान द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच किया जाने वाला शक्ति विभाजन इस बात का प्रमाण है कि संविधान निर्माता जानबूझकर केन्द्र सरकार को अधिक शक्तिशाली बनाना चाहते थे । इसका मूल कारण स्वतन्त्रता के पश्चात उत्पन्न होने वाली वे राजनीतिक परिस्थितियॉ थी जिनमें विघटनकारी तत्व तेजी से विकसित हो रहे थे और देश की एकता तथा सुदृढ़ता को बनाये रखना प्रमुख समस्या थी । ऐसी परिस्थिति में यह आवश्यक था कि केन्द्र सरकार को शक्तिशाली बनाया जाय ताकि देश की एकता को बनाये रखा जा सके ।

मद्रास के मुख्यमंत्री अन्नादुराई ने एक बार कहा था कि "वर्तमान सांविधानिक व्यवस्था उत्तरदायित्वों के में भाग लेने की दृष्टि से संघात्मक है किन्तु साधनों की प्राप्ति की दृष्टि से एकात्मक है ।"[15]

15- द टाइम्स आफ इण्डिया; 30 नवम्बर 1970.

इनके इस कथन का अर्थ यह है कि भारतीय संघ में राज्य सरकारों के आर्थिक साधन इतने सीमित है कि वे अपने निर्धारित कार्यो का संपादन करने के लिये केन्द्र सरकार का मुँह देखती है और यदि केन्द्र सरकार उन्हे आर्थिक सहायता न दे तो राज्य सरकारों का चलना ही कठिन हो जायेगा । आर्थिक दृष्टि से अधिक शक्तिशाली होने के कारण केन्द्र सरकार का राज्य सरकारों पर प्रभुत्व व नियंन्त्रण बराबर बढ़ता जा रहा है और केन्द्र पर राज्यों की इस आर्थिक निर्भरता के कारण भारतीय संघ का स्वरूप काफी प्रभावित हुआ है । 1950 में भारत सरकार ने एक योजना आयोग का निर्माण करके सम्पूर्ण देश के आर्थिक विकास के लिये योजनायें बनाने और उसके लिये धन की व्यवस्था करने का कार्य उसे सौंप दिया । योजना आयोग की स्थापना और केन्द्र द्वारा पूरे देश की पूरी अर्थव्यवस्था पर केन्द्र सरकार का प्रभुत्व स्थापित हो गया । यद्यपि योजना आयोग का प्रावधान संविधान में नहीं है और इसकी स्थापना एक कार्यकारी आदेश द्वारा की गयी । मूलरूप से योजना आयोग एक परामर्शदात्री संस्था है लेकिन विगत वर्षो में योजना आयोग ने देश की अर्थव्यवस्था पर इतना अधिक नियन्त्रण प्राप्त कर लिया है कि कुछ विचारकों ने इसे सर्वोपरि मंत्रिमंडल (सुपर कैबिनेट) कहा है ।

यद्यपि यह बात सही है कि संविधान लागू होने के बाद से 1967 के चतुर्थ आम चुनाव तक भारत में केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध रहे और उनके बीच कोई संवैधानिक गतिरोध नही उत्पन्न हुआ जिसका मुख्य कारण केन्द्र व अधिकांश राज्यों में एक ही राजनीतिक दल का सत्तारूढ़ होना था । सन् 1967 के आम चुनाव में एकदलीय अधिपत्य का अन्त कर दिया गया और भारतीय संघ के आठ घटक राज्यों में कांग्रेस दल को बहुमत नही प्राप्त हो सका फलस्वरूप इन राज्यों में गैर कांग्रेसी मिश्रित सरकारों का निर्माण हुआ जिसके पश्चात केन्द्र व राज्यों के बीच शक्तियों के वितरण और सामंजस्य की समस्या उत्पन्न हुई । राज्य सरकारों की ओर से स्वायत्तता की मांग की गयी । इस राजनीतिक परिवर्तन के फलस्वरूप राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों तथा केन्द्रीय सरकार के बीच प्रत्येक कदम पर टकराव आरम्भ हुआ जिसका एक कारण कांग्रेस दल के विरूद्ध विपक्षी दलों में पायीजाने वाली द्वेष भावना थी । इसलिये सभी गैर कांग्रेसी सरकारों वाले राज्यों की ओर से केन्द्र के बढ़ते हुये नियंन्त्रण के खिलाफ आवाज उठाई गयी और यह मांग की गयी कि राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता मिलनी चाहिए । केन्द्र

सरकार के विरूद्ध अधिकतम स्वायत्तता की मांग एक ओर बंगाल की संयुक्त मोर्चा सरकार की ओर से उठायी गयी और दूसरी ओर मद्रास के डी० एम० के० सरकारों ने इसे एक आन्दोलन का रूप दिया । अप्रैल 1970 मे मद्रास के मुख्यमंत्री करूणानिधि ने यह नारा दिया कि "राज्यों में स्वशासन और केन्द्र मे संयुक्त शासन" और इस नारे को डी० एम० के० दल के संविधान में भी सम्मिलित किया गया । पंजाब में अकाली दल की ओर से राज्यों के लिये अधिक से अधिक स्वायत्तता देने की मांग की गयी और यह कहा गया कि रक्षा, विदेशी सम्बन्ध तथा मुद्रा निर्माण के अतिरिक्त सारे अधिकार राज्यो के पास होने चाहिए ।

.भारतीय दल प्रणाली के सन्दर्भ में केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धो के विषय में एक परिकल्पना यह की गई है कि जब केन्द्र तथा राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सरकारें होगी तो संघीय व्यवस्था व्यवहारिक रूप से एकात्मक सरकार में परिवर्तित हो जायेगी । इसी आधार पर कुछ लेखको ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि 1967 तक भारतीय संघ वास्तव में एक एकात्मक सरकार के रूप में कार्य करता रहा । इस काल में राज्यों में सरकारों के निर्माण तथा उनकी मौलिक नीतियों के निर्धारण आदि में कांग्रेस दल के केन्द्रीय नेतृत्व का महत्वपूर्ण हाथ रहा । जैसे संसद तथा राज्य विधानमण्डलों के लिये उम्मीदवारों के चयन, राज्यों के मंत्रिमण्डल का निर्माण, मुख्यमंत्री का चुनाव और प्रदेशीय कांग्रेस के नेताओं के बीच के वाद-विवाद को तय करने में कांग्रेस के केन्द्रीय नेतृत्व ने महत्वपूर्ण भूमिका अदा की । पंडित नेहरू के चमत्कारी नेतृत्व के कारण राज्यों की राजनीति में दल के केन्द्रीय नेतृत्व का प्रभुत्व काफी बढ़ गया था । यहॉ तक की 1963 में कामराज योजना के अधीन छः मुख्यमंत्रियों को अपनापद त्याग कर दल के कार्यो क़े लिये कार्य करने का प्रण लेना पड़ा । यही नही नीतियों के निर्माण के सम्बन्ध में भी कांग्रेस वर्किंग कमेटी ने महत्वपूर्ण भाग अदा किया और जमींदारी उन्मूलन, भूमिसुधार, प्रारम्भिक शिक्षा आदि विषयों पर राज्य सरकारों का निर्देशन किया । केन्द्र सरकार ने राज्यों पर अपना नियंन्त्रण अनुच्छेद 356 का प्रयोग करके भी स्थापित किया और अनेक राज्यों में राष्ट्रपति शासन की स्थापना का निर्माण बड़ी जल्दी किया गया ।

यहॉ तक कि केरल विधानसभा में साम्यवादी दल के बहुमत में होने के बाद भी वहॉ राष्ट्रपति शासन की उद् घोषणा की गई । 1951 में पंजाब में कांग्रेस दल के

आन्तरिक मतभेद के कारण पैदा होने वाली स्थिति से निपटने के लिये केन्द्र के आदेशानुसार मुख्यमंत्री गोपीचन्द्र भार्गव को त्यागपत्र देना पड़ा इस प्रकार 1967 तक राज्यों पर केन्द्र सरकार का कठोर नियन्त्रण रहा । जिसका मूल कारण एकदलीय प्रभुत्व तथा दलीय अनुशासन था ।

लेकिन ऐसा नही है कि 1967 तक समस्त राज्यो की कांग्रेस सरकारों और केन्द्र सरकार के बीच कोई मतभेद उत्पन्न ही नही हुआ। वास्तव में इस काल में भी विकेन्द्रीकरण की प्रवृत्ति विद्यमान थी और राज्यों को केन्द्र के साथ सम्बन्ध बहुत कुछ कांग्रेस के केन्द्रीय स्तर के नेताओं और विभिन्न राज्यों में कांग्रेस नेताओं के व्यक्तित्व पर निर्भर करता था । जैसे गुजरात में मोरारजी देसाई, पश्चिम बंगाल में वी० सी० राय, उत्तरप्रदेश में गोविन्द वल्लभ पंत तथा वी० सी० गुप्ता, पंजाब में प्रताप सिंह कैरों, महाराष्ट्र में वाई० बी० चह्वाण और मद्रास में कामराज नादर जैसे मुख्यमंत्रियों को पार्टी हाईकमांड अपने पूर्व नियंन्त्रण में नही रख सकी । नेहरू की मृत्यु के बाद काफी दिनों तक कांग्रेस संगठन विभिन्न राज्यों में अपनी नीतियों को अधिक प्रभावी बनाने में ज्यादा सफल न रहा और अनेकों मामलों में मुख्मंत्रियों ने पार्टी हाईकमांड के आदेशों की उपेक्षा की । उदाहरण के लिये 1965 में पंजाब के मुख्यमंत्री रामकिशन ने केन्द्र सरकार द्वारा पंजाब में सीमा सुरक्षा दल के भेजे जाने का विरोध किया । मैसूर के तत्कालीन मुख्यमंत्री ने मैसूर और महाराष्ट्र के बीच झगड़ों को अखिल भारतीय कांग्रेस कमेटी द्वारा प्रस्तावित हाईपावर कमीशन को समर्पित करने से इन्कार कर दिया ।

पश्चिमी बंगाल में डॉ० वी० सी० राय ने योजना आयोग को चुनौती देते हुये बंगाल में. कुछ प्रोजेक्टस की स्थापना के लिये विदेशी मुद्रा का प्रत्यक्ष रूप से प्रबन्ध करने की धमकी दी । इसका अर्थ यह है कि 1952 से 1967 के बीच भी जब केन्द्र तथा राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सरकार रही केन्द्र सरकार कुछ राज्यों से अपने आदेशों का पालन पूरी तरह कराने में असफल रही अनेक मामलों में राज्य सरकारों ने केन्द्र के आदेशों अथवा बनाई हुई नीतियों को स्वीकार तो कर लिया लेकिन उसको कार्यान्वित करने में उदासीनता दिखाई । इसका ज्वलन्त प्रमाण कांग्रेस हाईकमांड द्वारा भूमि पर अधिकतम सीमा लगाने की नीति थी । लगभग सभी राज्यों ने इस नीति को स्वीकार किया और उसके अनुरूप कानून भी बना दिया लेकिन शायद किसी भी राज्य में उस

कानून को पूरी तरह से कार्यान्वित नही किया गया और आज भी केन्द्र द्वारा प्रतिपादित नीतियों के अनुसार भूमि सम्बन्धी सुधारो को पूरी तरह कार्यान्वित नही किया जा सका इसी तरह कुछ अन्य क्षेत्रों में जैसे मदिरा निषेद्ध, त्रिसूत्रीय भाषा फारमूला आदि केन्द्र सरकार द्वारा बनायी गई नीतियों को राज्य सरकारों ने व्यवहारिक रूप से विशेष महत्व नही दिया । जैसे केन्द्र सरकार ने इस नीति को कि सभी स्कूलों मे हिन्दी को अनिवार्य विषय बनाया जाये, प्रभावकारी ढंग से लागू नही किया । दक्षिण भारत के अनेक राज्यों ने त्रिसूत्रीय फारमूला को स्वीकार तो किया लेकिन व्यव्हारिक रूप से इसे कार्यान्वित नही किया । हिन्दी का विरोध केवल उन्ही राज्यों मे नही किया गया जहॉ गैर कांग्रेसी सरकारें कार्य कर रही थी बल्कि दक्षिण भारत के उन राज्यों ने भी हिन्दी का विरोध किया जहॉ कांग्रेस दल सत्ता में था ।

इस प्रकार यह कह सकते है कि यह परिकल्पना कि यदि केन्द्र और राज्य सरकारों में एक ही राजनीतिक दल सत्ता में होगा तो संघात्मक शासन एकात्मक शासन में परिवर्तित हो जायेगा । यद्यपि ऐसी स्थिति में केन्द्र सरकार अपेक्षाकृत ज्यादा प्रभावशाली अवश्य हो जाती है और केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिलता है लेकिन इस स्थिति में भी केन्द्रीय सरकार का शक्तिशाली होना बहुत कुछ केन्द्रीय और राज्य स्तरीय नेतृत्व के स्वरूप और क्षमता पर निर्भर करता है ।

1967 के आम चुनाव के पश्चात कुछ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों का निर्माण हुआ और कुछ विषयों पर केन्द्र तथा राज्यों के बीच वाद-विवाद उत्पन्न हुआ तो लोगों ने यह विचार व्यक्त किया कि राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना भारत की संघीय व्यवस्था के लिये अत्यधिक खतरनाक है । और इससे केन्द्र तथा राज्यों के वीच गम्भीर टकराव की स्थिति उत्पन्न हो जायगी । इन बदलती हुई राजनीतिक परिस्थितियों में भारतीय संघ के भविष्य के राजनीतिज्ञ राजगोपालाचारी ने चतुर्थ आम चुनाव के परिणामों को दृष्टि में रखते हुये यह कहा था "कि अब एक सच्ची संघीय व्यवस्था का उद् भव हो रहा है ।"[16] श्री के० संथानम ने यह दावा किया था कि "भारत का राजनीतिक

16- यूनियन स्टेट रिलेशंस 'इन इंण्डिया' में उद्दत पूर्वोत्तर, पृष्ठ 188.

हिमखंड पिघल चुका है और देश का वास्तविक राजनीतिक विकास वास्तव मे आरम्भ हो गया है ।"[17]

चतुर्थ आम चुनाव के बाद देश में पहली बार आठ राज्यों में गैर काग्रेसी मिश्रित सरकारो का निर्माण हुआ और लगभग सभी छोटे-बड़े प्रादेशिक राजनीतिक दलों को सत्ता में आने का अवसर प्राप्त हुआ । यद्यपि सभी गैर कांग्रेसी राज्य सरकारो की ओर से इकाई राज्यों की ओर से इकाई राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता दिये जाने की मांग की गयी लेकिन जिन राज्यों में प्रादेशिक राजनीतिक दलों द्वारा सरकार बनायी गई उनमें केन्द्र तथा राज्यों के बीच क्षेत्राधिकार सम्बन्धी अनेकों वाद-विवाद उठ खड़े हुये । विशेषकर तमिलनाडु में डी० एम० के० सरकार की ओर से राज्यो को अधिक से अधिक स्वायत्तता दिये जाने का अभियान चलाया गया । इसी प्रकार बंगाल में और केरल में साम्यवादी सरकारों ने केन्द्रीय सरकार का विभिन्न मामलों में घोर विरोध किया और संविधान मे आमूल परिवर्तन करने की मांग की । इसी बीच केन्द्र सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 356 का जिस तरह प्रयोग किया उससे भी विपक्षी दलों में असन्तोष बढ़ा और यह मांग की गयी कि केन्द्र तथा राज्यों के बीच शक्तियों का पुर्नवितरण किया जाये तथा अनुच्छेद 356 के प्रयोग करने पर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध लगाये जायें जिससे केन्द्र सरकार इस सत्ता का दुरूपयोग न कर सके । इन परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुये कुछ विचारकों ने यह मत व्यक्त किया कि राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना से देश की एकता और संघीय व्यवस्था संकट में है ।

श्री एस० पी० अय्यर ने इस दृष्टिकोण का खंडन किया था कि कुछ राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों की स्थापना हो जाने से संविधान द्वारा स्थापित संघीय व्यवस्था के छिन्न-भिन्न हो जाने का भय है । उन्होने इसके लिये इस प्रकार तर्क दिये:[18]

1. राज्यों की आर्थिक स्थिति इतनी कमजोर है और उनके आय के साधन इतने सीमित है कि वे केन्द्र सरकार से कोई स्थाई टकराव नही ले सकते ।

17- संथानम के० यूनियन स्टेट रिलेशंस 'इन इंडिया' (एशिया पब्लिशिंग हाऊस, बांबे 1963) पृष्ठ 54-56
18- अय्यर एस० पी० : यूनाइटेड एशिया' (बम्बई, मार्च अप्रैल 1967) पृष्ठ 88-89.

2 गैर कांग्रेसी मिश्रित मंत्रिमण्डल की विभिन्न इकाई दलों में नीति विषयक मौलिक प्रश्नों पर सहमति होना सम्भव नही है । अत· वे केन्द्र के विरूद्ध संगठित रूप से कार्य नही कर सकते ।

3. कोई भी राज्य केन्द्र सरकार को इस कारण अप्रसन्न नही करेगा क्योंकि अपनी विभिन्न योजनाओं के लिये राज्यों को पूर्ण रूप से केन्द्र सरकार पर निर्भर रहना पड़ता है ।

4. संविधान में कुछ महत्वपूर्ण प्रावधान हैं जिनका प्रयोग करके केन्द्र सरकार विरोधी दलों द्वारा शासित राज्य सरकारों को आसानी से दबा सकती है । ऐसे प्रावधानों में अनुच्छेद 249, 251, 257, 256 आदि हैं ।

5. केन्द्र सरकार अधिक दिनों तक स्वेच्छाचारिता से शासन नही कर सकती क्योकि केन्द्र सरकार द्वारा बनाई गई नीतियों को कार्यान्वित करने का उत्तरदायित्व राज्य सरकारों पर ही होता है । इसलिये केन्द्र सरकार को राज्य सरकोरां का सहयोग प्राप्त करने के लिये उनके साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करना होगा ।

एस० पी० अयर के दृष्टिकोण से ऐसा लगता है कि उन्होने यह निष्कर्ष केवल कुछ राज्यों में बनने वाली गैर कांग्रेसी सरकारों को दृष्टि में रखकर ही निकाला है । 1967 के बाद भारत में जो गैर कांग्रेसी सरकारें बनी उनमें अधिकांश सरकारें अनेक छोटे-छोटे राजनीतिक दलों द्वारा निर्मित मिली जुली सरकारें थीं । इसलिये इन सरकारों के विभिन्न घटकों के बीच एकता तथा संगठित होकर कार्यकरने की भावना का अभाव था । इसी कारण यह मिश्रित सरकारें केन्द्र सरकार के लिये कोई विशेष समस्या न बनी । लेकिन तमिलनाडु में जहॉ डी० एम० के० के हाथ में राजनीतिक सत्ता थी या बंगाल तथा केरल जहॉ साम्यवादी दल दृढ़ स्थिति में था केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच काफी संख्या में वाद-विवाद उत्पन्न हुये यहॉ तक की तमिलनाडु की डी० एम० के० सरकार संघ से अलग होकर एक स्वतन्त्र राज्य में परिवर्तित होने के लिये तैयार थी 1977 के लोकसभा चुनाव के पश्चात नौ राज्यों की विधानसभाओं के विघटन कराने के जो भी कारण बताये जाते हों लेकिन तथ्य यह है कि केन्द्र में सत्तारूढ़ जनता पार्टी यह समझती थी कि यदि देश के बड़े राज्यों में कांग्रेस सरकारें बनी रहीं तो अनेक राजनीतिक समस्यायें उत्पन्न हो सकती हैं । इस प्रकार जैसा कि एस० पी० अयर ने कहा था कि राज्यों में विपक्षी सरकारों की स्थापना के बाद भी वे केन्द्र के खिलाफ नही जा सकती

गलत मालूम पड़ता है क्योंकि केन्द्र सरकार के पास राज्यों को अपने नियंन्त्रण में रखने के लिये विस्तृत शक्तियॉ होती है । इस प्रकार यह भी नही कहा जा सकता कि केन्द्र तथा राज्यों में एक ही राजनीतिक दल की सरकारें होगी तो भारत का संघीय ढॉचा एकात्मक सरकार में बदल जायेगा । 1967 तक भारत में एक दल के प्रभुत्व होने के बाद भी केन्द्र सरकार सभी राज्यों से अपने आदेशो का पालन पूर्णरूप से कराने में असमर्थ रही और अनेक विषयो पर राज्य सरकारो ने केन्द्र सरकार की नीतियो को अपनानें मे उदासीनता बरती । वास्तव में केन्द्र सरकार तथा राज्यो के सम्वन्ध सत्तारूढ़ दल के आन्तरिक संगठन, दल के नेतृत्व, दलीय अनुशासन; दल के प्रादेशिक संगठन और केन्द्रीय संगठन के बीच तथा प्रादेशिक संगठन और केन्द्रीय संगठन के बीच तथा प्रादेशिक संगठन के विभिन्न स्तरों के पारस्परिक सम्बन्धों पर निर्भर करते है ।

1977 के लोकसभा चुनाव में कांग्रेस दल के तीस वर्षीय राजनीतिक एकाधिकार का अन्त हो गया और कुछ राजनीतिक दलो के सम्मिलन से बनने वाले एक राजनीतिक दल जनता पार्टी को लोकसभा मे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ। इस चुनाव के वाद ही देश मे नौ राज्यों मे अनुच्छेद 356 का प्रयोग करके राज्य विधानसभाओं का समय से पूर्व विघटन कर दिया गया । और जून 1977 में नये चुनाव कराये गये (जिसमें तमिलनाडु विधानसभा पहले से ही विघटित थी) जिन दस राज्यों मे विधानसभा कें चुनाव हुये उनमें से सात राज्यों में जनता पार्टी को स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ । तमिलनाडु में ए० डी० एम० के०, बंगाल में साम्यवादी दल और पंजाब में आकाली जनता मोर्चे की सरकार की स्थापना हुई । इस प्रकार 1977 के पश्चात भारतीय राजनीति के दल प्रणाली के स्वरूप में केवल इतना परिवर्तन हुआ कि कांग्रेस के स्थान पर एक दूसरे राजनीतिक दल के एक दलीय आधिपत्य का प्रादुर्भाव हुआ । इस बदले हुये राजनीतिक वातावरण मे केन्द्र और राज्यों के पारस्परिक संम्बन्धो का प्रश्न निसन्देह एक राजनीतिक महत्व का विषय प्रतीत होता है । इस प्रकार जनता पार्टी के कुछ नेता अतीत में अत्यधिक केन्द्रीकरण की शिकायत करते रहे है और विशेष रूप से क्षेत्रिय राजनीतिक दल राज्यों को अधिक स्वायत्तता दिये जाने की मांग करते रहे है । ए० डी० एम० के० के 1977 के चुनाव घोषणापत्र में सशक्त केन्द्र और राज्यों के हार्दिक सहयोग का नारा दिया गया था । इसी प्रकार आकाली दल के चुनाव घोषणापत्र में भी राज्यों को वास्तविक स्वायत्तता देने की बात कही गयी थी ।

पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री ने एक वक्तव्य में कहा था कि उनकी सरकार अधिक शक्तियों की मांग करेगी ।

इन परिस्थितियों में यह बात महत्वपूर्ण है कि राज्यों की स्वायत्तता की मांग और सशक्त केन्द्र की आवश्यकता के बीच किसी प्रकार का सामंजस्य स्थापित किया जाये । संविधान के 42वें संशोधन ने केन्द्र सरकार की शक्तियों को खतरे की हद तक बढ़ा दिया है । संविधान में संशोधन करने का असीमित अधिकार संसद को दिया जाना अनुच्छेद 31 डी० के द्वारा संसद को राष्ट्रविरोधी गतिविधियों और संस्थाओं को नियंन्त्रित करने का अधिकार होना । राज्यसूची के कुछ महत्वपूर्ण विषयों को समवर्ती सूची में हस्तान्तरित किया जाना और न्यायपालिका कि स्थिति को गौण बना देना एक स्वस्थ संघीय व्यवस्था के लिये हानिकारक प्रावधान है । सविधान के 42वें संशोधन ने एक नये अनुच्छेद 257 के माध्यम से केन्द्र सरकार को राज्यों में आन्तरिक अशान्ति की दशा में सेना भेजने का अधिकार प्रदान किया है । यद्यपि अतीत में जब भी केन्द्र सरकार ने राज्यों में सेना भेजी तो राज्यों ने उस पर आन्तरिक रोष प्रकट किया था ।

यद्यपि संशोधनों के बाद भी कहा जा सकता है कि संघ सरकार को राज्यो की स्वायत्तता में हस्तक्षेप करने का अवसर पहले से कहीं ज्यादा उपलब्ध है और यह जनता पार्टी के केन्द्रीय नेतृत्व के रवैये पर निर्भर करेगी कि वह राज्यों को अपनी सविधानिक स्वायत्तता का प्रयोग करने का अवसर किस सीमा तक देगा ।

भारतीय संघ के इतने वर्षो के इतिहास से यह स्पष्ट होता है कि केन्द्र और राज्यों में एक ही दल के सत्तारूढ़ होने; दल पर कठोर नियंन्त्रण होने केन्द्रीय नेतृत्व के प्रभाव के कारण कुछ अपवादें के अतिरिक्त राज्य सरकारें कांग्रेस दल की राज्य शाखाओं के रूप में कार्य करती रही है । 1971 से 1977 के बीच श्रीमती इन्दिरा गॉधी के चमत्कारी नेतृत्व और उनके व्यक्तिगत प्रभाव के कारण राज्य सरकारों का निर्माण और विघटन श्रीमती गॉधी की व्यक्तिगत पसन्द और नापसन्द का मामला बन गया था और अधिकांश मुख्यमंत्री श्रीमती गॉधी के इशारों पर चलते रहे और जिन्होने जरा भी सर उठाने की कोशिश की तो उन्हे अपने पद से हाथ धोना पड़ा । चाहे वह उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री बहुगुणा रहे हों या उड़ीसा के मुख्यमंत्री नंदिनी सतपथी ।

इस प्रकार 1977 के चुनाव के बाद दलीय स्थिति ऐसी है जिसमें दल का केन्द्रीय नेतृत्व अधिकांश राज्य सरकारों से आसानी से अपने निर्देशानुसार कार्य करा सकता है । इस प्रकार ऐसा लगता था कि जनता पार्टी का केन्द्रीय नेतृत्व राज्यों पर हावी था और राज्यस्तर पर जनता पार्टी का नेतृत्व जिन व्यक्तियों के हाथ में था उनमें इतनी क्षमता नही थी कि वे दल के केन्द्रीय नेतृत्व की किसी अनुचित बात का भी विरोध कर सकें । यह स्थिति राज्यों की स्वायत्तता के लिये अत्यधिक घातक और देश के संघीय स्वरूप के विकास के लिये हानिकारक रही । इसमें संदेह नही है कि जनता पार्टी में केन्द्रीय स्तर पर नेतृत्व का टकराव था और दल के सभी प्रमुख नेता अपने-अपने प्रभाव को बढ़ाने के लिये संघर्ष कर रहे थे । इन परिस्थितियों में केन्द्र और राज्यों का पारस्परिक सम्बन्ध दल के केन्द्रीय स्तर और राज्य स्तर के स्वरूप पर निर्भर करता है ।

मार्च 1977 के लोक सभा एवं जून 1977 के राज्य विधानसभाओं के निर्वाचनों का विलक्षण परिणाम रहा- केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी से भिन्नता रखने वाली पार्टियों का राज्यों में उदय । फलस्वरूप केन्द्र राज्य सम्बन्ध पर नये सिरे से बहस महत्वपूर्ण हो गयी । राज्यों में शासन करने वाली पार्टिया केन्द्र से और अधिक स्वतन्त्र होने की मांग करने लगी । राज्यों की केन्द्र पर अत्यधिक वित्तीय निर्भरता की स्थिति ने एक बड़ी सीमा तक सत्ता के केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को बढ़ाया । अतः केन्द्र पर राज्यों की वित्तीय निर्भरता दूर करने के लिये पश्चिम बंगाल की वामपंथी सरकार ने मांग की । केन्द्र के राजनीतिक और आर्थिक अधिकारों में कमी करके राज्यों को अधिक से अधिक स्वायत्तता प्रदान की । राज्यों को अपनी एक निश्चित क्षेत्र में स्वतंत्रता पूर्वक काम करने का अधिकार ही स्वायत्तता है ।

कर्नाटक के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्व० देवराज अर्स ने कहा था ''कि आज की संघीय सरकार अपने कमजोर राजनीतिक चरित्र के कारण बड़े भागीदार की भूमिका निभाने में असमर्थ है । जिन परिस्थितियों के कारण संविधान निर्माताओं ने एकात्मकता की ओर झुकाव रखा था, वे परिस्थितियॉ बदल चुकी है । अब संविधान में संशोधन करके केन्द्र व

राज्यों को संघवादी ढाँचे में समान और स्वायत्त भागीदार बनाया जाना चाहिए । उसी से भारतीय संघ व्यवस्था प्रभावशाली ढंग से काम करेगी।"[19]

11 फरवरी 1978 को जम्मू कश्मीर के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्व० शेख अब्दुल्ला ने कलकत्ता में 'कश्मीर मेले' का उदघाटन करते हुये इस बात की मांग की कि तीस वर्ष पूर्व की परिस्थितियाँ अब नही रही है अतः अब राज्यों को अधिक अधिकार दिये जाने चाहिए जिससे वे अपना विकास कर सके । केन्द्र तथा राज्यो के समस्त सम्बन्धो पर पुर्नविचार किया जाना चाहिए ।

भारत मे मार्क्सवादी दल, अकाली दल, नेशनल कान्फ्रेंस तथा अखिल भारतीय द्रविण मुनेत्र कड़गम दलों द्वारा शासित राज्यों गें समय-समय पर केन्द्रीय सरकार के अधिकारों में कटौती करके राज्य सरकारों के अधिकारों में बृद्धि किये जाने की मांग प्रस्तुत की गई है । जनता पार्टी के शासन काल में गैर जनता पार्टी के मुख्यमंत्री जैसे- ज्योति बसु, प्रकाश सिंह बादल, शेख अब्दुल्ला, एम० जी० रामचन्द्रन, देवराज अर्स आदि ने माग की कि केन्द्र व राज्यों के सम्बन्धों मे सन्तुलन की स्थिति होना चाहिए । और केन्द्र के पास कुछ अधिकारों को छोड़कर शेष सभी अधिकार राज्यों के पास होने चाहिए अर्थात राज्यों को स्वायत्तशासी बनाया जाये ।[20]

पश्चिमी बंगाल की मार्क्सवादी सरकार स्वायत्तता की मांग का विगुल बजाने में अगुआ बनी । इसी उद्देश्य से वहॉ की सरकार ने एक विस्तृत मसौदा तैयार किया और इस मसौदे को पश्चिमी बंगाल के मंत्रिमण्डल ने स्वीकृत कर अन्यराज्य सरकारों तथा केन्द्र के तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई से भी बातचीत की और सुझाव दिया कि सभी मुख्यमंत्रियों का सम्मेलन बुलाया जाये तथा इस पर राष्ट्रीय बहस चलाने के लिये वातावरण बनाया जाये ।

राज्यों की स्वायत्तता मे सन्दर्भ में प्रस्तुत किये गये मसविदें में निम्नलिखित सुझाव महत्वपूर्ण है-

1. भारतीय संघ को राज्यों का परिसंघ घोषित किया जाये ।

19- द सन्डे (कलकत्ता) 20 अप्रैल 1978, पृष्ठ. 22-29

20- नन्द किशोर त्रिखा "संघ और राज्य - एक और गोष्ठी : नतीजा कुछ नही", दि नवभारत टाइम्स 23 दिसम्बर 1978, पृष्ठ 4

2. राज्य विधानसभायें जो कानून पास करेंगी उसमें किसी प्रकार की केन्द्रीय अनुमति की आवश्कता नही हो ।
3. राज्यों में कभी भी राष्ट्रपति शासन न लागू किया जाये संविधान के अनुच्छेद 356 और 357 को जिसके अन्तर्गत भारतीय संघ के राष्ट्रपति को राज्यो के विघान सभाओं को भंग करने का अधिकार है उसको समाप्त किया जाये ।
4. लोकसभा के समान राज्यसभा का निर्वाचन प्रत्यक्ष कराया जाये और तीस लाख से अधिक आबादी वाले राज्य को राज्यसभा में समान प्रतिनिधित्व दिया जाये ।
5. कुल राष्ट्रीय राजस्व का 75 प्रतिशत भाग राज्य सरकारों के व्यय हेतु प्रदान किया जाये ।
6. राज्य के सभी कर्मचारी राज्य सरकार के अधीन होंगे । राज्य में (I.A.S) भारतीय प्रशासनिक सेवा तथा (I.P.S.) भारतीय पुलिस सेवा अधिकारी न हो और इन पदों को समाप्त किया जाये अथवा (I.P.S.). व (C. R. P.) (केन्द्रीय आरक्षी दल जैसी सेवाओं को राज्य के अधीन किया जाये ।)
7. राज्यों में स्वशासन के अधिकार के संरक्षण के लिये संविधान के अनुच्छेद 248 में इस प्रकार संशोधन किया जाये जिससे किसी भी महत्वपूर्ण विषय पर कानूनन राज्य विधानसभाओं का पूर्ण अधिकार बना रहे ।
8. संविधान के अनुच्छेद 249 को रद्द किया जाना चाहिए ।
9. योजना आयोग की कार्यप्रणाली में भी फेरबदल किया जाना चाहिए ।
10. राज्यों को कर लगाने और वसूल करने का अधिकार पूर्ण रूप से मिलना चाहिए।
11. संविधान के अनुच्छेद 280 की धारा 2 और 7 को समाप्त करना चाहिए ।
12. केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के वाणिज्य सम्बन्धी संविधान के अनुच्छेद 302 में निहित अधिकारों को खत्म करना चाहिए ।
13. संविधान के अनुच्छेद 200 तथा 201 को भी खत्म किया जाये ।
14. राज्य की क्षमतानुसार राज्य विधानसभाओं को केन्द्र के समकक्ष सार्वभौम क्षमता मिलनी चाहिए ।[21]

21- दिनमान 25 दिसम्बर से 31 दिसम्बर 1977 पृष्ठ 21-22

राज्य स्वायत्तता के दूसरे प्रमुख समर्थक थे जम्मू कश्मीर राज्य के भूतपूर्व मुख्यमंत्री स्व० शेख अब्दुल्ला जिन्होने दिल्ली में आयोजित एक सवाददाता सम्मेलन मे कहा कि "भारतीय संविधान धारा 370 को सभी राज्यों पर लागू किया जाये और राज्यों को अधिक से अधिक अधिकार दिये जाये ताकि राज्य सरकारें समस्याओ से निपट सकने मे सक्षम हो ।"[22]

पश्चिमी बगाल के मार्क्सवादी वित्तमंत्री अशोक मित्र ने आर्थिक स्वायत्तता के समर्थ में जोरदार तर्क दिये । उन्होने कहा कि केन्द्र को सभी प्रत्यक्ष करों और अधिकांश अप्रत्यक्ष करों के नियंन्त्रण का अधिकार है । केन्द्र के पास विदेशी मुद्रा का सुरक्षित कोष भी है जिससे वह अपने घाटे की वित्त व्यवस्था को कम कर सकता है जबकि वह विदेशी मुद्रा राज्यों द्वारा पैदा की जाती है उन्होने यह भी कहा कि जनता पार्टी के नये कार्यक्रम में ग्रामीण विकास पर जोर दिया गया है । जो राज्यों द्वारा कार्यान्वित होगा यदि राज्यों को अधिक वित्तीय शक्ति नही दी गयी तो उन्हे उत्तरदायित्व देने का कोई लाभ नही होगा ।[23]

पंजाब के भूतपूर्व अकाली मुख्यमंत्री प्रकाश सिंह बादल के अभिमत मे केन्द्र की सुदृढ़ता राज्यों की सुदृढ़ता पर निर्भर करती है । आकाली दल ने अपने चुनाव घोषणा पत्र में भी राज्यों की अधिक स्वायत्तता का समर्थन इस आधार पर किया था कि राज्य ही लोककल्याण एवं सामाजिक विकास की योजनाओं को क्रियान्वित करने वाले निकाय है, अतः उन्हे स्वायत्त बनाना चाहिए ।[24]

तमिलनाडु की डी० एम० के० और अन्ना डी० एम० के० सरकारें भी राज्य स्वायत्तता की मांग कर रही है । पंजाब में अकाली दल द्वारा उग्र आन्दोलन प्रारम्भ किया गया और आन्दोलन में एक मांग यह थी कि उनके द्वारा 1973 में पारित आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव को स्वीकार किया जाये । इस प्रस्ताव में एक मांग यह की गयी कि केन्द्र सरकार का अधिकार देश की प्रतिरक्षा, वैदेशिक सम्बन्ध, संचार, रेलवे और मुदा तक ही सीमित रहना चाहिए । इन परिस्थितियों के सन्दर्भ में केन्द्र- राज्य सम्बन्धो पर पुर्नविचार के

22- जान्हवी (नयी दिल्ली) नवम्बर 1978, पृष्ठ 33-34.

23- द टाइम्स आफ इण्डिया (न्यू देहली) 12 जुलाई 1977, पृष्ठ -1

24- द सन्डे : 2 अप्रैल 1978; पृष्ठ -19

लिये सरकार द्वारा 24 मार्च 1983 को सरकारिया आयोग की नियुक्ति की गयी । आयोग को संविधान के ढॉचे के अन्तर्गत ही केन्द्र राज्य सम्बन्धों की स्थिति की समीक्षा करने का कार्य सौंपा गया । तमिलनाडु राज्य में फरवरी 17 से फरवरी 1976 तक डी० एम० के० दल की सरकार पदारूढ़ रही । इसके पहले मुख्यमंत्री अन्ना दुराई ने कहा था, "कि हमे संविधान निर्माताओं द्वारा निर्धारित राज्यों की स्वायत्तता के सिद्धान्त और व्यवहार को अपनाना चाहिए । संधात्मक संविधान में आदर्श केन्द्र द्वारा सिर्फ इतनी ही शक्तियॅा व्यवहार में लानी चाहिए कि देश की सम्प्रभुत्ता और एकता की रक्षा हो सके । राज्यों को संविधान की ओर से स्वाायत्तता प्राप्त है और उसके साथ नगरपालिकाओं के जैसा व्यवहार नही किया जा सकता"। द्रविण मुनेत्र कड़घम प्रादेशिकता तथा क्षेत्रियता का प्रबल समर्थक रहा तथा राज्यों की स्वायत्तता का प्रचण्ड हामी । कई बार इस दल ने भारतीय संघ से पृथक होने की आवाज बुलन्द की। सन् 1970 में इस दल ने मद्रास में 'राज्य स्वायत्तता सम्मेलन' आयोजित किया तथा केन्द्र की कटु आलोचना की ।[25]

कुछ पक्षों द्वारा 1967 के प्रारम्भ में यह आशा की गई थी कि केन्द्र की कांग्रेसी सरकार और कुछ राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों के बीच अच्छे सम्बन्ध बने रहेंगे लेकिन 1967 के मध्य मे ही इस स्थिति को आघात पहुॅचने लगा । राज्यपाल की नियुक्ति; राज्यपाल के आचरण; राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने; घेराव और औद्योगिक विवादों के सम्बन्ध में राज्य सरकार के दृष्टिकोण वित्तीय साधनों के बंटवारे, राज्यों को खाद्यान्न की सहायता और केन्द्र द्वारा राज्यों में केन्द्रीय सुरक्षा दल भेजे जाने आदि विषयों को लेकर राज्यों तथा केन्द्र के बीच विवाद और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हो गई । पं० बंगाल, उत्तर प्रदेश बिहार, हरियाणा और पंजाब आदि राज्यों और केन्द्रीय सरकार के बीच ही अधिक विवाद की स्थिति उत्पन्न हुई । सी० एस० पंडित के शब्दों में 1967 के पूर्व केन्द्र और राज्यों के बीच जो भी विवाद होते थे; उन्हे दल के भीतर ही हल कर दिया जाता था । लेकिन अब यह सम्भव नही था । अब प्रत्येक मतभेद सार्वजनिक वाद विवाद का विषय बनने लगा ।"[26]

25- द सन्डे : 2 अप्रैल 1978; पृष्ठ -19

26- गुप्ता डी० सी० : इण्डियन गवर्नमेंट एड पालिटिक्स (न्यू देहली; विकास पृष्ठ 28)

इन विवादों के लिये राज्य सरकारें तो दोषी थी हीं केन्द्र भी पूर्णतया दोषमुक्त नही था, क्योंकि कुछ उदाहरणों में केन्द्र के द्वारा अपनी शक्तियों का प्रयोग संवैधानिक प्रावधानों और राष्ट्रीय हितों की दृष्टि से नही वरन् अपनी दलीय हितों की दृष्टि से किया गया था ।

गत वर्षों में केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच जो गतिरोध उत्पन्न हुये हैं उसका एक कारण यह भी था कि कुछ राज्यो में आन्तरिक अव्यवस्था दूर करने के लिये केन्द्र सरकार ने सी० आर० पी० भेज दी । राज्य सरकारों की ओर से इनका घोर विरोध किया गया और इसे असंविधानिक और राज्यों की स्वायत्तता के लिये घातक समझा गया । संविधान का 42 वॉ संशोधन राज्य सरकार की इस शिकायत का उचित समाधान करने के बजाय केन्द्र सरकार की इस कार्यवाही को सांविधानिक मान्यता प्रदान करता है । संविधान में स्थापित एक नया अनुच्छेद 257A यह घोषणा करता है कि भारत सरकार किसी राज्य में विधि और व्यवस्था की गम्भीर परिस्थिति का सामना करने के लिये सघ के सशस्त्र बल का संघ के नियन्त्रण के अधीन किसी अन्य बल का अभियोजन कर सकेगी ।

अनुच्छेद 257 A में "विधि और व्यवस्था की गम्भीर परिस्थिति" शब्दों की कोई निश्चित परिभाषा या स्पष्टीकरण नही किया गया है इसलिये केन्द्र सरकार किसी राज्य में एक साधारण हड़ताल होने को भी गम्भीर अव्यवस्था की स्थिति मान सकती है और सेना भेजकर उस राज्य के प्रशासन में हस्तक्षेप कर सकती है । अतः इस प्रावधान से केन्द्र और राज्यों के सम्बन्धों में कटुता उत्पन्न होने का भय है ।

42 वें संशोधन द्वारा केन्द्र और राज्यों के बीच किये गये शक्ति विभाजन मे भी कुछ परिवर्तन किया गया है । राज्य सूची के कुछ विषयों को जिनमें शिक्षा है उसे समवर्ती सूची में रख दिया गया है । यह परिवर्तन संघ सरकार की शक्तियों में बृद्धि की ओर संकेत करते है ।

अनुच्छेद 352(1) में संशोधन करके यह व्यवस्था की गई है कि राष्ट्रपति आपात की उदघोषणा पूरे देश में अथवा देश के किसी भाग के लिये भी कर सकता है । यह प्रावधान संघ सरकार को राज्यों की स्वायत्तता में हस्तक्षेप करने का और भी अधिक अवसर प्रदान करता है । संघ सरकार केवल राजनीतिक कारणों से कुछ राज्यों के भू-भाग में आपात उद् घोषणा करके उन पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर सकती है । इसी

प्रकार अनुच्छेद 356 में यह परिवर्तन किया गया है कि किसी राज्य मे सांविधानिक विफलता की घोषणा एक बार में छः मास के बजाय एक वर्ष के लिये बढ़ाई जा सकती है । इस प्रावधान में भी संघ सरकार को लाभ पहुँच सकता है और यदि वह किसी राज्य सरकार से रूष्ट है तो उसमें आपात स्थिति की अवधि पहले की अपेक्षा ज्यादा आसानी से बढ़ा सकती है संविधान के उपरोक्त उपबन्ध अधिक केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति का सूचक है ।

राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता का एक कारण यह भी महत्वपूर्ण है कि केन्द्र द्वारा राज्य राजनीति को प्रभावित करने के लिये उचित अनुचित प्रयत्न किये गये है । संविधान द्वारा संवैधानिक केन्द्रीय सरकार को राज्य के नियन्त्रण की जो शक्तियों प्रदान की गयी है, उसका न केवल संवैधानिक वरन् राजनीतिक दलीय और गुटीय हितों के लिये प्रयोग किया गया । 1967 में राजस्थान, 1968 में पं० बंगाल, 1970 में उत्तर प्रदेश, 1973 में उड़ीसा, 1975 में उत्तरप्रदेश और 1977 में कर्नाटक में राष्ट्रपति शासन लागू करना केन्द्र द्वारा राज्य राजनीति को प्रभावित करने के अनुचित प्रयत्न ही समझे जाते है । 1977 में केन्द्र सरकार की जनता सरकार द्वारा 9 राज्यों की विधानसभाओ को भंग करना और 1980 में इन्दिरा कांग्रेस द्वारा 9 राज्यों की विधानसभाओं को भंग किया जाना भी इसी प्रकार के प्रयत्न रहे हैं ।

भारत में विद्वानों के बीच में यह विवाद है कि भारत में एकात्मक शासन प्रणाली है या कि संघात्मक शासन प्रणाली । कुछ का कहना है कि भारतीय संविधान संघात्मक है परन्तु उसकी आत्मा एकात्मक है ।

एकात्मक शासन प्रणाली में सर्व अधिकार केन्द्र सरकार के पास होते है और आवश्यकतानुसार अधिकार राज्यों को दिये जाते है ।

संघीय शासन प्रणाली में केन्द्र के तथा राज्य के अधिकारों में पारस्परिक विभाजन होता है और वे अपना-अपना अधिकार बिना दूसरे के प्रयोग करते रहते है । विभिन्न देशों में जहाँ संघात्मक शासन प्रणाली है इन अधिकारों का बंटवारा विभिन्न रूपों में किया जाता है ।

भारतीय संविधान का अनुच्छेद 1(1) ये कहता है कि भारत अर्थात् इंडिया राज्यों का संघ होगा इस प्रकार उससे यह विदित है कि राज्यों को प्रमुखता दी गई है । अनुच्छेद 3 में ये प्राविधान है कि संसद विधि द्वारा:

1. किसी राज्य में से उसका राज्य क्षेत्र अलग करके अथवा दो या अधिक राज्यों को या राज्यों के भागों को मिलाकर अथवा किसी राज्यक्षेत्र को किसी राज्य के भाग के साथ मिलाकर नये राज्य का निर्माण कर सकेंगी ।
2. किसी राज्य का क्षेत्र बढ़ा सकेगी ।
3. किसी राज्य का क्षेत्र घटा सकेगी ।
4. किसी राज्य की सीमाओं में परिवर्तन कर सकेगी ।
5. किसी राज्य के नाम में परिवर्तन कर सकेगी ।

इस प्रकार सर्वोच्चता भारतीय संसद को दी गई है । और राज्यों को अपंग किया गया है ।

इस प्रकार यह सवाल उठते है कि अनुच्छेद 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिये एक राज्यपाल होगा । अनु० 154 राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में निहित होगी और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधिनस्थ अधिकारियों के साथ करेगा ।

अनुच्छेद 155 के अनुसार राज्य के राज्यपाल को राष्ट्रपति अपने हस्ताक्षर और मुद्रा सहित अधिपत्र द्वारा नियुक्त करेगा ।

अनुच्छेद 156(1) के अनुसार राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करेगा । ये संघ की सर्वोच्च्ता सिद्ध करता है । इससे यह विदित होता है कि राष्ट्रपति को राज्यपाल की नियुक्ति का सम्पूर्ण अधिकार है और राज्यपाल को उसकी इच्छा के अनुसार कार्य करना चाहिए ।

परन्तु अनुच्छेद 163 के अन्तर्गत राज्यपाल को सहायता और सलाह देने के लिये मंत्रिपरिषद की आवश्यकता है । अनुच्छेद 164(1) के अनुसार मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल करेगा और मंत्रियों कि नियुक्ति राज्यपाल मुख्यमंत्री कि सलाह पर करेगा तथा मंत्री राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त अपना पद धारण करेंगे ।

अनुच्छेद 164(2) के अनुसार मन्त्रिपरिषद राज्य की विधानसभा के प्रति सामूहिक रूप से उत्तरदायी होगी ।

उपरोक्त प्राविधानों से भी भिन्नता विदित होती है । जब एक 164(2) के अन्तर्गत मंत्रिपरिषद विधानसभा के प्रतिउत्तरदायी होगी जो कि एक चुनी हुई संस्था है तो मंत्रिपरिषद राज्यपाल के प्रसादपर्यनत कैसे कार्य कर सकती है ।

अनुच्छेद 163 के अन्तर्गत राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सलाह पर काम करना है तो उसको अपनी अन्य इच्छा भी मंत्रिपरिषद की आवश्यकता आ सकती है कि वे राष्ट्रपति के प्रसादपर्यनत कार्य करें या विपरीत कार्य करें ।

भारत सरकार व राज्य सरकार में आपसी सामंजस्य स्थापित करने के लिये और राज्यपाल के पद की गरिमा संविधान के प्रावधानों की गरिमा बनाये रखने के लिये प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू ने राज्य के राज्यपालों की नियुक्ती वहाँ के मुख्यमंत्रियों से परामर्श करके करना प्रारम्भ कर दिया इस प्रकार राज्यपाल एक ऐसा सोंचा समझा व्यक्ति होता था जिससे मुख्यमंत्री से विवाद नही होता था ।

प्रधानमंत्री जवाहर लाल नेहरू के कार्यकाल में बिहार राज्य में राज्यपाल जयराम दास दौलतराय तथा मुख्यमंत्री श्री कृष्णा सिंह में विवाद उठा । नेहरू जी ने राज्यपाल पद से जयराम दास दौलत राम को हटा दिया उन्होने कहा कि एक निर्वाचित मुख्यमंत्री पदच्युत नही किया जा सकता इससे विधानसभा की सर्वोच्चता को उन्होने माना और उसे राष्ट्रपति के अनु० 156(1) के प्रसादपर्यन्त को वरीयता दिया इस प्रकार भारत के संघात्मक शासन के ढॉचे को सुदृढ़ किया यही व्यवस्था प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी के शासन चतुर्थ महानिर्वाचन 1967 तक चलती रही परन्तु 1967 में महानिर्वाचन मे पश्चिमी बंगाल, बिहार, मद्रास, (तमिलनाडु) पंजाब आदि में कांग्रेस पार्टी धाराशायी हो गयी और विरोधी दल एक इकाई या संगठित रूप में विजयी हुये या निर्वाचन के बाद सरकार बनाने के लिये संगठित हुये और उनके नेता ने मुख्यमंत्री का पद ग्रहण किया और मंत्रिमण्डल बनाये तथा यह स्थिति पैदा हुई कि उपरोक्त राज्यों में विरोधी दल, संयुक्त विधायक दल की सरकारें स्थापित हुई जिनके चुनाव घोषणा पत्र कांग्रेस पार्टी के चुनाव घोषणापत्र से बिलकुल भिन्न थे और केन्द्र सरकार व राज्य सरकारों में आपस में पारस्परिक सहयोग

की भावना स्थापित करने कि आवश्यकता प्रतीत हुई ऐसी स्थिति नही रह गई कि प्रधानमंत्री जो कुछ कहें उसे उपरोक्त राज्यों के मुख्यमंत्री मान ही लें ।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने देश की बदली हुई हवा को पहचाना और उपरोक्त राज्यों में विरोधी दल संयुक्त विधायक दल की सरकारें बनाने का स्वागत किया और उन्हे सम्पूर्ण सहयोग प्रदान करने का आश्वासन दिया ।

राष्ट्रपति जाकिर हुसैन ने भी अपने स्वतन्त्रता दिवस सन् 1967 की पूर्व संध्या के सन्देश में उपरोक्त राज्यों के सरकारों के गठन का स्वागत किया और ये कहा कि उपयुक्त समय आ गया है जब शासन के संविधानों का उचित रूप से उपयोग होगा । यह सवाल पहले उठा और भारत के संघीय ढॉचे को सुदृढ़ किया । समाजवादी पार्टी के महान नेता डॉ० राम मनोहर लोहिया ने राज्य सरकारों को म्युनिसिपेलिटी से संज्ञा दे दी थी । परन्तु सन् 1967 के निर्वाचन के बाद राज्य सरकारें म्युनिसिपेलिटी नही रह गयी और भारतीय संविधान के प्रावधानों के अनुसार अपने अधिकारों का प्रयोग करने लगी और केन्द्र सरकार की सर्वोच्चता घटने लगी जो उसे अच्छा नही लगा ।

केन्द्र सरकार ने राज्यपालों के पद का उपयोग इन विरोधी दलों की सरकारों को गिराने के लिये किया यह एक विडम्बना ही थी कि श्री चक्रवर्ती राज गोपालाचारी, डॉ० कैलाश नाथ काटजू, डॉ० पद्यमिसीतारमैया सरोजनी नायडु आदि जैसे राज्यपाल राज्यों में नही थे जो अपनी गरिमा दिखा सकें और संविधान के प्रावधानों के अनुसार कार्य कर सकें । जो व्यक्ति सन् 1967 के निर्वाचन के बाद राज्यपाल थे उन्हे प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने भ्रमित अनु० 156(1) के प्रावधानों के अनुसार किया या वे स्वयं भ्रमित अनु० 156(1) के प्रावधान के अनुसार हो गये और अपने को केन्द्र में राज्य का प्रतिनिधि पूर्णरूपेण समझने लगे और राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों के मसलों पर अनावश्यक विवाद पैदा हो गया क्योंकि राज्यपाल राज्य की विधायिका जो कि सर्वोच्च अपने क्षेत्र में है उसकी इच्छाओं की चिन्ता करना छोड़ दिये वे ये भूल गये कि राज्य मंत्रिमण्डल पूर्ण रूपेण राज्य की विधानसभा पर उत्तरदायी है उसे राज्यपाल या केन्द्र सरकार से अपने कार्य क्षेत्र में कोई मतलब नही है ।

सन् 1967 के महानिर्वाचन के बाद केन्द्र की सरकार व विरोधी दलों, संयुक्त विधायक दल की राज्य सरकारों में सहयोग का वातावरण बिलकुल समाप्त हो गया और

आपसी खींच तान अत्यधिक हो गया। एक अजब हाल था इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों तथा मंत्रिपरिषद अपने संवैधानिक अधिकारों का प्रयोग चुनावी घोषणापत्र में किये गये वादों के अनुसार करना चाहते थे और केन्द्र उनके उपर अपनी इच्छा अपने चुनावी घोषणा पत्र के अनुसार थोपना चाहती थी सवाल यह उठा कि किसके अनुसार शासन होना चाहिए गणतन्त्र में सत्ता जनता में निहित होती है जनता सर्वोच्च होती है उसकी इच्छा सर्वोपरि होती है जब उसने विरोधी दल या संयुक्त विधायक दल को निर्वाचन में बहुमत से निर्वाचित किया और केन्द्र में शासित पार्टी को नही निर्वाचित किया तो कार्य राज्य सरकारों पोलिसी तथा पोग्राम (Policy and Programe) के अनुसार होना चाहिए केन्द्र में शासित पार्टी के अनुसार नही इस प्रकार भारतीय संविधान का संघीय रूप निखरना प्रारम्भ हुआ।

प्रधानमंत्री के लिये भी यह एक समस्या थी कि एक तरफ तो विरोधी दल के मुख्यमंत्री थे दूसरी तरफ कांग्रेस पार्टी से सम्बन्धित मुख्यमंत्री तथा मंत्रिमण्डल था जो सभी कांग्रेस पार्टी के घोषणापत्र पर केन्द्र के अनुसार निर्वाचित हुये थे और प्रधानमंत्री को सब कुछ समझते थे इस प्रकार दो प्रकार की राज्य सरकारें भारत में स्थापित हुई।

राष्ट्रपति डॉ० जाकिर हुसैन की तीन मई उन्नीस सौ उन्हत्तर (3/5/69) को मृत्यु हो गई। उपराष्ट्रपति वी० वी० गिरि, भारतीय संविधान के अनुच्छेद 65(1) के अनुसार राष्ट्रपति पद का कार्य भार कार्यवाहक राष्ट्रपति के रूप में ग्रहण किये और नये राष्ट्रपति के निर्वाचन का सवाल अनुच्छेद 62(2) के अनुसार पैदा हुआ।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी की कार्य शैली से कांग्रेस में ही आपसी झगड़ा बढ़ गया था कांग्रेस पार्टी अध्यक्ष एस० निजलिंग गप्पा तथा वरिष्ठ कांग्रेस नेता गण उनके विरोधी हो गये थे उन्होने इस अवसर का लाभ उठाते हुये चाहा कि एक ऐसे व्यक्ति को राष्ट्रपति निर्वाचित करा दें जो प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी के कार्य में सहयोग न करे।

कांग्रेस में एक गुट पैदा हो गया था जिसे सिण्डीकेट कहते थे उसमें निजलिंगगप्पा, मोरारजी देसाई, एस० के० पाटिल आदि थे। उन्होने गॉधी जन्म शताब्दी वर्ष में एक हरिजन को इसी कारण राष्ट्रपति बनाने का सुझाव रखा फिर उसके बाद लोक सभा के अध्यक्ष नीलम संजीव रेड्डी को कांग्रेस पार्टी का प्रत्याशी जुलाई 1969 को बनाया।

उप राष्ट्रपति तथा कार्यवाहक राष्ट्रपति वी० वी० गिरि जो स्वयं राष्ट्रपति के प्रत्याशी बनना चाहते थे इस आधार पर कि उनसे पूर्ववत् दो उप राष्ट्रपति डॉ० सर्वपल्ली

राधाकृष्णन व डॉ० जाकिर हुसैन; राष्ट्रपति डॉ० राजेन्द्र प्रसाद और डॉ० सर्वपल्ली राघाकृष्णन के स्थान पर क्रमशः कांग्रेस पार्टी के प्रत्याशी थे नीलम संजीव रेड्डी को कांग्रेस पार्टी द्वारा राष्ट्रपति पद का प्रत्याशी बनाने के बाद वे राष्ट्रपति पद के निर्दलीय प्रत्याशी जुलाई 1969 में स्वयं बने । राष्ट्रपति का निर्वाचन अगस्त सन् 1969 को हुआ जिसमें वी० वी० गिरि कांग्रेस पार्टी के प्रत्याशी नीलम संजीव रेड्डी तथा अन्य प्रत्याशीयों को हरा कर विजयी हुये ये विडम्बना ही थी कि भारत में कांग्रेस पार्टी की सरकार थी जिसकी प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी थी जिन्होने नीलम संजीव रेड्डी का नामांकन पत्र स्वयं भरा था हार गये और निर्दलीय प्रत्याशी वी० वी० गिरि विजयी हुये इस निर्वाचन मे प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने खुल कर विरोध किया और निर्दलीय प्रत्याशी वी० वी० गिरि का खुल कर समर्थन किया वे वी० वी० गिरि की विजय रैली में भी उपस्थित थीं ।

इस प्रकार राष्ट्रपति निर्वाचन ने राष्ट्र की राजनीति में एक भूचाल ला दिया कांग्रेस पार्टी दो भागों में विभाजित हो गयी । एक गुट के नेता कांग्रेस अध्यक्ष निजलिंगप्पा नियुक्त हुये जिसका नाम सिण्डीकेट संघात्मक कांग्रेस पड़ा । दूसरे गुट के नेता प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी हुई जिसका नाम इण्डिकेट शासकीय शासक पड़ा । प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने प्रतिरक्षा मंत्री जगजीवन राम को उसका अध्यक्ष बनाया ।

लोकसभा और राज्यसभा के सदस्य गण तथा राज्यों में विधानसभाओं; विधानपरिषदों के सदस्य सिण्डीकेट, इंण्डीकेट में विभाजित हो गये । प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी के गुट इण्डीकेट का लोकसभा में बहुमत नही रह गया और ये स्थिति पैदा हो गयी कि कहीं विरोधी दल व सिण्डीकेट के लोकसभा सदस्य गण उनकी सरकार गिरा ना दें ।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने अपनी सरकार को बचाने के लिये विरोधी दल खेमें के डी० एम० के० के अध्यक्ष तथा मद्रास (तमिलनाडु) के मुख्यमंत्री एम० करूणानिधि को प्रलोभन देकर या आर्थिक सहायता देकर विरोधी दल से सन् 1970 में तोड़ दिया और अपना सहयोगी बना दिया डी० एम० के० लोकसभा सदस्यगण सरकार का समर्थन करने लगे और प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी की सरकार चलती रही । इस प्रकार केन्द्रीय सरकार की सर्वोच्चता समाप्त होने लगी भारतीय संविधान के एकात्मक भावना को ठेस लगी और संघात्मक व्यवस्था और निखरी । केन्द्र में पारस्परिक तनाव ने प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी को

शासन चलाने में अड़चने आने लगी और डी० एम० के० भी उस पर दबाव डालने लगी ।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने लोकसभा 27 दिसम्बर 1970 को भंग कर दिया और जनता का विश्वास पाने के लिये मार्च 1971 को लोकसभा का निर्वाचन कराया । वे डी० एम० के० के समर्थन में चुनाव लड़ी और उन्हे पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया ।

डी० एम० के० के अध्यक्ष तथा मद्रास (तमिलनाडु) के मुख्यमंत्री एम० करूणानिधि ने भी राज्य की विधानसभा भंग करा दी और लोकसभा के निर्वाचन के साथ ही विधानसभा का निर्वाचन मार्च 1971 को कराया और विधानसभा में कांग्रेस व डी० एम० के० आपसी समझौते से चुनाव लड़ी और उसे पूर्ण बहुमत प्राप्त हुआ । इस प्रकार मार्च 1971 के निर्वाचन के बाद इन्दिरा गॉधी की सरकार केन्द्र में बनी तथा करूणानिधि की सरकार मद्रास (तमिलनाडु) में बनी और देनों आपसी सामंजस्य से काम करने लगी इससे भारतीय संविधान की संघात्मकता और दृढ़ हुई ।

मार्च सन् 1972 में पॉचवा महानिर्वाचन हुआ जिसमें केवल विधासभाओं का चुनाव हुआ । (मद्रास और तमिलनाडु छोड़कर) और कांग्रेस को पूर्ण बहुमत हर राज्य मे मिला । इस प्रकार केन्द्र और प्रायः सभी राज्यों में कांग्रेस की सरकार बनी और सभी मुख्यमंत्री, प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी को ही अपना सर्वोच्च नेता मानने लगे और उनके गरीबी हटाओ के कार्यक्रम में पूर्ण सहयोग देने लगे ।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी की सर्वोच्चता सब मुख्यमंत्रियों ने स्वीकार की वे अपने संवैधानिक अधिकारों को भूल गये और ये समझने लगे कि वे केवल प्रधानमंत्री के प्रसादपर्यनत अपने पद पर रह सकते है प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी अपनी इच्छानुसार राज्यों में मुख्यमंत्री हटाने तथा नये मुख्यमंत्री नामांकित करने लगी । इस प्रकार कई मुख्यमंत्रियों जिन्हे विधानसभा में बहुमत प्राप्त था हटा दिये गये । उन्होने मुख्यमंत्री पद तथा कांग्रेस विधानसभायी दल के नेता पद से त्यागपत्र दिया । नये मुख्यमंत्री नामंकित किये गये जिन्हे राज्य की विधानसभाओं ने अपना नेता निर्वाचित किया, और उन्होने मुख्यमंत्री पद की शपथ लिया । इस प्रकार राज्य की विधानसभायी कांग्रेस पार्टी को अपना नेता निर्वाचित करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया और उन पर प्रधानमंत्री की इच्छानुसार

मुख्यमंत्री थोप दिया जाता जो भारतीय संविधान की संघात्मक भावना के विरूद्ध था और प्रधानमंत्री की एकात्मक भावना प्रज्वलित करता है ।

देश भर में प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी के तानाशाही शासन के विरूद्ध विरोधी दल लोकनायक जयप्रकाश नारायण के नेतृत्व में संगठित हुये और उनके एकात्मक भावना के शासन प्रणाली का विरोघ करने लगे । उनसे निपटने के लिये प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने 26 जून 1975 को देश में आन्तरिक आपातकाल भारतीय संविधान के अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत लागू किया । डी० आई० आर० (Defence of India Rules) सेंसर् शिप् (Censorship) लागू किया और समस्त नेताओं व हजारो आदमियों को जेल भेज दिया जो कि भारतीय संविधान के संघीय रूप पर कुठाराघात था । ये शासन चलता रहा और मुख्यमंत्रियों उनके मंत्रिमण्डल की महत्वता घटती ही चली गयी ।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी के द्वितीय पुत्र संजय गॉधी संवैधानिक सत्ता के केन्द्र बन गये । आपातकाल में यह नारा उठा इमरजेंसी के तीन दलाल संजय, शुक्ला, बंशीलाल, प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी पर प्रजातांत्रिक शासन कि बहाली का दबाव बढ़ता चला गया । जिससे कि वह 18 जनवरी सन् 1977 को उन्होने लोकसभा के निर्वाचन मार्च 1977 में कराने की घोषणा की अधिकतर विरोधी दल के नेता जेलों से छोड़ दिये गये तथा उन्होने एक जुट होकर सत्ता पक्ष के प्रत्याशियों का निर्वाचन में विरोध करने का निर्णय लिया एक संयुक्त विरोधी दल का गठन हुआ जिसके अध्यक्ष मोरारजी देसाई हुये तथा उपाध्यक्ष चरण सिंह हुए । भारतीय सरकार के प्रतिरक्षा मंत्री जगजीवन राम ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया । और उन्होने हेमवती नन्दन बहुगुणा भूतपूर्व केन्द्रीय संचार मंत्री भूतपूर्व मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश तथा अन्य ने एक नयी पार्टी कांग्रेस फार डेमोक्रेसी का गठन किया और जनता पार्टी के सहयोगी दल के रूप में चुनाव लड़ा ।

लोकसभा निर्वाचन मार्च 1977 में जनता पार्टी तथा उसके सहयोगी दलों ने लोकसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त किया इन्दिरा गॉधी के निरंकुश एकात्मक शासन से जनता अत्यन्त क्रोधित थी । उन्हे जनता पार्टी के राजनारायण ने रायबरेली संसदीय क्षेत्र में 55,000 मतों से अधिक से हराया ।

कांग्रेस पार्टी के पराजय के बाद प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने अपना तथा अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र कार्यवाहक राष्ट्रपति वी० डी० जेट्टी को भेज दिया जिसे उन्होने

स्वीकार किया और उनसे अगली व्यवस्था होने तक कार्य करने को कहा मोरारजी देसाई जनता पार्टी तथा उनके सहयोगी दलों के प्रतिनिधि के रूप में कार्यवाहक राष्ट्रपति द्वारा प्रधानमंत्री नियुक्त किये गये । उन्होने मंत्रिमण्डल बनाया तथा शपथ ग्रहण किया ।

संकटकालीन स्थिति में सबसे ज्यादा प्रभाव भारत के उत्तरी राज्यों में पड़ा था क्योंकि उन राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने इसको कड़ायी से लागू किया । और सभी असंवैधानिक सत्ता के केन्द्र संजय गॉधी की आवाज पर अपना कार्य करते रहे । इस प्रकार उत्तरी राज्यों में कांग्रेस बुरी तरह पराजित हुई । दक्षिणी राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने आपातकाल के प्रावधानों को पूर्णरूपेण लागू नही किया और जनता पर निरंकुश असर नही दिखाया इस कारण उन राज्यों में कांग्रेस की विजय लोकसभा निर्वाचन मार्च 1977 में हुई । इस प्रकार भारत में दो प्रकार कि भावना उज्जवलित हुई । कांग्रेस विरोधी भावना और कांग्रेस समर्थित भावना । उत्तर बनाम दक्षिण का सवाल पैदा हो गया जो एक कठिन स्थिति का सूचक बना ।

केन्द्र में प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई की जनता पार्टी की सरकार थी परन्तु राज्यों में यथा स्थिति थी । अधिकतर राज्यों में कांग्रेस पार्टी की सरकारें विधान सभाओं के निर्वाचन 1972 या उपनिर्वाचन 1974 आदि के अनुसार थी इस कारण केन्द्र और राज्यों में रस्सा कसी शुरू हो गयी । राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने केन्द्र सरकार को उचित सहयोग नही दिया । केन्द्र सरकार इस निष्कर्ष पर पहुॅची की इन सरकारों के रहते हुये उसकी नीतियॉ लागू नही हो सकती तथा उसने ये निर्णय लिया कि उत्तरी राज्यों में जहॉ कांग्रेस का बिलकुल सफाया हो गया है जनता की आकांक्षाओं को पूरा करने के लिये जो बाधक बनता है उसे रास्ते से हटा दें और नौ राज्यों उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, बिहार, उड़ीसा, पश्चिमी बंगाल, राजस्थान, पंजाब हिमांचल प्रदेश और हरियाणा की कांग्रेस सरकारों को हटाने का निर्णय लिया । केन्द्रीय गृहमंत्री चरण सिंह ने इसके सुचारू रूप तथा शोभा से लागू करने के लिये इन मुख्यमंत्रियों को पत्र लिखा कि उनके राज्यों में लोकसभा निर्वाचन मार्च 1977 में कांग्रेस का पूरा सफाया हो गया इस कारण उनको जनता पर शासन नही करना चाहिए । गृहमंत्री चरण सिंह ने उनसे यह अनुरोध किया कि वे राज्यों की विधानसभाओं को सम्बन्धित राज्यपालों द्वारा भंग करा दें निर्वाचन कराये और जनता का विश्वास पुनः प्राप्त

करे जिसपर कांग्रेसी मुख्यमंत्री गण तथा भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गॉधी तथा अन्य नेंतागण सहमत नही थे और इस सुझाव का विरोध करने का निर्णय लिया ।

राजस्थान तथा कई अन्य राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने इस सुझावों के विरोध में उच्चतम न्यायालय में याचिका प्रस्तुत की । जहॉ पर उसकी सुनवाई एक सात सदस्यीय पीठ ने की । जिसकी अध्यक्षता भारत के प्रधान न्यायाधीश न्यायमूर्ति मिर्जा हमीदउल्लाह बेग ने की और अपना निर्णय 29 अप्रैल 1977 को दिया इस प्रकार इन नैा राज्यों में राष्ट्रपति शासन 30 अप्रैल 1977 को लागू किया गया तथा विधानसभायें भंग कर दी गयी । मुख्यमंत्री तथा उनके मंत्रिमण्डल हटा दिये गये ।

केन्द्रीय सरकार की इस कार्यवाही से संवैधानिक सवाल उठ खड़े हुये औरये भावना प्रज्वलित हुई कि केन्द्र में एकात्मक भावना का शासन स्थापित है अैार संघीय ढॉचे को आघात लगा । उच्चतम न्यायालय में उपरोक्त याचिका की सुनवायी में केन्द्र सरकार की तरफ से ये कहा गया था कि ये याचिकायें निराधार है और उचित मानते हुये उनपर निर्णय किया और ये सिद्ध हो गया कि राज्य सरकारें भी केन्द्र सरकार का विरोध उच्चतम न्यायालय में कर सकती है । इससे एकात्मक भावना को ठेस लगी और संघात्मक भावना जागृत हुई ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 131 साफ-साफ याचिकाओं के बारे में लिखा है -

1. भारत सरकार और एक या एक से अधिक राज्यो के बीच या
2. एक ओर भारत सरकार और किसी राज्य या राज्यों और दूसरी ओर एक या अधिक अन्य राज्यों के बीच, या
3. दो या अधिक राज्यों के बीच

इस प्रकार इस प्रावधान में केन्द्रीय सरकार व राज्य सरकारों को बराबर का दर्जा उच्चतम न्यायालय ने दिया जो संघात्मक भावना को जागृत करता है ।

इससे पहले उच्चतम न्यायालय ने बीरेन्द्र सिंह की याचिका पर ये निर्णय लिया था कि राष्ट्रपति; राष्ट्रपति शासन अपने विवेक के अनुसार लागू करता है और याचिका खारिज कर दी थी ।

उपरोक्त नौ राज्यों में तथा तमिलनाडु में विधानसभाओं का निर्वाचन जून 1977 मे हुआ । (तमिलनाडु मे राष्ट्रपति शासन प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी द्वारा लागू किया गया था) तमिलनाडु में (D.M.K.) ने जनता पार्टी के सहयोगी दल के रूप मे तथा A.I.A.D.M.K. ने कांग्रेस पार्टी के सहयोगी के रूप में चुनाव लड़ा । तमिलनाडु में A.I.A.D.M.K. की विजय हुई और उपरोक्त सात राज्यों में जनता पार्टी तथा उनके सहयोगियों की व पश्चिमी बंगाल में बामपंथी मोर्चा की विजय हुई, पंजाब में अकाली दल की विजय हुई और निर्वाचित सरकारों का गठन मुख्यमत्रियों द्वारा किया गया ।

जनता पार्टी का गठन अवश्य हो गया था परन्तु यह खेद का विषय है कि उसमें घटक वाद समाप्त नही हुआ था और मुख्यमंत्रियों का चयन घटकवाद पर हुआ राजस्थान, हिमांचल प्रदेश और मध्यप्रदेश में भूतपूर्व भारतीय जनसंघ की सरकारें बनी और उसके मुख्यमंत्री बने । उत्तरप्रदेश, बिहार और हरियाणा में भूतपूर्व भारतीय लोकदल की सरकारें बनी और उसके प्रतिनिधि मुख्यमंत्री बने । उड़ीसा में संघटन कांग्रेस पंजाब में अकाली दल के तथा पश्चिमी बंगाल में बाममोर्चे की सरकार बनी और राज्यों के मुख्यमंत्री अपने-अपने केन्द्रीय नेताओं पर विश्वास करने लगे और राष्ट्रीय भावना व राष्ट्रीय सरकार कि ओर उनमें कमी आयी इससे जनता पार्टी की केन्द्रीय सरकार मे घटकवाद पूर्ण रूपेण विदित हो गया । विवश होकर प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई भूतपूर्व जनसंघ घटक की तरफ झुकने लगे जो कि उन्होने अपने को निष्पक्ष सिद्ध करने की कोशिश किया ।

कांग्रेस पार्टी तथा प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी पर ये दोषारोपण किया जाता है कि वे संविधान के प्रावधानों के द्वारा चुने हुये मुख्यमंत्रियों को अपनी इच्छा के अनुसार बदल देती है यही कार्य प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने करना शुरू किया उन्होने हरियाणा में देवीलाल के स्थान पर दूसरा मुख्यमंत्री भजनलाल को बनवाया । उत्तर प्रदेश में रामनरेश यादव के स्थान पर दूसरा मुख्यमंत्री बनारसी दास को बनावाया बिहार में कर्पूरी ठाकुर के स्थान पर राम सुन्दर दास को मुख्यमंत्री बनवाया । ये एक विडम्बना ही थी कि भूतपूर्व उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री रामनरेश यादव ने मुख्यमंत्री बनारसी दास के मंत्रीमण्डल में उपमुख्यमंत्री बनना स्वीकार किया । देवीलाल ने हरियाणा में व कर्पूरी ठाकुर ने बिहार में कोई मंत्री पद स्वीकार नही किया ।

प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई की सरकार सर्वशक्तिमान सरकार नही रही और जनता पार्टी तथा उसके सहयोगी दलों की एक सामंन्जस्य कमेटी बनी । जो हर मामले में सर्वोच्च्व हुई । और प्रधानमंत्री तथा केन्द्रीय मंत्रिमण्डल उसके निर्णयों के अनुसार कार्यकरने पर बाध्यहुये इस प्रकार भारतीय शासन के संघात्मक स्वरूप को एक नया मोड़ मिला और पॉलिसी ऑफ इण्टर डिपेनडेन्टस लागू हुई और केन्द्र सरकार व राज्य सरकारें आपस में एक दूसरे पर निर्भर होने पर मजबूर हुयी ।

दक्षिण के राज्य आन्ध्र प्रदेश, कर्नाटक, महाराष्ट्र आदि में कांग्रेसी सरकारें चलती रही उनका भी सहयोग केन्द्रीय सरकार को लेना पड़ा इस प्रकार एक अजब स्थिति पैदा हो गयी इन राज्यों में मार्च 1978 में कांग्रेस पार्टी की विजय हुई तथा उसके प्रतिनिधि मुख्यमंत्री बने । भारत में न तो एकात्मक भावना शासन रहा और ना संघात्मक भावना का शासन स्थापित हो पाया । ऐसा कोई राष्ट्रीय नेता न रहा जो राष्ट्र की भावना को पुनः स्थापित करे । प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई अपने सहयोगियों को एकत्रित न रख सके और केन्द्रीय गृह मंत्री चरण सिंह; केन्द्रीय स्वास्थ्य चिकित्सा व परिवार कल्याण मंत्री राजनारायण ने उनके मंत्रिमण्डल से त्यागपत्र जून सन् 1978 में दे दिया और अपने को सशक्त करने लगे । चरण सिंह ने एक रैली दिल्ली के वोट क्लब में की जिसको हरियाणा, उत्तरप्रदेश और बिहार के मंत्रियों ने सफल बनाया और चरण सिंह को एक सशक्त नेता के रूप में सिद्ध किया कुछ समय बाद प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने चरण सिंह को उपप्रधानमंत्री बना कर मंत्रीमण्डल में 25 जनवरी 1979 को वापस लाये । वे प्रथम उपप्रधानमंत्री हुये कुछ समय बाद उन्हे गृहमंत्री के स्थान पर वित्तमंत्री बनाया गया । जगजीवन राम द्वितीय उपप्रधानमंत्री तथा प्रतिरक्षा मंत्री हुए । हर सम्भव प्रयत्न करने पर भी मोरारजी देसाई का मंत्रिमण्डल चल न पाया और कांग्रेस जनों ने उसके विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव जुलाई सन् 1979 में लाये जिसपर बहस चलती रही और इसी बीच प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई ने अपना और अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया जिसे राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री की सलाहपर स्वीकार किया ।

चरण सिंह राजनारायण तथा अन्य ने मिलकर एक नयी पार्टी जनता सेकुलर बनायी चरण सिंह उसके अध्यक्ष बने राजनारायण कार्यकारी अध्यक्ष बने चरण सिंह ने सरकार बनाने का अपना दावा राष्ट्रपति के सामने प्रस्तुत किया तथा मोरारजी देसाई ने

भी अपना दावा पुनः सरकार बनाने के लिये प्रस्तुत किया राष्ट्रपति ने चरणसिंह व मोरारजी देसाई से उनके समर्थको की सूची मॉगी । चरण सिंह की सूची में कांग्रेस(आई) कांग्रेस(अर्स) तथा अन्य थे ।

चरण सिंह तथा मोरारजी देसाई ने अपनी-अपनी सूची प्रस्तुत किया राष्ट्रपति ने सूची की जॉच की और चरण सिंह के समर्थकों की संख्या ज्यादा पायी और उन्हे प्रधानमंत्री नियुक्त किया उन्हे तथा उनके मंत्रिमण्डल को 27 जुलाई 1979 को शपथ दिलायी । देोना नेताओं की सूची सिद्धान्तहीन आधारहीन रूप में बनायी गयी । ये सिद्ध करने के लिये की उनके समर्थक एक दूसरे से अधिक है ये किसी ने नही सोचा था कि दूरगामी प्रभाव क्या होंगे । इससे क्षेत्रवाद को बढ़ावा मिलेगा । साधारण व्यक्ति जो राजनीति से बहुत दूर है कहते है कि चरण सिंह को कांग्रेस(आई) का समर्थन नही लेना चाहिए था वे ताज्जुब करते थे । इन्दिरा गॉधी व चरण सिंह फिर से एक जुट हुये परन्तु उन्होने कांग्रेस(आई) के सदस्यों को अपनी सूची में रखा और उसी आधार पर प्रधानमंत्री बने । राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी को सरकार बनाने के निमंत्रण में ये लिखा था कि वे अपना बहुमत तीन सप्ताह के अन्तर्गत लोकसभा में सिद्ध करें । राजनारायण ने राष्ट्रपति के इस निर्देश पर संवैधानिक सवाल उठाये जिस पर चरण सिंह ने कोई ध्यान न दिया और राष्ट्रपति को लोकसभा की बैठक 20 अगस्त 1979 को बुलाने के लिये परामर्श दिया जिसे मानते हुये राष्ट्रपति ने लोकसभा की बैठक 20 अगस्त 1979 को बुलायी ।

कांग्रेस(आई) पार्टी ने 20 अगस्त 1979 को यह निर्णय लिया कि वह विश्वास मत पर चरण सिंह सरकार का समर्थन नही करेगी । प्रधानमंत्री चरण सिंह के पास कोई रास्ता नही था उन्होने कांग्रेस आई पार्टी की घोषणा के बाद अपना तथा अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र राष्ट्रपति नीलम संजीव रेड्डी को उसी दिन प्रस्तुत किया साथ ही उनसे अनुरोध किया कि लोकसभा को भंग करे और पुनः लोकसभा का निर्वाचन करायें । राष्ट्रपति ने प्रधानमंत्री का त्यागपत्र उसी दिन स्वीकार किया तथा अगली व्यवस्था होने तक कार्य करने को कहा इस प्रकार उन्होने लोकसभा के भंग करने के सवाल पर अपना कोई निर्णय उस दिन नही दिया और संवैधानिक विशेषज्ञों से उनकी राय लेना प्रारम्भ किया । कुछ का मत था कि उच्चतम न्यायालय के शमशेर सिंह के मुकदमे के निर्णय के अनुसार राष्ट्रपति को लोकसभा के भंग करने की मांग को स्वीकार करना चाहिए और अपने को

राजनीति के दॉव पेंच से उपर रखना चाहिए । राष्ट्रपति ने 22 अगस्त 1979 को लोकसभा भंग कर दी और उसका निर्वाचन कराने का आदेश पारित किया । इस प्रकार जनता की भावनाओं के अनुसार मार्च सन् 1977 में चुनी हुई लोकसभा अपना सम्पूर्ण कार्यकाल पूरा न कर सकी और भंग कर दी गयी ।

चतुर्थ आम चुनाव के पूर्व केन्द्र और राज्यो के सम्बन्ध सामान्यतः सहयोग और सद् भावना पर आधारित रहे थे इसका मुख्य कारण यह भी रहा कि उस समय प्रायः केन्द्र और राज्यों में कांग्रेस की ही सरकारें थी । इसलिये उनमें आपस में कोई विवाद नही उठा और इसलिये राज्यपाल के आचरण के बारे में भी कोई विवाद नही हुआ परन्तु चौथे आम चुनाव के पश्चात केन्द्र में तो कांग्रेस की ही सरकार रही परन्तु कई राज्यों मे गैर-कांग्रेसी सरकारें स्थापित हो जाने से केन्द्र तथा राज्यों में अनेक दल मिले हुये थे और उनके कार्यक्रम तथा उद्देश्य एक दूसरे से भिन्न थे इसलिये उनमें अस्थिरता उत्पन्न हो गयी । केन्द्र की कांग्रेस सरकार भी गैर-कांग्रेसी सरकार को पसन्द नही करती थी इसलिये कांग्रेस तथा विरोधी दलो ने दलबदलुओं के उत्साहित किया । दोनो अपनी सरकारें बनाना चाहते थे । कांग्रेस ने दलबदलुओं को हरियाणा तथा पंजाब और मध्यप्रदेश में विशेष रूप से शरण दी हरियाणा में पहले राव वीरेन्द्र सिंहने कांग्रेस को छोड़ा और कुछ दलबदलुओं की सहायता तथा विरोधी दलों की सहायता से अपनी सरकार बना ली उसके बाद फिर कांग्रेस ने दलबदलुओं को उत्साहित किया और राव वीरेन्द्र सिंह का विधान सभा में स्थायी बहुमत न रहा । ऐसी स्थिति में विरोधी दल कांग्रेस और संयुक्त विधायक दल अपने-अपने बहुमत का दावा करने लगे । ऐसी स्थिति में हरियाणा के तत्कालीन राज्यपाल श्री बी० एन० चक्रवर्ती की स्थिति बहुत नाजुक हो गयी । वह किसको मंत्रिमण्डल बनाने के लिये कहें किसको न कहे । उन्होने केन्द्र को यह सिफारिश की कि हरियाणा में राष्ट्रपति का शासन लागू कर दिया जाये । क्योकि दलबदलुओं ने लोकतन्त्र को बदनाम कर दिया है, जब हरियाणा की विधानसभा भंग हो गयी, और मंत्रिमण्डल तोड़ा गया, तो उस समय भी मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह के साथ केवल एक सदस्य का बहुमत था । एक सदस्य के इधर-उधर जाने से मंत्रिमण्डल कभी भी टूट सकता था । राज्यपाल की इस कार्यवाही की हरियाणा के तत्कालीन मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्र सिंह ने कटु आलोचना की क्योंकि कांग्रेस को सरकार बनाने का अवसर नही दिया गया था । राज्यपाल भी यह

चाहते थे कि विधानसभा में शक्ति परीक्षण हो परन्तु राव वीरेन्द्र सिंह विधानसभा का अधिवेशन नही बुलाना चाहते थे, इसलिये ऐसी स्थिति में चाहे राज्यपाल की कितनी भी आलोचना क्यों न हुई हो परन्तु उसका कार्य ही उचित था क्योंकि दलबदलुओं ने लोकतन्त्र को एक मजाक बना दिया था ।

पंजाब में भी स्थिति विचित्र थी । वहाँ पर पहले सरदार गुरनाम सिंह आकाली नेता ने जनसंघ के सहयोग से अपनी सरकार बना ली, परन्तु बाद में लक्ष्मण सिंह गिल कुछ दलबदलुओं को लेकर अलग हो गया । इससे गुरनाम सिंह का मंत्रिमण्डल टूट गया, क्योंकि उसका विधानसभा में बहुमत नही रहा । गुरनाम सिंह ने विधानसभा भंग करने की मांग की परन्तु पंजाब के राज्यपाल श्री पावते ने उसे स्वीकार नही किया उन्होने श्री गिल को मंत्रिमण्डल बनाने का अवसर दिया । गिल ने कांग्रेस के सहयोग से अपना मंत्रिमण्डल बना लिया, परन्तु कुछ महीने के बाद श्री गिल और कांग्रेस में सहयोग न रहा, इसलिये गिल का मंत्रिमण्डल टूट गया और पंजाब के तत्कालीन राज्यपाल श्री पावते को केन्द्र से राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करनी पड़ी । ऐसी स्थिति में राज्यपाल की स्थिति बहुत कठित हो जाती है ।

पंजाब राज्य बनाम सतपाल डांग का ऐतेहासिक मुकदमा[27]-

पंजाब और हरियाणा राज्य के दो अध्यादेशों पर राज्यपाल ने हस्ताक्षर किये थे । इन आध्यादेशों की वैधता को उच्चतम न्यायालय में चुनौती दी गयी । इसके पूर्व पंजाब उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश मेहर चन्द और अन्य न्यायाधीशों ने इन अध्यादेशों और अधिनियमों को अवैध घोषित कर दिया था । इसमें दल बदल के कारण यूनाइटेड फ्रंट की सरकार बनी और गुरनाम सिंह मुख्यमंत्री बने । इस समय लेफ्टिनेन्ट जोगिन्दर सिंह मान और डॉ० बलदेव सिंह को क्रमशः अध्यक्ष और उपाध्यक्ष निर्वाचित किया गया था । पुनः दल बदल के कारण श्री लक्ष्मण सिंह गिल मुख्यमंत्री बने (पंजाब जनता पार्टी) इनको कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था । परन्तु वजट अधिवेशन के अन्तिम दिन अध्यक्ष श्री मान के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश हुआ । काफी हो हंगामा हुआ । इस बीच बिना बजट

27- प्रसाद डॉ० राजेन्द्र - भारत का संविधान, दिल्ली केन्द्रीय शासन मुद्रणालय 1950 (डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में दिल्ली मे अनुवादित) अनुच्छेद 356

को परित किये अध्यक्ष श्री मान ने विधानसभा का स्थगन कर दिया और ऐसा करने में उन्होने नियम 105(2) का हवाला दिया ।

चूँकि बजट पास करना बहुत जरूरी था और ऐसी स्थिति में राज्यपाल ने 11 मार्च 1968 को विधानसभा का सत्रावसान कर दिया । (अनुच्छेद 172(2)(a)(3)) । इसकी प्रति सरकारी गजट में प्रकाशित करने के साथ ही विधानसभा के सचिव और अध्यक्ष को भी भेज दी गयी । 13 मार्च 1968 को राज्यपाल ने अध्यादेश नं०1, 1968 जारी किया । अनुच्छेद 174(3) के तहत राज्यपाल ने पंजाब विधानसभा आमंत्रित की । अनुच्छेद 174(3) 18 मार्च 1968 की तिथि विधानसभा की प्रथम बैठक के लिये निर्धारित की गयी । अनुच्छेद 175(2)(4) के तहत राज्यपाल ने यह निर्देश दिया कि विधानसभा बजट पर विचार करें ।

गुरनाम सिंह ने अपना औचित्य प्रस्ताव पेश किया और कहा कि राज्यपाल को सत्रावसान के दौरान विधानसभा आमंत्रित करने का अधिकार नही है । काफी वाद विवाद के बाद 14-03-1968 के राज्यपाल के आदेश को अवैध घोषित कर दिया गया और श्री मान ने कहा कि विधानसभा वर्तमान स्थिति में है । श्री मान सदन छोड़कर चले गये । उनकी जगह पर उपाध्यक्ष ने आसन ग्रहण किया । शोरगुल के बीच उन्होने यह निर्णय दिया कि श्री मान का आदेश अवैध है और राज्यपाल के आदेश के तहत विधानसभा की कार्यवाही जारी रहनी चाहिए मुख्यमंत्री ने प्रस्ताव पेश करके बजट पास करवा लिया इसके बाद अध्यक्ष श्री मान के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पेश किया गया और पारित किया गया और सदन को 5 अप्रैल 1968 तक के लिये स्थगित कर दिया गया ।

इसके बाद विधेयको को विधान परिषद में इस प्रमाणपत्र के आधार पर कि वे धन विधेयक है भेज दिया गया । कुछ सदस्यों ने आपत्ति की कि धन विधेयकों पर अध्यक्ष का हस्ताक्षर होना चाहिए । किन्तु विधान परिषद के सभापति ने इस आपत्ति को अमान्य कर दिया और विधेयक पर विचार कर राज्यपाल के पास हस्ताक्षर के लिये भिजवा दिया । राज्यपाल ने विधेयकों पर हस्ताक्षर कर दिया ।

पंजाब उच्च न्यायालय में दो याचिकायें दायर की गयी । ये याचिकायें पंजाब विधानसभा के विधायक सत्यपाल डांग द्वारा दायर की गयी थी । न्यायाधीश कपूर ने वाद-विवाद का समापन करते हुये कहा कि सत्रावसान 18 मार्च से प्रभावशाली हुआ था ।

इसलिये सत्रावसान के पहले विधानसभा को आमंत्रित करना अवैध था । इस तरह सत्रावसान व सदन को आमंत्रित किया जाना दोनों अवैध कार्यवाहियॉ थी । इसलिये सदन का स्थगन किये जाने के बावजूद यह मानना चाहिए था कि सदन का "अधिवेशन चल रहा था" और इस तर्क के अनुसार चूँकि सदन का अधिवेशन चला था, अतएव अध्यादेश पारित करना संविधान के प्रति धोखाधड़ी बरतना था । 18 मार्च को अध्यक्ष ने जो निर्णय दिया था उसके विरूद्ध न्यायालय में अपील नही हो सकती थी । अध्यादेश अवैध था। अध्यक्ष को धन विधेयक पर हस्ताक्षर कर उसे प्रमाणित करना पड़ता है, उपाध्यक्ष को इस सम्बन्ध में कोई अधिकार नही है । इस प्रकार उपाध्यक्ष को धन विधेयको पर हस्ताक्षर करके प्रमाणित करने का कार्य भी अवैध था । इस तरह सम्पूर्ण धन विधेयक अवैध था ।

इस मामले की अपील सुप्रीम कोर्ट में हुई । सुप्रीम कोर्ट के अनुसार अध्यक्ष ने 2 माह के लिये विधान सभा स्थगित कर दिया था । इस बीच 31 मार्च तक बजट पारित किया जाना नितान्त आवश्यक था अन्यथा सारा प्रशासनिक कार्य और गतिविधियॉ रूक जाती । अतएव राज्यपाल के सामने विधानसभा का सत्रावसान कर उसे बजट पारित करने के लिये पुनः आमंत्रित करना नितान्त आवश्यक था । राज्यपाल ने अनुच्छेद 209(7) और 213(6) के तहत अध्यादेश जारी किया यद्यपि राज्यपाल तभी अध्यादेश जारी कर सकता है जब विधानसभा का अधिवेशन नही चल रहा है । किन्तु अध्यक्ष ने 2 माह तक के लिये विधानसभा स्थगित करके ऐसी स्थिति उत्पन्न कर दी थी जिससे सिवाय अध्यादेश जारी करके बजट पारित करवाने के अतिरिक्त कोई चारा नही था । 31 मार्च के बाद कोई धन विधेयक पारित नही किया जा सकता था । इस प्रकार राज्यपाल को जल्द से जल्द कार्यवाही करके विधानसभा का अधिवेशन कराकर बजट को पास करवाना था । इस तरह राज्यपाल ने उस समय की स्थिति के सन्दर्भ में समुचित कार्यवाही ही की । सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि सच है कि जब विधानसभा का अधिवेशन चल रहा है ऐसा मान लेना चाहिए और एकसी स्थिति में राज्यपाल को सत्रावसान का आदेश देने का अधिकार नही था । किन्तु अध्यक्ष से दो माह की आवश्यकता से अधिक लम्बी अवधि के लिये विधानसभा को स्थगित कर देना और अध्यक्ष का उद्देश्य बजट पास नही होने देना था । इस प्रकार अध्यक्ष का उद्देश्य ही व्यवस्था और लोककल्याण के विरूद्ध था । किन्तु

राज्यपाल का सत्रावसान का आदेश नियम विरूद्ध होने के बावजूद सद् उद्देश्यों पर आधारित था और जनकल्याण के लिये था । समय समाप्त हो रहा था और राज्यपाल को इस संविधानिक बाधा को मिटाकार 31 मार्च के पूर्व बजट को पारित करवाना था । राज्यपाल को सत्रावसान के माध्यम से विधान सभा आमंत्रित करके बजट पास करवाने का कोई चारा नही था ।

वादी ने यह प्रश्न उठाया था कि सत्रावसान की प्रतियॉ या सूचना सदस्यों को वितरित नही की गयी जो अनुच्छेद 174(2)(3) विधानसभा की प्रक्रिया के नियम 7 का उल्लंघन है । किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि चूंकि सत्रावसान के आदेश का प्रकाशन सरकारी गजट में किया जा चुका था अतएव राज्यपाल ने अपना दायित्व पूरा कर दिया । गजट में प्रकाशित होना ही विधायकों और जनता की सूचना के लिये पर्याप्त है ।

वादी ने अध्यादेश की वैधता को भी चुनौती दी थी किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि सत्रावसान के बाद राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार अनुच्छेद 209 और 213 के अन्तर्गत प्राप्त होता है और राज्यपाल ने इन अनुच्छेदों के अन्तर्गत ही अध्यादेश जारी किया, इसलिये अध्यादेश वैध है ।

अनुच्छेद 209(7) का उद्देश्य बजट और वित्तीय कार्यों को समय के भीतर समाप्त करना था । अध्यक्ष ने जो 2 माह का स्थगन आदेश जारी किया वह संविधान के इस अनुच्छेद की रक्षा की । अनुच्छेद 209(7) के अन्तर्गत राज्यपाल ने जो अध्यादेश जारी किया उसका भी उद्देश्य लोकतन्त्र और संविधान की रक्षा करना था, इसलिये यह अध्यादेश भी वैध था । इसी तरह सुप्रीम कोर्ट ने उच्च्व न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश के इस विचार का समर्थन कि (यद्यपि बहुमत से अन्य न्यायाधीशों ने मुख्य न्यायधीश के विचार को अमान्य कर दिया था) अध्यादेश की धारा 3 अनुच्छेद 189(4) का उल्लंघन नही करती इसलिये अध्यादेश वैध है ।

अध्यक्ष के अनुसार 18 मार्च को सत्रावसान करना अवैध था चूंकि उसके पूर्व ही उसने विधानसभा स्थगित कर दिया था । किन्तु सुप्रीम कोर्ट ने अपने निर्णय में कहा कि 11 मार्च को विधानसभा स्थगित की गयी थी और उसे 14 मार्च को पुनः आमंत्रित किया गया था ।

अध्यक्ष ने अध्यादेश को अवैध घोषित किया था और कहा गया कि औचित्य के प्रश्नो का निर्णय केवल अध्यक्ष के द्वारा ही किया जा सकता है । सुप्रीम कोर्ट ने इस तर्क को रद्द करते हुये कहा कि अध्यादेश को रद्द करने का अधिकार अध्यक्ष का न होकर विधानसभा सदस्यों का है । इन सदस्यों ने बहुमत से प्रस्ताव पास करके अध्यादेश को रद्द करना था । किन्तु ऐसा नही किया गया अतएव अध्यादेश वैध था ।

उपाध्यक्ष का यह निर्णय उचित था कि अध्यादेश वैध था, अध्यक्ष का स्थगन आदेश अध्यादेश के कारण अवैध था; अतएव सदस्यो को बिना अध्यक्ष के आदेश की परवाह किये सदन की कार्यवाही को जारी किया । उपाध्यक्ष के इस निर्णय को किसी ने, यहॉ तक कि विरोधी सदस्यों ने भी चुनौति नही दी अतएव अध्यादेश को विधानसभा में मान्य किया गया; विधानसभा की कार्यवाही वैध थी । सुप्रीम कोर्ट ने यह निर्णय दिया कि अध्यक्ष ने संविधान और नियमों के विरूद्ध कार्य किया ।

सुप्रीम कोर्ट ने यह भी निर्णय दिया कि उपाध्यक्ष ने विधान सभा की कार्यवाही को जिस तरह से संचालित किया वह वैध था । विधानसभा ने कार्य सूची के प्रत्येक विषय और वित्तीय कार्यों को नियमानुसार पूरा किया ।

अन्तिम विषय जिस पर सुप्रीम कोर्ट ने निर्णय दिया वह यह कि धन विधेयकों पर उपाध्यक्ष द्वारा हस्ताक्षर वैध था । अध्यक्ष ने अवैध रूप से 2 माह के लिये विधानसभा की कार्यवाही स्थगित की और वे सदन के सारे महत्वपूर्ण कार्यो को अधूरा छोड़कर चले गये । नियमानुसार जब अध्यक्ष अनुपस्थित हो तो उपाध्यक्ष अध्यक्ष की आसंदी पर बैठता है और उसे अध्यक्ष की सारी शक्तियॉ प्राप्त होती है । अतएव धन विधेयक पर उपाध्यक्ष का हस्ताक्षर वैध था क्योंकि उसने अध्यक्ष के रूप में कार्य किया । सर थामस एरस्किन ने (सुप्रीम कोर्ट के अनुसार) ने अपनी पुस्तक में कई उदाहरण दिये है जिसमें उपाध्यक्षों के धन विधेयकों पर हस्ताक्षर किये है अनुच्छेद 212(1) में विधानसभा की कार्यवाही की वैधता को चुनौती नही दी जा सकती यदि उसने अपनी कार्यवाही को नियमानुसार निपटाया है ।

सुप्रीम कोर्ट ने अपने निर्णय से उच्च्व न्यायालय के निर्णय को निरस्त करते हुये राज्यपाल की कार्यवाही को वैध ठहराया । सुप्रीम कोर्ट ने कहा कि पंजाब में राजनीतिज्ञों और विधायको ने घोर अराजकतापूर्ण स्थिति उत्पन कर दी थी । इग्लैण्ड में ऐसी स्थिति

स्टुअर्टो के काल में उत्पन्न हुई थी । राज्यपाल ने बडे कठोर कदम उठाये । किन्तु बिना कठोर कदम उठाये राज्य का बजट पारित नही होता और राज्य में अभूतपूर्व स्थिति उत्पन्न हो जाती सुप्रीम कोर्ट ने अंग्रेज निबन्ध कार बेकन को उदधृत करते हुये कहा कि "असाध्य बीमारियों के लिये कड़वी औषधियॉ ही कारगर सिद्ध होती है, कष्टदायक कदम उठाने पड़ते है ।"(Noremedies cause so much pain as are efficacious)

उत्तर प्रदेश में भी चौथे आम चुनाव के पश्चात चौधरी चरण सिंह के नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल की सरकार स्थापित हो गयी । सयुक्त विधायक दल के विभिन्न घटकों में काफी झगड़े चले । इसलिये चौधरी चरण सिंह ने इस नेतृत्व से अपना त्यागपत्र दे दिया । संयुक्त विधायक दल से शामिल होने वाले दल अपने मनमुटाव को दूर न कर सके और वहॉ पर उनका मंत्रिमण्डल टूट गया । तथा राज्यपाल की सिफारिश पर राष्ट्रपति का शासन लागू हो गया । ऐसी स्थिति में कांग्रेस के नेता चन्द्रभानु गुप्त ने राज्यपाल के इस कदम की आलोचना की क्योंकि कांग्रेस को मंत्रिमण्डल बनाने का अवसर नही दिया गया था ।

उत्तर प्रदेश में प्रथम बार राष्ट्रपति शासन की स्थापना श्री चरण सिंह के मुख्यमंत्रित्व की समाप्ति के पश्चात हुई थी । संयुक्त विधायक दल में फूट पड़ने के कारण 24 फरवरी 1968 से पूर्व मुख्यमंत्री श्री चरण सिंह ने अपना त्यागपत्र दे दिया । श्री चरण सिंह पहली बार मुख्यमंत्री 14 मार्च 1967 को श्री चन्द्र भानु गुप्त के त्यागपत्र के बाद बने थे ।

फरवरी में हुये मध्यावधि चुनाव के बाद श्री चन्द्रभानु गुप्त दुबारा सत्तारूढ़ हुये अर्थात मुख्यमंत्री बन गये किन्तु कांग्रेस के विभाजन के कारण बहुमत में हो गये । फरवरी 1970 में उन्होने राज्यपाल को यह सिफारिश करते हुये त्याग पत्र दे दिया कि तत्कालीन विपक्षी दल के नेता श्री चरण सिंह को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया जाये । श्री चरण सिंह को पुरानी कांग्रेस, जनसंघ संसोपा आदि दलों का समर्थन मिला किन्तु इस बीच श्री चरण सिंह की सॉठ-गॉठ नयी कांग्रेस के साथ हो गयी । और उन्होने उसके समर्थन से 17 फरवरी 1970 को मुख्यमंत्री के पद की शपथ ली बाद में नयी कांग्रेस के मंत्री उसमें शामिल होने पर संयुक्त सरकार का गठन हुआ । किन्तु दोनों दलों का मेल नही बैठ पाया । मिली जुली सरकार के संचालन के लिये समन्वय समिति

बनाने, भाक्रांद(भारतीय क्रान्ति दल) का नयी कांग्रेस में विलय करने; चीनी मिलों के राष्ट्रीय करण, निवारक नजरबंदी कानून लागू करने, विश्वविद्यालयों में छात्र यूनियनों की सदस्यता ऐच्छिक करने और संसद में प्रिवी पर्स समाप्ति सम्बन्धी विधेयकों पर दोनो दलों के मत का अन्तर बढ़ते जाने से सम्बन्ध विगड़ गये । प्रिवी पर्स विधेयक पर राज्य सभा में भाक्रांद (भारतीय क्रान्ति दल) द्वारा नयी कांग्रेस के विरूद्ध मतदान करने के बाद उत्तरप्रदेश में सत्तारूढ़ या नयी कांग्रेस के नेता श्री कमलापति त्रिपाठी ने भाक्रांद (भारतीय क्रान्ति दल) का समर्थन वापस ले लिया । उसके पश्चात 26 सितम्बर 1970 को उत्तर प्रदेश के मुख्यमंत्री चौधरी चरण सिंह ने नयी कांग्रेस के 27 मंत्रियों से त्यागपत्र मांगे । जब मंत्रियों ने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया, तो उन्होने राज्यपाल से आग्रह किया कि नयी कांग्रेस के सभी मंत्रियों को पद से हटा दिया जाये । दूसरी ओर कांग्रेस (अथवा सत्तारूढ़ कांग्रेस इन्दिरा गाँधी या जगजीवन राम के नेतृत्व वाली कांग्रेस) की उत्तर प्रदेश शाखा के नेता कमलापति त्रिपाठी ने राज्यपाल श्री गोपाल रेड्डी से यह आग्रह किया कि उनके समर्थन के वापस लिये जाने के बाद चौधरी चरण सिंह की सरकार अल्पमत में रह गयी है, इसलिए चौधरी चरण सिंह से त्यागपत्र की मांग की जाये । दूसरी ओर चौधरी चरण सिंह ने कहा कि उन्हे जनसंघ, संगठन कांग्रेस(या पुरानी कांग्रेस) भारतीय क्रान्तिदल तथा स्वतन्त्र दल का समर्थन प्राप्त है । इसलिये सत्तारूढ़ कांग्रेस के 27 मंत्रियों को पद से हटाया जाय । जनसंघ और कांग्रेस संगठन के नेताओं ने भी राज्यपाल श्री गोपाल रेड्डी से नयी कांग्रेस के मंत्रियों को पद से हटाने की मांग की । चौधरी चरण सिंह ने यह भी कहा कि वह 6 अक्टूबर 1970 को उत्तर प्रदेश विधानसभा का अधिवेशन में शक्ति परीक्षण को तैयार है । चौधरी चरण सिंह ने यह भी राज्यपाल को लिखा कि उन्हे 30 सितम्बर या पहली अक्टूबर 1970 को विधानसभा का अधिवेशन बुलाने की अनुमति दी जाय और इसमें वे शक्ति परीक्षण के लिये तैयार है । राज्यपाल ने इस विषय में भारत के महान्यावादी श्री नीरन डे की सम्मति भी मॉगी । उस सम्मति के अनुसार राज्यपाल ने यह निर्णय किया कि चौधरी चरण सिंह पहले अपना त्यागपत्र दे क्योंकि वह सत्तारूढ़ कांग्रेस के समर्थन के वापस लिये जाने के बाद अल्पमत में रह गये है । राज्यपाल ने नयी कांग्रेस या सत्तारूढ़ कांग्रेस के 27 मंत्रियों को हटाने से इन्कार कर दिया । राज्यपाल ने यह भी कहा कि विधानसभा का 6 अक्टूबर 1970 से पूर्व अधिवेशन केवल

मंत्रिपरिषद की सलाहपर ही बुलाया जा सकता है । उन्होने चौधरी चरण सिंह को यह भी कहा कि यदि उन्हे जनसंघ, भारतीय क्रान्ति दल तथा संगठन कांग्रेस और स्वतन्त्र दल का समर्थन प्राप्त है तो पहले उन्हे अपना त्यागपत्र देना चाहिए । और फिर दूसरी सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किये जाने पर उन्हे अपने दलों की सहायता की नयी मंत्रिपरिषद बनानी चाहिए परन्तु चौधरी चरण सिंह ने त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया । राज्यपाल श्री गोपाल रेड्डी ने 29 सितम्बर, 1970 को राष्ट्रपति द्वारा भेजी गयी अपनी रिपोर्ट में कहा कि विभिन्न दलों द्वारा सरकार के गठन की क्षमता के बारे में किये गये विरोधी दावों और दलीय स्थिति अनिश्चित रहने की स्थितिं में इस विचार का समर्थक हूँ कि राज्य में इस समय स्थिर सरकार नही बन सकती है । अनिश्चितता की हालत को जारी रहने देना सार्वजनिक हित में नही होगा । इसलिये मै संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार यह सिफारिश करता हूँ कि राष्ट्रपति उत्तर प्रदेश का शासन अपने हाथ में ले लें । राज्यपाल श्री गोपाल रेड्डी की सिफारिश पर केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने अपनी सहमति प्रकट कर दी और उसके पश्चात राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि के पास हस्ताक्षर कराने के लिये एक सन्देशवाहक रूस भेजा गया क्योंकि उस समय राष्ट्रपति वी० वी० गिरि रूस की यात्रा कर रहे थे । राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने पहली अक्टूबर 1970 को रूस के कीव नगर मे उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने की अधिघोषणा पर हस्ताक्षर कर दिये । 2 अक्टूबर 1970 को उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति का शासन लागू करने के बारे में गृह मंत्रालय ने एक अधिसूचना जारी कर दी । इस तरह से चौधरी चरण सिंह की सरकार स्वतः समाप्त हो गयी ।

उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री गोपाल रेड्डी की इस आधार पर संवैधानिक विशेषज्ञों तथा विरोधी दलों के नेताओं द्वारा कड़ी आलोचना की गयी । आलोचना में मुख्य बात यह कही गयी कि जब 6 अक्टूबर, 1970 को विधानसभा का अधिवेशन होने वाला था, तो राज्यपाल के लिये राष्ट्रपति के शासन को 2 अक्टूबर 1970 को लादने की सिफारिश करना अनुचित था । उसे मुख्यमंत्री श्री चरण सिंह को यह अवसर देना चाहिए था कि विधानसभा में शक्तिपरीक्षण कर सके । विशेष रूप से जबकि वह विधानसभा का अधिवेशन 30 सितम्बर अथवा पहली अक्टूबर को बुलाने के लिये तैयार था । आलोचना में दूसरी बात यह कही गयी कि जब इससे पूर्व पंजाब मे जनसंघ ने अकाली दल का

साथ छोड़ दिया था, तो उस समय वहॉ के मुख्यमंत्री श्री प्रकाश सिंह बादल को पंजाब के राज्यपाल श्री पांवते ने त्यागपत्र देने के लिये नही कहा था । अपितु मुख्यमंत्री को सदन में अपना बहुमत सिद्ध करने की अनुमति दे दी थी । तीसरे, आलोचना मे यह भी कहा गया कि पहले राज्यपालों और विधानसभाओं के अध्यक्षों के विभिन्न सम्मेलनों में यह निर्णय किया गया कि राज्यपाल स्वयं इस बात का निश्चय नही करेगा कि किसी मुख्यमंत्री के पीछे विधानसभा में बहुमत है या नही, अपितु विधानसभा में शक्ति परीक्षण की आज्ञा देगा । चौथे आलोचना में कहा गया कि जब राष्ट्रपति रूस की यात्रा पर गये हुये थे, उन्हे उत्तर प्रदेश की घटनाओं का भली-भॉति ज्ञान नही था तो उन्हे केवल राज्यपाल के प्रतिवेदन और केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के निर्णय पर रबड़ की मोहर की भॉति कार्य नही करना चाहिए था । पॉचवे, आलोचना में यह कहा गया कि जब कांग्रेस दल में फूट पड़ने के कारण केन्द्र में श्रीमती इन्दिरा गॉधी की सरकार अल्पमत में रह गयी थी; तो राष्ट्रपति ने उन्हे पहले त्यागपत्र देने और बाद में अपनी सरकार का निर्माण करने के लिये नही कहा लोकतन्त्र की कार्यप्रणाली के लिये उत्तर प्रदेश का केस सबसे अधिक महत्वपूर्ण है । इसलिये हम नीचे कुछ संवैधानिक विशेषज्ञों और राजनीतिज्ञों की सहमति देते है ।

भूतपूर्व महान्यायवादी श्री एम० सी० सीतलवाड ने कहा कि "राज्यपाल के लिये मुख्यमंत्री श्री चरण सिंह से त्यागपत्र देने की मांग करना सर्वथा अनुचित था जबकि विधानसभा का अधिवेशन कुछ ही दिनों में आरम्भ होने वाला था । यह विधानसभा पर छोड़ा जाना चाहिए था कि वह निर्णय करे कि मुख्यमंत्री श्री चरण सिंह के पीछे बहुमत है या नही । राज्य में राष्ट्रपति के शासन का औचित्य सिद्ध नही किया जा सकता है । यह एक असाधारण घटना थी कि उत्तर प्रदेश को राष्ट्रपति के शासन के अधीन कर दिया गया जबकि विधानसभा का एक सप्ताह में अधिवेशन होने वाला था ।"[28]

28- Former Attorney General, Mr. M. C. Setalvad is of the voice that it was highly improrer for the governer to have asked the chief Minister to resign when the assembly was to meet in a few days. It should have been left to the assembly to decide as to whether he had the majority support or not. The impostion of president's rule, he asserted, could not be justified. It was an extraordinary

भारत के भूतपूर्व वादेक्षक (Former solicitor General) श्री एस० वी० गुप्ता का यह मत था कि "श्री चरण सिंह के लिये उस समय त्यागपत्र देना आवश्यक नही था जबकि नई कॅाग्रेस ने संयुक्त सरकार से अपना समर्थन वापस ले लिया था । मेरे विचार मे चरण सिंह को मुख्यमंत्री बने रहने का अधिकार था चाहे वह अल्पमत में रह गये थे, जैसा कि उस समय में केन्द्र में श्रीमती इन्दिरा गॉधी को प्रधानमंत्री बने रहने का अधिकार था । उसे विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिया जाना चाहिए था ।"[29] किसी मुख्यमंत्री के पीछे डॉक्टर एल० एम० सिंघवी के अनुसार "जब विधानसभा काअधिवेशन हो रहा हो या थोड़े समय में अधिवेशन होने वाला हो तो यह कार्य राज्यपाल का नही है कि वह निश्चित करे कि मुख्यमंत्री के पीछे बहुमत है अथवा नही उसके लिये यह संवैधानिक आवश्यकता है कि वह अपने आपको दलगत विवादों से अलग रखें और विधानमण्डल को यह निर्णय करने दें कि बहुमत है अथवा नही ।"[30]

---

development to put the state under central rule when the Assembly was scheduled to meet within a week. Hindustan Times dated Oct. 1, 1970 P, 1, column. 5.

29- Former solicitor General Mr. S. V. Gupta does not consider it necessary that Mr. Charan Singh should have resigned following with drawal of support by coalition partner, the new congress. In his opinion, Mr. Charan Singh is entitiled to continue as chief minister though his party may be in a minority as at present the Prime Minister does at the center. He should be required to establish majority in the Assembly at the earliest opportunity.
Hindustan Times, New Delhi, Oct, 1, 1970 Ist Page column-5

30 According to Dr. L. M. Singhvi, when an assembly is in session has been summooned to meet shortly it is not for the governor to determine whether or not Chief Minister enjoys Majority support. It is a constitutional imperative for him to keep detached from party controversy and not get involved over the question of majority as far as he can avoid it and get it decided by the legislature as early as possible."
Hindustan Times dated Oct. 1, 1970 Last page – Col-5

चौधरी चरण सिंह ने इस विषय में उत्तरप्रदेश के महाधिवक्ता की राय मांगी । उत्तर प्रदेश के महाधिवक्ता श्री के० एल० मिश्र ने इस विषय में यह सम्मति प्रकट की कि "महान्यायवादी की राय संविधान के किसी उपबन्ध अथवा प्राधिकार पर आधारित नही है बल्कि एक अस्पष्ट तथा अनिश्चित आधार पर दी गई है । जिसकों महान्यायवादी ने संसदीय लोकतन्त्र के सिद्धान्तों के नाम से पुकारा है ।

श्री के० एल० मिश्र ने चौधरी चरण सिंह को अपने एक पत्र में लिखा था महान्यायवादी ने राज्यपाल को परामर्श दिया है कि वर्तमान स्थिति मे मुख्यमंत्री को संयुक्त सरकार के मंत्रियों को पद से हटाने का कोई अधिकार नही है । मै यह स्पष्ट रूप में स्वीकार करता हूँ कि मै महान्यायवादी की सम्मति के इस अंश को भली भॉति नही समझ पाया हूँ । ग्रेट ब्रिटेन तथा अन्य संसदीय लोकतन्त्रों में यह बात पूरी तरह स्वीकृत है कि किसी मंत्री को पद पर बने रहना मुख्यमंत्री की इच्छा पर निर्भर करता है । यह भी वहाँ माना जाता है कि मंत्री की अवधि के विषय में राज्यपाल का प्रसाद वास्तव में मुख्यमंत्री का प्रसाद ही है । संसदीय लोकतन्त्रीय देशों के इतिहास में गत 100 वर्षों में कोई भी ऐसा उदाहरण नही है जहॉ कि मंत्री को पद से हटाने के बारे में मुख्यमंत्री की सम्मति न मानी गई हो ।"[31]

---

[31] He opinion of the Attorney General or Governor's role was not based upon any provision of the constitution or any authority but a "vague and uncertain creterion" on what the governor general called. "the principles of Parliamentary democracy", according to Uttar Pradesh Advocate General Mr. K. L. Mishra. Mr. Mishra has further said in a reply to the letter of Mr. Charan singh. "the Attorney General has said, in his opinion that a chief Minister will have no right to advise the Governor to dismiss some ministers of the coalition Ministry. I frunkly concede that I have not been able to understand this portion of the opinion. It is a settled proposition in Great Britain and inother countries having Parliamentary democracy that the continuance of a minister is completely and irrevocably in the hands of the Chief Minister. It is also settled that the pleasure of the Governor in the matter of tenure of the minister is really the pleasure of the Chief Minister. I can only say that I am not aware of a single instance in the constitutional history

उत्तर प्रदेश के संकट के विषय में भूतपूर्व मुख्य न्यायधिपति सुब्बाराव ने उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति के शासन के लादने की आलोचना की और कहा कि "कानूनी व्यावहारिक तथा संसदीय लोकतन्त्रों की परम्पराओं के आधार पर इसको उचित नही ठहराया जा सकता है । राज्यपाल की कार्यवाही उचित नही ठहरायी जा सकती और एक मनोनीत राज्यपाल मुख्यमंत्री को तब तक नही हटा सकता है जब तक की उसके पीछे विधानसभा में बहुमत है । संविधान में यह स्पष्ट रूप से लिखा है कि राष्ट्रपति को इस विषय में अपनी पूरी सन्तुष्टि कर लेनी चाहिए कि एक राज्य की सरकार संविधान की धाराओं के अनुसार नही चलायी जा सकती है, तब ही उसे राज्य पर अपना शासन लागू करना चाहिए । इसका यह अर्थ है कि उसे इस बारे में अपनी सन्तुष्टि कर लेनी चाहिए न कि केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की"[32]

भूतपूर्व मुख्यमंत्री श्री मोरारजी देसाई ने इस विषय में कहा "मुख्यमंत्री चरण सिंह की पदच्युति राज्यपाल द्वारा जब विधानसभा की बैठक में केवल तीन दिन रह गये थे सर्वथा अनुचित थी । इस प्रकार की स्थिति में पंजाब में राष्ट्रपति का शासन नही लादा गया था क्योकि वह केन्द्रीय सरकार के माफिक पड़ता था । संविधान में संशोधन करने की अपेक्षा गलती करने वाले राज्यपालों को दण्ड देना अधिक उचित है ।"[33]

---

of any parliamentary democracy within the last 100 years when the advice of a chief minister about the termination of the office of a Minister has not been accepted."

Hindustan Times dated Sept. 30, 1970, Ist page Col.

32- The farmer chief justice of India Mr. K. Subba Rao criticised the imposition of president's Rule in U. P. on 4th Oct. 1970 at Banglore as indefensible from legal, practical and parliamentary democratic, conventional point of view. Talking to news man Mr. Rao said the president's order could be challenged in the High court. On the ground that the conditions envsaged in the constitution for such an action were not satisfied by a reasonable mind. Mr. Rao said that the action of the U. P. Governer could not be supported and added unless he lost the confidence of the legisture. Mr. Rao said the constitutional provision had clearly laid down that the president should satisfy him self that the Government of a state could not be carried on in accordance with the provisions of the constitution before imposing the president rule. This meant that the president satisfy himself and not the central Minstry that a situation had arisen to impose president's rule- Hindustan Times, New Delhi, Oct. 5, 1970, page.5 Col,5-7.

33- Sec H. T. dated Oct. 8, 1970 Page, 5, Col. 4,

कांग्रेस के प्रधानमंत्री श्री एस० निजलिंगप्पा ने "उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति के शासन को राजनीतिक दृष्टि से गलत, आपत्तिजनक, और अलोकतन्त्रात्मक बताया । उन्होने कहा कि पता नही कि इस भाँति हमें कहाँ ले जाया जा रहा है ।"[34] जनसंघ के प्रधान श्री अटल बिहारी बाजपेई ने इस कदम को लोकतन्त्र के लिये एक अंधेरा दिन बताया उन्होने कहा कि "उत्तर प्रदेश के विधायको के बहुमत; विधानसभाओं के अध्यक्षों के सम्मेलनों; राज्यपालों के सम्मेलनों, प्रशासकीय सुधार आयोग तथा राष्ट्रीय प्रेस की सम्मतियों का उल्लंघन केवल प्रधानमंत्री को प्रसन्न करने के लिये किया गया है ।"[35] इसके अतिरिक्त उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति के शासन को लागू करने का विरोध प्रजा समाजवादी दल के महासचिव श्री प्रकाशवीर शास्त्री संयुक्त समाजवादी दल के महासचिव श्री जार्ज फर्नाण्डीज, स्वतन्त्र दल के जन्मदाता तथा भारत के भूतपूर्व गर्वनर जनरल श्री राजगोपालाचारी; स्वतन्त्र दल के प्रधान मीनू मसानी, मार्क्सवादी नेता श्री ई० एम० एस० नम्बूदरीपाद उत्तर प्रदेश अधिवक्ता संघ (U.P.Bar Association), संसद सदस्य श्री राजनारायण तथा अनेक अन्य नेताओं ने किया । इसलिये जनता के रोष को देखते हुये केवल 15 दिन बाद राष्ट्रपति ने उत्तर प्रदेश में अपना शासन समाप्त कर दिया । और 17 अक्टूबर, 1970 को राज्यपाल ने श्री त्रिभुवन नारायण सिंह को उत्तर प्रदेश का मुख्यमंत्री बना दिया जिन्हे कांग्रेस (संगठन) स्वतन्त्र दल, जनसंघ, भारतीय क्रान्ति दल और संसोपा पर विश्वास प्राप्त था । मनीराम (उत्तर प्रदेश) के उपचुनाव में श्री टी० एन० सिंह की हार से उत्तर प्रदेश की स्थिति पुनः गम्भीर हो गयी ।

उड़ीसा में भी राज्यपाल के आचरण के बारे में विवाद उठा जब 9 जनवरी 1971 को उड़ीसा के मुख्यमंत्री श्री आर० एन० सिंह देव ने अपना त्यागपत्र दे दिया क्योंकि जन कांग्रेस के समर्थन के वापस लिये जाने पर जनकांग्रेस और स्वतन्त्र दल की संयुक्त सरकार नही रही और मुख्यमंत्री अल्पमत में रह गये ।उन्होने अपने मंत्रिमण्डल की बैठक में त्यागपत्र देने से पहले यह निर्णय किया कि उड़ीसा की विधानसभा को भंग किया जाये और उसके चुनाव मार्च 1971 में लोकसभा के साथ ही कराये जायें । श्री आर० एन० सिंह देव ने अपनी सिफारिश राज्यपाल को भेज दी । राज्यपाल डॉ० एस० एस० अन्सारी

34- Sec Hindustan Times New Delhi, dated Oct. 2, 1970, page 12, Col. 1-IV
35- As it is. Hindustan Times dated Oct. 2 Page 6, Col. 3-6 and Page 12, Col. 1-IV

ने राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि को 10 जनवरी 1971 को वायरलैस से तुरन्त उड़ीसा में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की । 11 जनवरी 1971 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सिफारिश पर राष्ट्रपति का शासन उड़ीसा में लागू कर दिया गया और विधानसभा को भंग करने के बजाय निलम्बित कर दिया गया । इस तरह से उड़ीसा में राज्यपाल ने लगभग दो दिन की प्रशासकीय रिक्ति उत्पन्न कर दी । इसके कारण विरोधी दलों ने राज्यपाल की आलोचना की । राज्यपाल को चाहिए था कि जब तक राष्ट्रपति का शासन लागू नही होता था तब तक श्री सिंह देव को कामचलाऊ सरकार का मुख्यमंत्री बने रहने को कहता और राज्यपाल की इन कारण से भी आलोचना की गयी कि उसने उड़ीसा विधानसभा को भंग करने के बारे में तुरन्त मुख्यमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद की सिफारिश को नही माना । राज्यपाल श्री शैकुतल्लाह शाह अंसारी ने उड़ीसा में अन्य दलों से वैकल्पिक सरकार बनाने के लिये बातचीत की परन्तु जब उन्होने देखा कि कोई स्थाई सरकार सम्भव नही है तो उसने 20 जनवरी 1971 राष्ट्रपति को उड़ीसा की विधानसभा को भंग करने के लिये अपनी सिफारिश भेजी । प्रधानमंत्री उस समय चुनाव दौरा कर रही थी । इसलिये उन्होने श्री यशवन्तराव चव्हाण जो कि वित्तमंत्री थे इस हेतु आदेश दिया । श्री यशवन्तराव चव्हाण ने मंत्रिमण्डल की बैठक को 21 जनवरी 1971 को बुलाया और प्रधानमंत्री की अनुपस्थिति में उसकी अध्यक्षता की । इस बैठक में केवल चार मंत्री उपस्थित थे । उन्होने डॉ० अंसारी की रिपोर्ट का अनुसमर्थन कर दिया कि विधानसभा को भंग करके उसके चुनाव लोकसभा के साथ ही मार्च 1971 में कराये जाये राष्ट्रपति श्री वी० वी० गिरि ने 23 जनवरी 1971 को उड़ीसा विधानसभा को भंग करने के बारे में एक अधिसूचना जारी कर दी । उसी दिन मुख्य चुनाव आयुक्त श्री एस० पी० सेन वर्मा ने यह घोषणा कर दी कि 5 मार्च, 1971 का ही लोकसभा के चुनाव के साथ उड़ीसा विधानसभा के भी चुनाव होंगे ।

बिहार तथा बंगाल में भी चौथे आम चुनाव के पश्चात स्थिति बहुत खराब रही । बिहार में महामाया प्रसाद सिन्हा के नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल का मंत्रिमण्डल स्थापित हुआ परन्तु शीघ्र ही दलबदलुओं के कारण उस मंत्रिमण्डल का बहुमत न रहा । इसके पश्चात वहाँ दलबदलुओं की सहायता से कांग्रेस ने भोलानाथ पासवान के नेतृत्व में अपना मंत्रिमण्डल स्थापित कर लिया, परन्तु श्री भोलानाथ पासवान की सरकार अधिक न

चल सकी और राज्यपाल की सिफारिश पर 20 जून 1968 को राष्ट्रपति का शासन लागू किया गया ।

बंगाल में राज्यपाल की स्थिति के बारे में विवाद-

बंगाल में चौथे आम चुनाव के पश्चात श्री अजय मुखर्जी की सरकार स्थापित हो गयी । जिसमें कांग्रेस को छोड़कर अन्य कई दल मिले थे परन्तु आन्तरिक झगड़ों के कारण तथा कांग्रेस द्वारा दलबदलुओं को प्रोत्साहन देने के कारण यह सरकार अधिक न चल सकी । इसके बाद श्री प्रफुल्ल चन्द्र घोष ने वहाँ कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बनाया । वह भी न चल सका और तत्कालीन राज्यपाल श्री धर्मवीर ने वहाँ पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की । बंगाल में अजय मुखर्जी की सरकार हटाये जाने पर राज्यपाल की काफी निन्दा की गयी बंगाल में राष्ट्रपति शासन फरवरी 1968 में लागू किया गया फरवरी 1969 में वहाँ मध्यावधि चुनाव हुये और वहाँ दुबारा अजय मुखर्जी के नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल की सरकार स्थापित हो गयी । 6 मार्च 1969 को बंगाल के बजट उदघाटन अधिवेशन के समय राज्यपाल श्री धर्मवीर ने मत्रिमण्डल द्वारा तैयार किये हुये भाषण के कुछ अंश छोड़ दिये । इस अंश में अजय मुखर्जी की सरकार को मध्यावधि चुनाव से पूर्व हटाये जाने के बारे में राज्यपाल श्री धर्मवीर तथा केन्द्रीय सरकार की निन्दा की थी । पश्चिमी बंगाल के मुख्यमंत्री श्री अजय मुखर्जी ने राज्यपाल की इस बारे में आलोचना की और उनके इस कदम को असंवैधानिक बताया । राज्यसभा में श्री भूपेश गुप्त (कम्युनिस्ट पार्टी) तथा लोकसभा में कम्युनिस्ट पार्टी के नेता श्री डांगे, मार्क्सवादी कम्युनिस्ट नेता श्री नाम्बियार, स्वतन्त्र पार्टी के नेता श्री रंगा और जनसंघ नेता श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने इस सारे मामले को संविधान के विरूद्ध बताया और बहस की मांग की । बंगाल के मंत्रिमण्डल ने राज्यपाल धर्मवीर को वहाँ से हटाने की मांग की परन्तु केंन्द्र ने इसे अस्वीकार कर दिया । बंगाल में तनाव को कम करने के लिये केन्द्र से श्री धर्मवीर ने भी पदयुक्ति के लिये प्रार्थना की और वे कुछ समय के पश्चात वहाँ से चले गये ।

इस प्रकार जे० पी० क्रान्ति की भावना को प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई व चरणसिंह गुटों की लड़ाई से समाप्त किया गया ।

मोरारजी देसाई की आकांक्षा थी कि वे हर हालत में प्रधानमंत्री अवश्य बने रहे और चरण सिह की आकांक्षा थी कि वे उपप्रधानमंत्री अवश्य बने और किसी प्रकार मोरारजी देसाई को हटा कर पद खाली करावें । वे इस कारण किसी से भी गठबन्धन करने से नही चुके । वहॉ तक कांग्रेस आई के नेता तथा भूतपूर्व प्रधानमंत्री से सहयोग लिये । यही कहा जाता है कि विनाश काले विपरीत बुद्धि । हर आदमी जंग की राजनीत से दूर था वह भी यह कहता था कि चरण सिंह राजनारायण को इन्दिरा गॉधी से समर्थन नही लेना चाहिए । इसी कारण यह गठबन्धन टूट गया और 24 दिन के बाद ही चरण सिंह को त्यागपत्र देना पड़ा । यह एक विडम्बना ही थी कि भारत सरकार जिसे शक्तिशाली होना था छोटे-छोटे दलों व दलों के समर्थन पर निर्भर हो गयी । इस प्रकार न तो वह एकात्मक रह गयी और ना संघात्मक रह गई ।

लोकसभा के भंग होने के बाद यह सवाल उठा कि भारत सरकार कैसी चलाई जाये । कुछ विशेषज्ञों का कहना था कि प्रधानमंत्री चरण सिंह का त्यागपत्र स्वीकार करने के बाद राष्ट्रपति ने उन्हे यह निर्देश दिया है कि वे अन्य व्यवस्था होने तक कार्य करे । इसका मतलब यह हो सकता है कि वे निर्वाचन होने तक कार्य कर सकते है ।

भारत में लोकसभा का निर्वाचन जनवरी 1980 में हुआ । उसमें कांग्रेस पार्टी ने पूर्ण बहुमत पाया और इन्दिरा गॉधी ने प्रधानमंत्री पद की शपथ ली ।

मार्च 1977 की स्थिति आ गयी । केन्द्र में कांग्रेस की सरकार थी पर उत्तरी राज्यों में जनता पार्टी की । केन्द्र सरकार व राज्य सरकार में आपसी सामन्जस्य नही हो रहा था, प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने 9 राज्यों उत्तर प्रदेश, बिहार, उड़ीसा, राजस्थान, हिमांचल प्रदेश, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाब में 17 फरवरी 1980 को राष्ट्रपति शासन लागू किया । विधानसभा भंग कर दी गयी व सरकारें हटा दी गयी । विधानसभाओं का निर्वाचन सन् 1980 में हुआ जिसमें कांग्रेस पार्टी ने पूर्ण बहुमत प्राप्त किया और सरकारे बनायी ।

प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी ने अपने पसन्द के मुख्यमंत्री उत्तर प्रदेश, राजस्थान, उड़ीसा, महाराष्ट्र आदि में नामांकित किये । उन्हे वहॉ कि विधानसभाओं की कांग्रेस पार्टी ने अपना नेता चुना और उन्होने मुख्यमंत्री पद की शपथ ली तथा मंत्रिमण्डल बनाये । इस प्रकार विधानसभा की कांग्रेस पार्टी को अपने विवेक के अनुसार नेता निर्वाचित करने

के अधिकार से वंचित किया गया । जो कार्य भारतीय संविधान के प्रावधानों के विपरीत था । तथा संघीय ढॉचे के भी विपरीत था । प्रधानमंत्री इन्दिरा गॉधी के शासन काल में यही कार्य होता रहा और वे अपनी इच्छानुसार कांग्रेस शासन वाले राज्यो में मुख्यमंत्री बदलती रही ।यही हाल प्रधानमंत्री श्री राजीव गॉधी के शासन काल में भी रहा ।

लोकसभा निर्वाचन 1988 में कांग्रेस की पराजय हुई । राष्ट्रीय मोर्चा को पूर्ण बहुमत मिल गया । उसका समर्थन सरकार में न रहते हुये बी० जे० पी० ने किया । राष्ट्रीय मोर्चा के नेता श्री विश्वनाथ प्रताप सिंह प्रधानमंत्री बने । उनको राज्य सरकारों से बोलने का साहस नही था । उन्होने राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमण से कहा कि सभी राज्यों के राज्यपालों से त्यागपत्र मांगे । श्री वेंकटरमण ने ऐसा ही किया और सभी राज्यपालों ने अपने-अपने पदों से त्यागपत्र दे दिया । जिन्हे राष्ट्रपति ने स्वीकार किया । और नये राज्यपालों की नियुक्ति प्रधानमंत्री की राय पर राष्ट्रपति ने की । यह एक गम्भीर बात थी । इसने भारत के संघात्मक रूप को गम्भीर चुनौती दी और यह सिद्ध किया कि भारत में एकात्मक शासन है । यहॉ पर इतना बताना उचित होगा कि भूतपूर्व प्रधानमंत्री वी० पी० सिंह कुछ समय पूर्व मुम्बई गये थे और वहॉ राज भवन में रूके थे । वहॉ के राज्यपाल श्री पी सी० अलेक्जेण्डर को उन्होने वेंकटरमण का वह पत्र दिखाया जिस में उन्होने अलेक्जेण्डर को जो उस समय तमिलनाडु के राज्यपाल थे लिखा था अपना त्यागपत्र तुरन्त प्रस्तुत करें । उस पत्र को देखकर वी० पी० सिंह ने खेद प्रकट किया और यह कहा कि त्यागपत्र मांगना उनकी भूल थी । एक सवाल यह और पैदा होता है कि यदि कोई राज्यपाल त्यागपत्र दे देता है तो क्या होता । साधारण उत्तर यह होगा कि प्रधानमंत्री की सलाह पर राष्ट्रपति उसे भारतीय संविधान के अनुच्छेद 156(1) के अनुसार बर्खास्त कर देता ।

दूसरा सवाल यह पैदा होता है कि यदि राष्ट्रपति उसे बर्खास्त न करता तो क्या होता ।

एक बात और है कि क्या राष्ट्रपति को राज्यपाल को पत्र लिखकर उनसे त्यागपत्र मांगना था । साधारण उत्तर तो यह है कि राष्ट्रपति को नही मांगना था । उनके त्यागपत्र मांगने से यह सिद्ध हो गया कि यहॉ पर एकात्मक शासन है या यह कहिये कि संघात्मक ढॉचे को प्रधानमंत्री एकात्मक बना रहे हैं ।

प्रधानमंत्री वी० पी० सिंह की सरकार उचितरूप से कार्य नही कर सकी । उन्होने देवी लाल का मंत्रीपद से त्यागपत्र स्वीकार न किया और उनके कुछ समय बाद बर्खास्त किया, जो उचित नही था । यह हर जगह देखा गया है कि प्रधानमंत्री अपनी इच्छा अनुसार मंत्री से त्यागपत्र प्राप्त करता है । और उसे स्वीकार करने हेतु राष्ट्रपति को भेजता है । यह अत्यन्त खेद का विषय है कि प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने देवीलाल से त्यागपत्र नही मांगा और उनकी बर्खास्तगी की सिफारिश राष्ट्रपति से की इससे यह साफ-साफ विदित है कि उन्हे भारतीय संविधान का या परम्पराओं का तनिक भी ज्ञान नही था राष्ट्रपति वेंकटरमण द्वारा देवी लाल का उपप्रधानमंत्री तथा मंत्री पद से बर्खास्त करना भी यह सिद्ध करता है कि उन्हे भी भारतीय संविधान या परम्पराओं का ज्ञान नही था । यह उनका कर्तव्य था कि वे देवीलाल से कहते कि वे त्यागपत्र दे दें ।क्योंकि प्रधानमंत्री ने उनको बर्खास्त करने को कहा है । यदि वे त्यागपत्र न देते तो अन्य कार्यवाही करते ।

प्रधानमंत्री वी०पी० सिंह अपने सहयोगियों से भी उचित बरताव न रख सके । विवश होकर बी० जे० पी० ने अक्टूबर 23, 1989 को उनके सरकार का समर्थन छोड़ दिया और यह सवाल पैदा हुआ कि उनकी सरकार अल्पमत में आ गयी है तुरन्त त्यागपत्र दे । वे राष्ट्रपति से मिले और लोकसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने के वास्ते लोकसभा की बैठक 9 नवम्बर 1989 को बुलाने का अनुरोध किया जिसे राष्ट्रपति ने विचार किया । लोकसभा में उनकी सरकार को बहुमत न मिल सका और उन्होने त्यागपत्र 8-11-89 को दे दिया उसे राष्ट्रपति ने स्वीकार किया और अन्य व्यवस्था होने तक उनसे कार्य करने को कहा ।

लोकसभा की 9-11-89 की बैठक के पूर्व देवीलाल, चन्द्रशेखर आदि ने समाजवादी जनता दल बनाया था उसके अध्यक्ष चन्द्रशेखर हुये थे और देवी लाल कार्यवाहक अध्यक्ष हुये । वी० पी० सिंह के त्यागपत्र देने के बाद चन्द्रशेखर ने अपनी सरकार कांग्रेस पार्टी के समर्थन से 10-11-89 को बनाई तथा सदन में अपना बहुमत सिद्ध कर दिया । कांग्रेस पार्टी उन पर अपना दबाव बनाये रखा । कांग्रेस पार्टी के दबाव मे उन्होने तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन 30 जनवरी 1990 को लगाया । विधानसभा भंग की और मंत्रिमण्डल को बर्खास्त किया । उनकी सरकार चल न सकी । कांग्रेस पार्टी ने लोकसभा

की बैठक में उनसे सहयोग नही किया और उन्होने अपना तथा उपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र राष्ट्रपति को 6-3-90 को दिया तथा लोकसभा भंग करके निर्वाचन कराने का अनुरोध किया । राष्ट्रपति श्री वेंकटरमण ने उनका त्यागपत्र स्वीकार किया परन्तु उनसे अन्य व्यवस्था होने तक कार्य करने को कहा राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमण ने अन्य पार्टी के नेतागण व संविधान विशेषज्ञों से सलाह ली और लोकसभा को भंग किया व मार्च 1990 में निर्वाचन कराने की घोषणा की ।

अध्याय - 5

श्री नरसिंहाराव के कार्यकाल में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध

श्री पी० वी० नरसिंहाराव का जन्म 28 जून 1921 में आन्ध्र प्रदेश के करीमनगर के बंगरा गांव में हुआ था । उनके पिता का नाम श्री पी० रंगा राव था ।

उन्होने अपनी शिक्षा दीक्षा फर्गुसन कालेज पूना और नागपुर विश्वविद्यालय महाराष्ट्र में पूरी की थी । वे राजनीति में आने के पूर्व एक किसान, वकील, स्वतन्त्रता सेनानी और लेखक थे ।

उन्होने 1951 में अपने राजनीतिक जीवन में प्रवेश किया और 1951 में वे आल इण्डिया कांग्रेस कमेटी (A.I.C.C.) के सदस्य बने । वे 1957 से 1977 तक आन्ध्रप्रदेश विधानसभा के सदस्य रहे । 1958 से 1960 के बीच वे लोकलेखा समिति आन्ध्रप्रदेश विधानसभा के सदस्य रहे । इसके बाद 1958 से 1961 में वे आन्ध्रप्रदेश विधानसभा में भाषायी समिति के अध्यक्ष बने और वे 1962 से 1964 तक आन्धप्रदेश में सूचना और प्रसारण मंत्रालय में मंत्री बने तथा 1964 से 1967 में उन्होने आन्ध्रप्रदेश में स्वास्थ्य और औषधि मंत्रालय संभाला और 1968 से 1971 तक वे आन्ध्रप्रदेश के शिक्षा मंत्री रहे । इस प्रकार अपने राजनीतिक जीवन की यात्रा करते हुये उन्होने सन् 1971-73 में आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री पद को संभाला । इसी के बाद उन्होने राज्य की राजनीति से संघ की राजनीति में प्रवेश किया तथा 1977 में छठी लोकसभा के चुनाव में विजयी हुये । 1978 में लोक लेखा समिति के अध्यक्ष बने । 1980 में सातवीं लोकसभा चुनाव में वे पुनः निर्वाचित हुये और जनवरी 1980 में केन्द्रीय मंत्री बने तथा 1984 तक रहे । 1984 में आठवीं लोकसभा के चुनाव में वे तीसरी बार विजयी हुये । वे इसबार विदेश मंत्री व योजना आयोग के उपाध्यक्ष भी बने तथा 1985 में वे रक्षा मंत्री बने सितम्बर 1985 में मानवीय संसाधन विकास मंत्रालय का कार्यभार संभाला और वे जून 1988 तक इस पद पर रहे तथा जुलाई 1988 में वे केन्द्र में स्वास्थ्य और परिवार कल्याण मंत्री बने । 1989 में वे नवीं लोकसभा के चुनाव में चौथी बार विजयी हुये । 1990 में वे विचार विमर्श समिति के सदस्य बने और 29 मई 1991 को वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस आई के अध्यक्ष बने ।

जून 1991 को उन्होने प्रधानमंत्री पद को सुशोभित किया तथा उन्होने पूरे पाँच वर्ष तक प्रधानमंत्री के रूप में कार्य किया । इस पद पर कार्य करते हुये उनके पास विभिन्न विभाग भी थे । विज्ञान और तकनीकी विभाग, सामुद्रिक विकास विभाग, बिजली

विभाग, परमाणु ऊर्जा, अन्तरिक्ष, रसायनिक और खाद्य विभाग, ग्रामीण विकास, नागरिक आपूर्ति, लोकविभाजन, पेंशन और अन्य मंत्रालय की अन्य जिम्मेदारियों को निभाया तथा बहुत से ऐसे विषय किसी भी केन्द्रीय मंत्री व राज्यमंत्री को नही दिया तथा उसकी जिम्मेदारी अकेले ही उठायी । भारत में निर्वाचन का पहला चरण 21 मई 1990 को हुआ उसी दिन राजीव गाँधी की हत्या तमिलनाडु में की गई इसलिये मुख्य निर्वाचन अधिकारी टी० एन० शेषन ने निर्वाचन के शेष चरणों को स्थगित कर दिया । निर्वाचन के परिणामस्वरूप कांग्रेस पार्टी सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी । श्री नरसिंहाराव प्रधानमंत्री बने । प्रधानमंत्री श्री राव का पूर्ण बहुमत न होने के कारण तमिलनाडु की मुख्यमंत्री सुश्री जयललिता का समर्थन लिया और अपना बहुमत लोकसभा में सिद्ध कर दिया इस प्रकार कांग्रेस पार्टी की केन्द्र सरकार व तमिलनाडु की राज्य सरकार में सामन्जस्य रहा ।

चार राज्य राजस्थान, उत्तरप्रदेश, मध्यप्रदेश और हिमांचल प्रदेश में बी० जे० पी० की सरकारें थी । उनके सहयोग के कारण प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव अपनी पार्टी के विरोधी गुट पर कन्ट्रोल करते रहे और अर्जुन सिंह, माधवराव सिंधिया व अन्य को खामोश रख सके । जिस प्रकार 1968 में डी० एम० के० पार्टी के समर्थन से प्रधानमंत्री इन्दिरा गाँधी अपने को सत्ता में बनाये रखी । उस प्रकार प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव भी अपने को सत्ता में अन्य पार्टियों के समर्थन से बनाये रहे ।

1960 के दशक के आरम्भिक दिनो से ही भारत में साम्प्रदायिक लोग अपनी राजनीति में तीव्रता लाने और धार्मिक मुद्दों पर भावात्मक आवेग बढ़ाने का रास्ता अपनाने लगे थे । हिन्दु सम्प्रदायवादियों ने हिन्दुओं और हिन्दुओं की संस्कृति को खतरा होने पर शोर मचाया परन्तु वे भावात्मक रूप से हिन्दुओं को भड़कानें में लगे रहे । 1947 से पूर्व की मुस्लिम लीग की राजनीति से प्रेरणा लेते हुये 1970 के दशक के अन्तिम दिनों में वे एक धार्मिक मुद्दे की खोज में लगे; जिसके इर्द-गिर्द राजनीति को विकसित किया जा सके । उन्हे यह मौका 1980 के दशक के आरम्भ में बाबरी मस्जिद रामजन्म भूमि मुद्दे के रूप में प्राप्त हो गया । यह मुद्दा हिन्दुओं को भड़का सकता था । आरम्भिक सोलहवीं शताब्दी में बाबर के एक गवर्नर द्वारा अयोध्या (उत्तर प्रदेश) में एक मस्जिद बनवाई गई थी । उन्नीसवीं शताब्दी में कुछ हिन्दुओं ने यह दावा किया कि इसे एक ऐसे स्थान पर बनाया गया था जहाँ राम की जन्म भूमि थी और वहॉ पहले एक राम मन्दिर मौजूद था

। परन्तु यह मुद्दा दिसम्बर, 1949 तक कोई गम्भीर मोड़ नही ले पाया था जब एक जिला मजिस्ट्रेट ने कुछ हिन्दुओं को मस्जिद में घुसने तथा वहॉ मूर्ति स्थापित करने की इजाजत दे दी । गृह मंत्री के रूप में सरदार पटेल और श्री जवाहर लाल नेहरू ने जिला मजिस्ट्रेट के कार्य की भर्त्सना की । मस्जिद में ताला लगा दिया गया और इसका अस्थायी समाधान के रूप में अदालत में विवाद रहने तक स्वीकार कर लिया । इसका नतीजा यह हुआ कि 1983 तक तो शान्ति बनी रही परन्तु फरवरी 1986 को जिला न्यायाधीश ने मस्जिद खुलवा दी और पूजा करने की इजाजद दे दी इसका नतीजा यह हुआ कि धार्मिक और सम्प्रदायिक उन्माद भड़क उठा और पूरे देश में दंगे होने लगे । अब धर्म निरपेक्ष और राष्ट्रीयतावादी चिंतन के लोग, पार्टियॉ और समूह अचानक इस विशाल समस्या के प्रति नींद से जागे । शीघ्र ही आने वाले लोकसभा चुनावों को ध्यान में रखते हुये एक विशाल आन्दोलन संगठित किया गया । 1991 में नई लोकसभा के लिये चुनाव हुये । बी० जे० पी० संसद सदस्यों के साथ कांग्रेस के मुख्य विपक्षी दल के रूप में उभरा इसने चार राज्यों-उत्तर प्रदेश, मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमांचल प्रदेश में भी सरकार बनायी । अपने राजनीतिक लाभ को ठोस बनाने और बढ़ाने के लिये बी० जे० पी०, बी० एच० पी० ने दो लाख से अधिक स्वयंसेवकों की एक विशाल रैली मस्जिद के स्थान पर 6 दिसम्बर 1992 को संगठित की जिसमें देाेना संगठनों के सभी महत्वपूर्ण नेता मौजूद थे । मुख्यमंत्री कल्याण सिंह ने आश्वासन दिया की मस्जिद की सुरक्षा की जायेगी इस आश्वासन के बावजूद स्वयंसेवकों ने हथौड़े की चोट से मस्जिद तोड़ डाला । केन्द्र सरकार भी उस समय पंगु पड़ी रही । समूचा देश इस घटना से स्तब्ध रह गया जिसके अन्य भयंकर परिणाम भी हुये ।

बाबरी मस्ज़िद के 6 दिसम्बर 1992 के ढहाने के बाद प्रधानमंत्री नरसिंहाराव ने उत्तरप्रदेश की बी० जे० पी० की सरकार को राष्ट्रपति शासन लगा कर उसी दिन बर्खास्त किया और 19 दिसम्बर 1992 को राजस्थान मध्यप्रदेश और हिमांचल प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लगा कर सरकारो को बर्खास्त किया इस प्रकार लोकसभा में विरोधी दल से सहयोग करने लगे । समस्त विरोधी दल ने एकमत होकर प्रधानमंत्री श्री नरसिंहा राव की सरकार के विरूद्ध अविश्वास का प्रस्ताव जुलाई 1993 में रखा । अविश्वास का प्रस्ताव गिर गया । श्री नरसिंहाराव का कार्यकाल पूरा होने पर आया व निर्वाचन मई 1996 में

होने की घोषणा हुई । उन्होने तमिलनाडु के मुख्यमंत्री जय ललिता तथा ए० आई० ए० डी० एम० के० के समर्थन से निर्वाचन में भाग लेना तय किया । तमिलनाडु की कांग्रेस में विभाजन हुआ और डी० के मूपनार ने तमिलमनीला कांग्रेस बनाई । जिसने डी० एम० के० के साथ मिलकर चुनाव लड़ा और उसमें विजय पायी । डी० एम० के० के अध्यक्ष एम० करूणानिधि ने मुख्यमंत्री के रूप में तमिलनाडु में सरकार बनायी । कांग्रेस पार्टी तथा उसके गठबन्धन को लोकसभा में पूर्ण बहुमत नही मिला भाजपा व उसके गठबन्धन को पूर्ण बहुमत नही मिला पर वह सबसे बड़े गठबन्धन के रूप में उभरी । प्रधानमंत्री नरसिंहाराव ने अपना और अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र राष्ट्रपति डा० शंकर दयाल शर्मा को 13 मई 1996 को दिया उन्होने उसे स्वीकार कर लिया और अन्य व्यवस्था होने तक उनसे कार्य करने को कहा तथा भा० ज० पा० गठबन्धन के नेता अटल बिहारी बाजपेई को इस आधार पर सरकार बनाने का निमंन्त्रण दिया कि वह सबसे बड़े गठबन्धन के नेता थे तथा उनसे अपना बहुमत एक पखवाड़े में सिद्ध करने को कहा ।

बिहार राज्य की स्थिति के बारे में विवाद- बिहार विधान सभा का कार्यकाल अनुच्छेद 172 (1) के अन्तर्गत दिनॉक 15 मार्च 1995 को समाप्त होना था यह आवश्यक था कि उसके पहले उस विधान सभा का निर्वाचन कराया जाये और उक्त तिथि के पहले विधान सभा का संयोजन निर्वाचन आयोग द्वारा किया जाये । निर्वाचन आयोग द्वारा निर्वाचन की प्रक्रिया की जा रही थी परन्तु कुछ प्रशासनिक तथा अन्य परेशानियों के द्वारा चुनाव सम्पन्न नही हो सका और यह सवाल पैदा हुआ कि उक्त तिथि के बाद मुख्यमंत्री तथा मंत्रिमण्डल कैसे कार्य करेगा ।

श्री ए० आर० किदवई राज्यपाल ने मुख्यमंत्री श्री लालू प्रसाद यादव को जब वे मिलने उक्त तिथि को गये तो उन्हे निर्देश दिया कि वह अपने मंत्रिमण्डल के सदस्यों के साथ कार्य करते रहें । श्री यादव अपने मंत्रिमंण्डल के साथ कार्य करते रहे आकस्मिक 28 मार्च 1995 को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की एक बैठक श्री पी०वी० नरसिंहाराव प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में हुई और उसने राज्य में राष्ट्रपति शासन अनुच्छेद 356 (1) के अन्तर्गत लगाने का निर्णय किया जिसके सम्बन्ध में एक प्रस्ताव डॉ० शंकर दयाल शर्मा राष्ट्रपति को भेजा गया । राष्ट्रपति ने उसी रात उस पर हस्ताक्षर किये और राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा कर दी गयी और राज्यपाल के सलाहकारों की नियुक्ती कर दी गयी इस प्रकार

वहॉं पर प्रजातन्त्र का अन्त हो गया और नौकरशाही का शासन स्थापित कर दिया गया । बिहार राज्य के उक्त घटनाक्रमों के सम्बन्ध में यह सोचना पड़ता है कि वहॉं पर क्यों राष्ट्रपति शासन लागू किया गया जो कि केवल संवैधानिक तन्त्र के विफल हो जाने की दशा में ही लागू किया जाता है ।

राज्य में चुनाव प्रक्रिया जारी थी 28-05-1995 को अन्तिम तिथि के चुनाव समाप्त हो गये थे केवल मतगणना का काम रह गया था जिससे साफ-साफ विदित है कि वहॉं पर संवैधानिक तन्त्र विफल नही हुआ था और सरकार के सभी अंग, सचिवालय, पुलिस आदि अपना-अपना कार्य भली भॉंति कर रहे थे ।

जबकि श्री ए० आर० किदवई राज्यपाल ने मुख्यमंत्री श्री लालू प्रसाद यादव को अपने मंत्रिमण्डल के सहयोगियों के साथ कार्य करने का निर्देश दे रखा था और वे कार्य कर रहे थे । इससे यह स्पष्ट है कि राज्यपाल इस बात से सहमत थे कि श्री यादव अपने मंत्रिमण्डल के सहयोगियों के साथ वैधानिक रूप से कार्य कर रहे है । यह भी माना जाता है कि राज्यपाल हमेशा केन्द्रीय गृहमंत्रालय की सहमति से ही कार्य करता है । श्री किदवई ने गृहमंत्रालय से अवश्य विचारविमर्श किया होगा ।

श्री पी० वी० नरसिंहाराव प्रधानमंत्री तथा उनके मंत्रिमण्डल के सदस्य भी इस बात से सहमत रहे होंगे कि श्री किदवई राज्यपाल ने श्री यादव मुख्यमंत्री को सही निर्देश दिया और श्री यादव अपने सहयोगियों के साथ वैधानिक रूप से कार्य कर रहे हैं, यदि वे सहमत न होते तो श्री यादव को अपने मंत्रिमण्डल के साथ 16 मार्च 1995 तक कार्य न करने दिये होते और राष्ट्रपति का शासन अनुच्छेद 356 (1) के अन्तर्गत 16 मार्च 1995 को ही लागू कर दिये होते जो कि उन्होने 28 मार्च 1995 को लागू किया ।

यह महत्वपूर्ण सवाल उठता है कि यदि विधान सभा का कार्यकाल अनुच्छेद 172(1) के अन्तर्गत समाप्त हो जाये और राज्य में चुनाव प्रक्रिया पूरी न हो तो प्रजातांत्रिक व्यवस्था कायम कैसे रखी जाये क्योंकि राष्ट्रपति का शासन अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत लागू करना इन परिस्थितियों में सरासर गलत है ।

इस सवाल का उतर ढूंढने के लिये भारतीय संविधान के अन्य प्राविधानों का अध्ययन करना होगा ।

अनुच्छेद 53(1) के अन्तर्गत संघ की कार्यपालिका शक्ति राष्ट्रपति में निहित होती है और वह इसका प्रयोग इस संविधान के अनुसार स्वयं या अपने अधिनस्थ अधिकारियों के द्वारा करता है ।

अनुच्छेद 55 में राष्ट्रपति के चुनाव की प्रक्रिया दर्शायी गयी है ।

अनुच्छेद 56 राष्ट्रपति के कार्यकाल के सम्बन्ध में है-

1. राष्ट्रपति अपने पद ग्रहण की तारीख से 5 वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा: परन्तु-
   (क) राष्ट्रपति उपराष्ट्रपति को अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा ।
   (ख) संविधान के अतिक्रमण करने पर राष्ट्रपति को अनुच्छेद 61 में उपबन्धित रीति से चलाये गये महाभियोग द्वारा पद से हटाया जा सकेगा ।
   (ग) राष्ट्रपति, अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण नही कर लेता है ।
2. खण्ड (1) के परन्तुक खण्ड 'क' के अधीन उपराष्ट्रपति को सम्बोधित त्याग पत्र की सूचना उसके द्वारा लोकसभा के अध्यक्ष को तुरन्त दी जायेगी ।

इस प्रकार अनुच्छेद 56 (1) ग के अन्तर्गत राष्ट्रपति का यह संवैधानिक दायित्व है कि वह अपने कार्यकाल की समाप्ति के बाद भी तब तक कार्य करता रहे जब तक की उसका उत्तराधिकारी उसका पद ग्रहण न कर ले ।

अनुच्छेद 67 उपराष्ट्रपति के कार्यकाल के सम्बन्ध में है -

1. उपराष्ट्रपति अपना पद ग्रहण की तारीख 5 वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा: परन्तु-
   (क) उपराष्ट्रपति, राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा ।
   (ख) उपराष्ट्रपति राज्यसभा के ऐसे संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा जिसे राज्यसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत ने पारित किया है

और जिससे लोकसभा सहमत है किन्तु इस खण्ड के प्रयोजन के लिये कोई संकल्प तब तक प्रस्तावित नही किया जायेगा जब तक कि उस संकल्प को प्रस्तावित करने के आशय की कम से कम 14 दिन की सूचना न दी गयी हो ।

(ग) उपराष्ट्रपति अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक अपना पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण नही कर लेता है।

इस प्रकार अनुच्छेद 67 (ग) के अन्तर्गत उपराष्ट्रपति का यह संवैधानिक दायित्व है कि वह अपने कार्यकाल की समाप्ति के बाद तब तक कार्य करता रहे जब तक उसका उत्तराधिकारी पद ग्रहण न कर ले ।

अनुच्छेद 154 राज्य की कार्यपालिका शक्ति राज्यपाल में नीहित होगी और वह इसका प्रयोग संविधान के अनुसार या अपने अधीनस्थ अधिकारियों द्वारा करेगा । अनुच्छेद 156 राज्यपाल के कार्यकाल से सम्बन्धित है-

1. राज्यपाल राष्ट्रपति के प्रसादापर्यन्त पद धारण करेगा ।
2. राज्यपाल राष्ट्रपति को सम्बोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा ।
3. इस अनुच्छेद के पूर्वगामी उपबन्धों के अधीन रहते हुये राज्यपाल अपने पद ग्रहण की तारीख से 5 वर्ष की अवधि तक पद धारण करेगा ।

परन्तु राज्यपाल अपने पद की अवधि समाप्त हो जाने पर भी तब तक पद धारण करता रहेगा जब तक उसका उत्तराधिकारी अपना पद ग्रहण नही कर लेता है ।

इस प्रकार अनुच्छेद 154(3) के अन्तर्गत राज्यपाल का यह संवैधानिक दायित्व है कि वह अपने कार्यकाल की समाप्ति के बाद तक कार्य करता रहे जब तक उसका उतराधिकारी अपना पद ग्रहण न कर ले ।

उपरोक्त विवेचना से यह विदित है कि राष्ट्रपति अनुच्छेद 56 (1), (3), उप राष्ट्रपति अनुच्छेद 67 (3) राज्यपाल अनुच्छेद 156 (3) के प्राविधानों के अनुसार अपने 5 वर्ष का कार्यकाल पूरा करते है और ये उनका दायित्व है कि वे तब तक कार्य करते रहें जब तक कि उनका उत्तराधिकारी उनसे पद न ग्रहण कर ले ।

जब राष्ट्रपति जिसमें केन्द्र की कार्यपालिका शक्ति विदित है तथा राज्यपाल जिसमें राज्य की कार्यपालिका शक्ति विदित है अपना 5 वर्ष का कार्यकाल पूरा करने के बाद कार्य कर सकते है तो मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के साथ भी विधानसभा का कार्यकाल पूरा होने पर अपना कार्य कर सकते है। जब तक कि उनका उत्तराधिकारी उनके स्थान पर उनसे पद भार ग्रहण न कर ले यदि वे राज्यपाल के प्रसाद पर्यन्त रहें । विधानसभा के कार्यकाल की समाप्ति के बाद वे अपना कार्य कर सकते है जब तक कि चुनाव प्रक्रिया पूरी न हो जाये और विधानसभा में बहुमत दल अपना नेता न चुन ले और वह अपना मुख्यमंत्री का पद न ग्रहण कर ले ।

यह निष्कर्ष अनुच्छेद 56 (1), (3) ,67 (3) ,156 (1), (3) के गहन अध्ययन से निकाला गया है कुछ लोग यह कह सकते हैं कि यह निष्कर्ष निकालना उचित नही है । भारत एक प्रजातांन्त्रिक देश है हर राज्य में प्रजातांत्रिक सरकार है जिसे कार्य करना चाहिए इस निष्कर्ष से मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के साथ कार्य करता रहेगा और प्रजातंन्त्र स्थापित रहेगा ।

राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है और वह राष्ट्रपति के प्रसाद पर्यन्त पद धारण करता है । इसी प्रकार मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है और राज्यपाल के प्रसादर्यन्त पद धारण करता है ।

राष्ट्रपति के अनुसार राज्यपाल, राष्ट्रपति के प्रसादीय पद धारण करता है राष्ट्रपति की तरह अपने कार्यकाल पूरा करने के बाद भी कार्य करता रहता है जब तक उसका उत्तराधिकारी पदभार ग्रहण नही करता है मुख्यमंत्री की नियुक्ति राज्यपाल अनु० 164 (1) के अन्तर्गत करता है और वह उसके प्रसादापर्यन्त पद धारण करता है । इस प्रकार यह उचित तथा संवैधानिक होगा कि मुख्यमंत्री राज्यपाल की तरह अपना कार्यकाल पूरा करने के बाद भी कार्य करता रहे जब तक कि उसका उत्तराधिकारी अपना पद भार ग्रहण न करे ।

कुछ लोग यह कहेंगे कि भारत का संविधान एक विस्तृत संविधान है यह व्यवस्था मुख्यमंत्री के लिये जानबूझ कर नही की गई है । यदि नही की गई तो उसको किया जाना है जिसका की हल उपरोक्त विवेचना के आधार पर निकाला गया है ।

28 मार्च सन् 1995 को राष्ट्रपति शासन लागू करने के बाद विहार के लेखानुदान को संसद द्वारा 30 मार्च को पास कर दिया गया । वैसे तो पूरा कार्य श्री यादव मुख्यमंत्री के रूप में अपने मंत्रिमण्डलीय सहयोगियों के साथ 16 मार्च सन् 1995 से 28 मार्च 1995 तक करते रहे परन्तु केन्द्र सरकार विहार के राज्यपाल द्वारा यह कहा गया था कि विधानसभा न होने के कारण राष्ट्रपति शासन लागू करना पड़ा और लेखानुदान 30-03-1995 को पास किया गया ।

बिहार में विधानसभा के निर्वाचन की अन्तिमतिथि 28-03-1995 के बाद मतगणना की कार्यवाही की गयी और उसका परिणाम घोषित किया गया जिसमें श्री लालू प्रसाद यादव के जनता दल को पूर्ण बहुमत मिल गया श्री यादव जनता दल संसदीय दल के विधान सभा में नेता चुने गये और राज्यपाल को इस बात की सूचना 03-04-1995 को दी गयी । राज्यपाल, श्री किदवई ने राष्ट्रपति को अपनी रिपोर्ट भेजी की राष्ट्रपति शासन की अनुच्छेद 356(1) की घोषणा अनुच्छेद 356(2) के अन्तर्गत वापस ली जाये । केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की बैठक प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहाराव की अध्यक्षता में 4-5-1995 को बैठक हुई और उसने उक्त प्रस्ताव का अनुमोदन किया और राष्ट्रपति के पास प्रस्ताव अनुच्छेद 356(2) के अन्तर्गत भेजा ।

राष्ट्रपति ने इस पर अपने हस्ताक्षर किये और राष्ट्रपति शासन की पूर्व घोषणा अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत जो 28 मार्च 1995 को की गयी थी, निरस्त हो गई राज्यपाल श्री किदवई ने 4 अप्रैल 1995 को शाम को श्री लालू प्रसाद यादव को मुख्यमंत्री पद तथा कुछ अन्य सदस्यों को मंत्री पद की शपथ दिलवाई ।

इस प्रकार राष्ट्रपति शासन केवल 29-03-1995 से 4-4-1995 केवल 7 दिन लागू रहा और अनावश्यक रूप से राष्ट्रपति शासन का क्रमांक एक और बढ़ा ।

यह भी सोचना होगा कि यदि श्री लालू प्रसाद यादव मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के साथ यदि 16-03-1995 से 28-3-1995 तक नियमित रूप से कार्य कर सकते थे तो वे 29-03-1995 से 4-4-1995 तक क्यों नही कार्य कर सके ।

बिहार राज्य में इस प्रकार से राष्ट्रपति शासन का लागू करना भारत में चुनाव प्रक्रिया पूरी न होने की दशा में पहला अवसर था । इतना और बता देना उचित होगा कि श्री लालू प्रसाद यादव मुख्यमंत्री ने राज्यपाल श्री ए० आर० किदवई के पास

एक मसौदा 16-03-1995 के बाद भेजा कि वे कुछ महीनों के खर्च के लिये भविष्य निधि से धन की व्यवस्था अध्यादेश जारी करके करें, परन्तु राज्यपाल ने अध्यादेश जारी नही किया और केन्द्रीय विधिमंत्रालय को अपनी आख्या निर्देश के लिये भेजी । जिसमे राज्यपाल को अध्यादेश न जारी करने को कहा इसके बाद ही राज्यपाल ने अपनी आख्या अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत भेजी जहाँ पर प्रक्रियाये पूरा करने के बाद राष्ट्रपति का शासन 28-03-1995 को लागू किया गया ।

श्री लालू प्रसाद यादव तथा अन्य नेताओं ने इस प्रकार से इन परिस्थितियों में राष्ट्रपति शासन लागू करने का कड़े शब्दों में विरोध किया । भारत में लोकसभा इन्दिरा गाँधी की सन्तुति पर 27 दिसम्बर 1970 को राष्ट्रपति वी० वी० गिरि द्वारा बिना कार्यकाल पूरा किये हुये भंग कर दी गयी थी और श्रीमती इन्दिरा गाँधी प्रधानमंत्री के रूप में अपने मंत्रिमण्डलीय सहयोगियों के साथ कार्य करती रहीं इसके विरूद्ध 1971 को उच्चतम् न्यायालय में अपील प्रस्तुत की गई यू० एन० आर० राव ने मद्रास उच्च न्यायालय में रिट नं०- 63/1971 प्रस्तुत किया जो निरस्त कर दी गयी । इस आदेश के विरूद्ध अपील संख्या 196, 1971 उच्चतम न्यायालय में - *यू० एन० आर० राव बनाम इन्दिरा गाँधी* प्रस्तुत हुई । उसकी सुनवाई एक संवैधानिक पीठ ने किया । जिसकी अध्यक्षता प्रधान न्यायाधीश एस० एम० सीकरी कर रहे थे और उनमे न्यायमूर्ति गण जी० के० मिटर, के० एस० हेंगड़े, ए० एन० ग्रोवर, और पी० जगन्नाथ रेड्डी थे । इस पीठ ने 17-03-1971 को अपने आदेश द्वारा यू० एन० राव की अपील निरस्त किया और श्रीमती इन्दिरा गाँधी के अपने प्रधानमंत्री के रूप में सहयोगियों के साथ कार्य करने को वैध घोषित किया ।

इसी प्रकार मद्रास विधानसभा श्री एम० करूणानिधि मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्यपाल द्वारा भंग कर दी गई थी जिसके विरूद्ध के० एन० राजगोपाल ने रिट याचिका मद्रास उच्च न्यायालय में दाखिल की जिसे उच्च न्यायालय ने खारिज कर दिया था जिसके विरूद्ध उच्चतम न्यायालय में अपील संख्या 186/1971 *थीरू के० एन० राजगोपाल बनाम थीरू एम० करूणानिधि* प्रस्तुत की गई थी। जिसकी अध्यक्षता संवैधानिक पीठ में प्रधान न्यायाधीश सीकरी कर रहे थे । जी० के० मिटर, के० एस० हेगड़े, ए० एन० ग्रोवर, पी० जगतमोहन रेड्डी सदस्य थे इस पीठ ने 17-03-1971 को अपने आदेश द्वारा थीरू के०

एन० राजगोपाल की अपील निरस्त किया और थीरू एम० करूणानिधि के मुख्यमंत्री के रूप में अपने सहयोगियों के साथ कार्य करने को वैध घोषित किया ।

इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने अपील संख्या 196/1971 *यू० एन० आर० राव बनाम इन्दिरा गॉधी* में अपने आदेश 17-3-1971 के निर्णय से भारतीय संविधान के अन्दर 85 (2) (B) के अन्तर्गत लोकसभा के अवधि से पूर्व विघटन हो जाने के बाद भी प्रधानमंत्री व मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य के कार्य करने को वैधता प्रदान की है जिससे यह बात साफ हो गयी कि प्रधानमंत्री व मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य को बिना लोकसभा के रहते भी कार्य करने का पूरा अधिकार है । इससे यह भी निर्णय निकलता है कि प्रधानमंत्री तथा मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य लोकसभा का कार्यकाल अनुच्छेद 83 (2) के अन्तर्गत समाप्त होने के बाद भी कार्य करते रहेगे और वह पूर्णतः वैध होगा ।

उच्चतम न्यायालय ने अपील संख्या 186/1971 *थीरू के० एन० राजगोपाल बनाम थीरू एम० करूणानिधि* के आदेश दिनॉक 17-03-1971 के निर्णय से भारतीय संविधान के अनुच्छेद 174 (2) (B) के अन्तर्गत विधान सभा के अवधि पूर्व विघटन हो जाने के बाद भी मुख्यमंत्री व मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य के कार्य करने को वैधता प्रदान की है दूसरी यह बात साफ हो गयी कि मुख्यमंत्री व मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य को विधानसभा के न रहते हुये भी कार्य करने का पूरा अधिकार है इससे यह निर्णय निकलता है कि मुख्यमंत्री व मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य विधानसभा के अवधि 172 (1) के अन्तर्गत समाप्त होने के बाद भी कार्य करते रहेंगे और वह पूर्णतः वैध होगा ।

अनुच्छेद 83(2) में यह साफ तौर पर लिखा हुआ है कि 5 वर्ष की अवधि की समाप्ति का परिणाम लोकसभा का विघटन होगा । अनुच्छेद 172(1) में भी यह लिखा है कि 5 वर्ष के कार्यकाल के अवधि की समाप्ति का परिणाम विधानसभा का विघटन होगा ।

इस प्रकार लोकसभा का विघटन होता है जब वह अपनी अवधि से पूर्व राष्ट्रपति द्वारा विघटित की जाती है या उसकी अवधि समाप्त हो जाती है ठीक इसी प्रकार विधानसभा का विघटन होता है जब वह राज्यपाल द्वारा अवधि से पूर्व विघटित की जाती है या अवधि की समाप्ति के बाद विघटन होता है ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 141 के प्रावधान के अनुसार उच्चतम न्यायालय का निर्णय भारत वर्ष भर में लागू होगा । इस प्रकार उच्चतम् न्यायालय के इन दोनों निर्णय को मानने के लिये राष्ट्रपति राज्यपाल तथा अन्य सभी वाध्य है ।

यह कोई बात नही है कि प्रधानमंत्री अपने मंत्रिमण्डलीय सहयोगियों के साथ तथा मुख्यमंत्री अपने मंत्रिमण्डल के साथ कितना समय कार्य करता है । यह समय कुछ दिन भी हो सकता है अथवा कुछ सप्ताह भी हो सकता है ।

श्री लालू प्रसाद यादव मुख्यमंत्री को अपने सहयोगियों के साथ विधानसभा का कार्यकाल पूरा होने के बाद केवल 20 दिन ही कार्य करना होता जो कि पूर्णतः संवैधानिक होता । अनुच्छेद 356(1) अनावश्यक रूप से वहॉ पर लागू किया गया जो कि केवल 7 दिन तक लागू रहा । मंत्रिमण्डल का होना तथा कार्यरत रहना संसदीय प्रणाली, मंत्रिमण्डलीय प्रणाली व ब्रिटिश शासन पद्धति की एक परम आवश्यकता है जो कि जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों द्वारा ही चलायी जाती है ।

मंत्रिमण्डलीय शासन का होना भारत के संविधान की मौलिक आवश्यकता तथा मूल स्वरूप है ।

राष्ट्रपति तथा राज्यपाल इस बात की शपथ लेते हैं कि अपनी योग्यता से संविधान और विधि का परिरक्षण, संरक्षण और प्रतिरक्षण करेंगे और जनता की सेवा करेंगे उनका यह मूल कर्तव्य है कि हर परिस्थितियों में इसे बनाये रखें । इसके बनाये रखने में यदि लोकसभा, विधानसभा का कार्यकाल समाप्त होने के बाद भी मंत्रिमण्डल को कार्य करना पड़े तो उसे कार्य करने दें । जो निर्वाचित प्रतिनिधि मंत्रिमण्डलों में पूर्ण अवधि तक कार्य कर चुके है । उनका कुछ और समय तक कार्य करना संवैधानिक है ।

श्रीमती इन्दिरा गॉधी प्रधानमंत्री ने अपने मंत्रिमण्डल के साथ लोकसभा के 27-12-1970 के विघटन के बाद तब तक कार्य किया जब उन्होने पुनः प्रधानमंत्री के पद की शपथ महानिर्वाचन के बाद नही ले ली । यही हाल बाद में श्री चरण सिंह, चन्द्रशेखर, इन्द्र कुमार गुजराल, अटल बिहारी बाजपेई का हुआ । इसी रूप में मुख्यमंत्री को भी विधान सभा के विघटित कार्य काल में कार्य करना चाहिए जैसा कि प्रायः हुआ है ।

उच्चतम न्यायालय ने *राम जवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य*[1] के अपने निर्णय में भारतीय संविधान के अन्तर्गत मंत्रिमण्डल शासन को आवश्यक बताया है उसने यह भी लिखा है कि इंग्लैण्ड के तरीके की भारत में कार्यपालिका है जो व्यवस्थापिका के संरक्षण में कार्य करती है । कार्यपालिका की पूरी शक्ति राष्ट्रपति में केन्द्रीत है परन्तु अनुच्छेद 75 के अन्तर्गत प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिमण्डल होता है जिसकी राय से राष्ट्रपति अपना कार्य करता है इस रूप से राष्ट्रपति राष्ट्र का सवैधानिक अध्यक्ष है और सम्पूर्ण प्रशासनिक अधिकार मंत्रियों मे या मंत्रिमण्डल में है । इसी प्रकार राज्यों में व्यवस्था है कि राज्यपाल या राजप्रमुख राज्य के कार्यपालिका का संवैधानिक अध्यक्ष है लेकिन हर राज्यों में एक मंत्रिमण्डल होता है जो कि सम्पूर्ण कार्य करता है । भारत में ब्रिटिश शासन पद्धति के अनुसार ही मंत्रिमण्डल कार्य करता है ।

सवाल यह उठता है कि प्रधानमंत्री तथा मुख्यमंत्री किस तरह काम करें यदि अनुच्छेद 85(1) व 174 (1) के अनुसार समय से निर्वाचन न हो सके ।

इसके उत्तर में यही कहा जा सकता है कि इन परिस्थितियों में प्रधानमंत्री तथा मुख्यमंत्रियों को कार्य करने का पूरा अधिकार है ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 324 में चुनाव आयोग की व्यवस्था की गयी है जो कि अपने कार्य में स्वतंत्र है निर्वाचन कराना, परिणाम घोषित करना तथा लोकसभा व विधानसभा का संयोजन करना इसका कार्य है । पहले इसमें एक मुख्य चुनाव आयुक्त होता था अब दो चुनाव आयुक्त और बना दिये गये हैं इस प्रकार अब तीन सदस्यीय चुनाव आयोग हो गया है यदि चुनाव आयोग अपना चुनाव सम्पन्न कराने का कार्य समय से पूरा नही करता तो उसके लिये वही दोषी है जिसके वास्ते प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री तथा उनके मंत्रिमण्डल दोषी नही ठहराये जा सकते और उनके विरूद्ध कार्यवाही नही की जा सकती ।

मिसाल के रूप में केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने चुनाव आयोग से यह अनुरोध 4-11-1995 को किया कि वह जम्मू और कश्मीर में चुनाव दिसम्बर 1995 में करावें ताकि वहॉ पर राष्ट्रपति शासन की अवधि 6 महीने और न बढ़ाना पड़े और निर्वाचित सरकार

1- ए० आई० आर०; एस० सी० 549 पृष्ठ 556 एस० सी० आर० 225 (1955)

स्थापित की जाये । मुख्य चुनाव आयुक्त टी० एन० शेषन तथा दोनो अन्य चुनाव आयुक्त एम० एस० गिल व जी० वी० जी० कृष्णामूर्ति 8 नवम्बर, 1995 को कश्मीर गये और वहाँ की समस्यायें को देखा इसके बाद उन्होने 10 नवम्बर 1995 को निर्णय दिया कि चुनाव नही होंगे । प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहाराव तथा उनके मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य कुछ भी नही कर सके और चुनाव आयोग के निर्णय को मानना पड़ा । भूतपूर्व प्रधानमंत्री श्री वी० पी० सिंह, चन्द्रशेखर उनके मंत्रिमण्डल के अन्य सदस्य जम्मू और कश्मीर के मुख्यमंत्री फारूख अब्दुल्ला तथा अन्य लोगों ने भी उक्त निर्णय को माना ।[2]

बिहार में विधानसभा की चुनाव गणना आदि 15 मार्च सन् 1995 तक अर्थात विधानसभा का कार्यकाल पूरा होने के पहले पूरा कराने की जिम्मेदारी चुनाव आयोग की थी, ऐसा न करवाने पर उसी को दोषी ठहराया जाना उचित था यदि चुनाव पहले पूर्ण हो गये होते तो चुनाव परिणाम उक्त तिथि से पहले घोषित कर दिये गये होते । और श्री यादव लगातार मुख्यमंत्री के रूप में कार्य किये होते ।

चुनाव आयोग पहले सरकार की एक साधारण संस्था समझा जाता था जो कि प्रायः सरकार के सुझावों के अनुसार कार्य करता था वे एक सदस्यीय आयोग था । मुख्य चुनाव आयुक्त एच० पी० सेन वर्मा, टी० स्वामीनाथन, श्यामलाल शकधर, आर० पी० पेरीशास्त्री, टी० एन० शेषन, और एम० एस० गिल इस संस्था के अधिकार तथा कर्तव्य को प्रकाश में लाये । पहले यह नही सोचा जाता था कि मुख्य चुनाव आयुक्त को न्यायिक अधिकार भी है । सन् 1970 में इन्दिरा कांग्रेस, शासकीय कांग्रेस तथा विरोधी कांग्रेस, कांग्रेस निजलिंग्प्पा के झगड़े में मुख्य आयुक्त एच० पी० सेन वर्मा ने शासकीय कांग्रेस इन्दिरा कांग्रेस को असली कांग्रेस बताया ।जिसके विरूद्ध विरोधी कांग्रेस के अध्यक्ष सैयद सादिक अली ने उच्चतम न्यायालय में अपील दायर की उसकी सुनवायी संवैधानिक पीठ ने प्रारम्भ की जिसकी अध्यक्षता प्रधान न्यायाधीश जे० सी० शाह दिनॉक 16 जनवारी 1971 को कर रहे थे । विरोधी कांग्रेस के अधिवक्ता ने स्थगन आदेश की प्रार्थना किया जिसे देने से न्यायालय ने इन्कार किया । चुनाव आयोग को नोटिस जारी किया और जनवरी 18, 1971 अग्रिम कार्यवाही के लिये निश्चित की । प्रधान न्यायाधीश ने स्थगन आदेश का देना

2- द टाइम्स आफ इण्डिया, न्यू देहली 11-01-1996.

बिना पक्षों को सुने हुये देने से इंकार किया किन्तु अपील को स्वीकार किया और बाद में 18 जनवरी को सुनवाई में न्यायालय ने स्थगन आदेश दे दिया और चुनाव आयोग को यह निर्देश दिया कि दोनों कांग्रेस को अलग-अलग अन्य चुनाव निशान दिये जायें । मुख्य चुनाव आयुक्त ने इन्दिरा कांग्रेस को गाय बछड़ा का चुनाव निशान दिया और विरोधी कांग्रेस को चरखा कातती हुई महिला का निशान दिया ।

इस अपील की सुनवायी एक दूसरी संवैधानिक पीठ ने किया जिसकी अध्यक्षता नये प्रधान न्यायाधीश एस० एम० सीकरी ने की । इस पीठ ने मुख्य चुनाव आयुक्त के फैसले से अपनी सहमति व्यक्त की और अपील को खारीज किया ।

इन्दिरा कांग्रेस ने 1971 का महानिर्वाचन गाय बछड़े के निशान पर जीता था उसने चुनाव आयोग से प्रार्थना किया कि उसका पुराना चुनाव दो बैल की जोड़ी जब्त कर दिया जाये और उसे गाय बछड़े का चुनाव चिन्ह ही दिया जाये । इस प्रकार इन्दिरा कांग्रेस ने मुख्य चुनाव आयुक्त तथा उच्चतम न्यायालय में अपना पक्ष जीतने के बाद भी अपना पुराना निशान स्वेच्छा से छोड़ दिया और नया निशान गाय बछड़ा इस्तेमाल किया और उसके विद्वान अधिवक्ता श्री कन्हैया लाल मिश्रा का पूर्व कथन स्थगन आदेश का दिया जाना अपील का मंजूर करना सिद्ध हुआ ।

उपरोक्त मुकदमें से चुनाव आयोग की सत्ता की शक्ति सिद्ध हो गयी जो लगातार बढ़ती गयी । मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी० एन० शेषन ने अपने कार्यकाल में प्रधानमंत्री तथा भारत सरकार की कोई भी परवाह नही किया और अपने अनुसार ही कार्य किया । उनकी सत्ता कम करने के लिये प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव ने चुनाव आयोग को बहुसदस्यीय किया और एम० एस० गिल तथा जी० वी० जी० कृष्णामूर्ति को चुनाव आयुक्त नियुक्त किया । पर उन्हे टी० एन० शेषन ने कार्य करने नही दिया । उसके विरूद्ध उच्चतम न्यायालय ने मुकदमा दायर किया । जिसके फैसले के बाद उसने उन्हे कार्य करने दिया । परन्तु मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी० एन० शेषन अपने पूर्व कार्यकाल में एक प्रभावशाली व्यक्ति रहे । उन्होने अपना प्रभाव दोनों अन्य चुनाव आयुक्तों पर भली

भॉति रखा इस प्रकार चुनाव आयोग भी एक शक्ति का केन्द्र हो गया । और उसने भारत सरकार के सुझावों की कोई परवाह नही किया ।[3]

इस प्रकार निर्वाचन कराने या न कराने की पूर्ण जिम्मेदारी अब निर्वाचन आयोग की है । प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री केवल एकरूप से सलाहकारी संस्था हो गये है । चुनाव न कराने की दशा में वे लोग उत्तरदायी नही रखे जा सकते, तथा उनके खिलाफ कार्यवाही नही की जा सकती ।

यदि चुनाव समय से न हो सके और उनका कार्यकाल समाप्त हो जाये तो केवल एक ही रास्ता बचता है कि उन्हे अपने मंत्रिमण्डल के सहयोगियों के साथ कार्य करने दिया जाये ताकि प्रजातंत्र का शासन चलता रहे ।

उपरोक्त विवेवना से यह विदित हो गया कि केन्द्रीय मंत्रिमण्डल व राज्य मंत्रिमण्डल को लोकसभा, विधानसभा के असामयिक विघटन या कार्यकाल के पूर्ण होने पर भी कुछ समय तक कार्य करने का अधिकार है ।

अब सवाल यह आता है कि इनका चुनाव अनुच्छेद 85 (1) o 174 (1) के अनुसार इस प्रकार से पूरा होना चाहिए कि इनका सत्र पिछले सत्र के छः महीने के अन्तर्गत हो सके । फिर भी यह सवाल पैदा होता है कि अगर विशेष परिस्थितियों में चुनाव न हो सके तो क्या होगा ।

इसका उत्तर यह है कि केन्द्र में तथा राज्य में मंत्रिमण्डलीय शासन चलना है ऐसी दशा में केन्द्रीय मंत्रिमण्डल तथा राज्य मंत्रिमण्डल अपना कार्य करते रहें और शीघ्र से शीघ्र चुनाव कराने की व्यवस्था की जाये ।

मंत्रिमण्डलीय शासन की व्यवस्था भारत के संविधान के मूल स्वरूप में आती है हम लोगों ने यह व्यवस्था ब्रिटेन की शासन पद्धति से लिया है जहॉ कि प्रजातन्त्र के स्थापित हुये 700 वर्ष हो चुके हैं परन्तु अभी तक उनका संविधान अलिखित है और

---

[3] उदाहरण के लिये अप्रैल 1999 में लोकसभा भंग हुयी, प्रधानमंत्री अटल बिहारी बाजपेयी जून 1999 में चुनाव कराना चाहते थे परन्तु मुख्य चुनाव आयुक्त एम० एस० गिल तथा अन्य आयुक्त श्री वी० जी० कृष्णमूर्ति व जे० एम० लिंगडोह ने मतदाता सूची में विस्तार कराने के कारण अक्टूबर, 1999 में चुनाव कराये ।

सारा कार्य स्वच्छ परम्पराओं पर भली भॉति हो रहा है । वहॉ की स्वच्छ परम्परायें इस शासन प्रणाली को भारत में सुचारू रूप से चलाने के लिये स्थापित की जा सकती है ।

द्वितीय विश्व युद्ध (1939-45) के कारण यह सम्भव नही था कि ब्रिटेन में निर्वाचन सन् 1940 में हो सके वहॉ हाऊस आफ कॉमन्स में एक प्रस्ताव पेश किया गया कि इस संसद का कार्यकाल एक और सत्र तक बढ़ा दिया जाये । हाऊस आफ कांमन्स ने इस प्रस्ताव को पास कर दिया और सन् 1935 की चुनी हुई संसद ने एक और कार्यकाल यानि सन् 1945 तक कार्य किया और सन् 1945 में निर्वाचन हुआ ।

भारत में 42वें संवैधानिक संशोधन को पारित करके भारतीय संसद ने लोकसभा व विधानसभाओं का कार्यकाल 5 वर्ष से बढ़ाकर 6 वर्ष किया था जिसे कि 44वें संवैधानिक संशोधन से पुनः 5 साल किया गया । यह भी हो सकता है कि जब मुख्यमंत्री को यह प्रतीत हो कि विधानसभा का निर्वाचन और गठन उसके कार्यकाल की समाप्ति के पहले नही हो सकता तो वह या उसका विधि मत्री विधानसभा में जिन राज्यों में एक सदन है वह विधानसभा व विधानपरिषद में जिन राज्यों में दो सदन है पेश करें कि विधानसभा का कार्यकाल 6 महीने के लिये और बढ़ा दिया जाये और विधानसभा अपना कार्यकाल 6 महीने और बढ़ाने का प्रस्ताव पास करे और विधानपरिषद भी उस पर अपनी मुहर एक अन्य प्रस्ताव द्वारा लगवा ले ।

यह प्रस्ताव केन्द्रीय सरकार को भेज दिया जाये जो इस पर राष्ट्रपति की सहमति अनुच्छेद 392 के अन्तर्गत प्राप्त कर ले और विधानसभा का कार्यकाल 6 माह बढ़ा दिया जाये । अनुच्छेद 392 में राष्ट्रपति को कठिनाइयों को दूर करने की शक्ति दी गयी है । अनुच्छेद 392 (1) में लिखा है-राष्ट्रपति किन्ही ऐसी कठिनाइयों को, जो विशिष्टतया भारत शासन अधिनियम, 1935 के उपबंधों से इस संविधान के उपबंधों को संक्रमण के संबन्ध में हो; दूर करने के प्रयोजन के लिये आदेश द्वारा निर्देश दे सकेगा कि यह संविधान उस आदेश में विनिर्दिष्ट अवधि के दौरान उपरांतण, परिवर्धन या लोप के रूप में ऐसे अनुकूलनों के अधीन रहते हुये प्रभावी होगा जो वह आवश्यक या समीचीन समझे ।

विधानसभा का कार्यकाल इस प्रकार 6 माह बढ़ जायेगा और वह कार्य करती रहेगी मुख्यमंत्री तथाउसके मंत्रिमण्डलीय सदस्य नियमित रूप से अपने प्रस्ताव बजट, लेखानुदान पास कराते रहेंगे ।

यदि चुनाव अब भी सम्पन्न न हो सके तो यह कार्यकाल 6 महीने और बढ़ाया जा सकता है पर इसमें चुनाव अवश्य होना चाहिए ।

अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति का शासन पहली अवधि के लिये 6 महीने तक लगाया जाता है जो संसद द्वारा साधारण बहुमत से स्वीकृत किया जा सकता है और बाद में 6 महीने के लिये संसद द्वारा साधारण बहुमत से बढ़ा दिया जाता है ।

इस प्रकार जो कार्य राष्ट्रपति शासन द्वारा पहले 6 महीने में संसद द्वारा किया जाता है वह इस काल में विधानमण्डलों द्वारा किया जायेगा तथा जो कार्य राष्ट्रपति शासन द्वारा दूसरे 6 महीने में किया जाता है वह विधानमण्डलों द्वारा किया जायेगा ।

कभी-कभी यह देखा गया है कि राष्ट्रपति शासन के कार्यकाल में जो प्रस्ताव संसद द्वारा पास किये जाते हैं उनको राष्ट्रपति शासन की समाप्ति के बाद विधानमण्डल परिवर्तित करती है जो कि एक अशोचनीय बात होती है ।

उपरोक्त सुझावों से यह फायदा होगा कि विधानमण्डल जो प्रस्ताव पास करेगा यदि वह चाहेगा तो उनमें स्वयं ही संशोधन कर लेगा ।

एक फायदा यह और होगा कि भारत की संसद का बहुमूल्य समय राज्य के सम्बन्ध . में निर्णय करने में अनावश्यक रूप से नही खर्च होगा, और प्रधानमंत्री तथा मंत्रिगण अनावश्यक रूप से राज्य के कामों में दखल नही करेंगे और राज्य नेताओं से लड़ाई मोल नही लेंगे ।

भारत में संविधान द्वारा केन्द्र और राज्य के बीच साफ-साफ बंटवारा किया गया है । और सामंजस्य स्थापित किया गया है यह कोई जरूरी नही है कि केन्द्र राज्य के मामलों में अनावश्यक रूप से दखल दे ।

डॉ० अम्बेडकर ने संविधान सभा में बोलते हुये कहा था कि "केन्द्र संघीय शासन का यह मूल सिद्धान्त है कि व्यवस्थापिका व कार्यपालिका के अधिकार राज्य और केन्द्र में बंटे रहते है । हमारे संविधान के अन्तर्गत राज्य किसी प्रकार से केन्द्रीय व्यवस्थापिका व कार्यपालिका पर निर्भर नही है केन्द्र और राज्य अपने-अपने अधिकारों में सामान्य है ।"[4]

4 इण्डियन एक्सप्रेस दिनॉक 21 फरवरी 1987.

इसी प्रकार संविधान के अन्य प्रावधानों से भी निष्कर्ष निकाला जा सकता है जैसे- उपाध्यक्ष को संबोधित और यदि वह सदस्य उपाध्यक्ष है तो अध्यक्ष को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा, और . विधानसभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा । परन्तु खंड (ग) के प्रयोजन के लिये कोई संकल्प तब तक प्रस्तावित नही किया जायेगा तब तक कि उस संकल्प को प्रस्तावित करने के आशय की कम से कम 14 दिन की सूचना न दे दी गई हो ।

परन्तु यह और कि जब कभी विधान सभा का विघटन किया जाता है तो विघटन के पश्चात होने वाले विधानसभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त नही करेगा ।

अनुच्छेद 94(C) तथा अनुच्छेद 177(C) के अन्तर्गत लोकसभा के अध्यक्ष तथा विधानसभा के अध्यक्ष अपने-अपने पदों पर लोकसभा व विधानसभा के विघटित काल में तब तक बने रहेंगे जब तक अन्य निर्वाचित अध्यक्ष अपना कार्यभार ग्रहण नही कर लेता।

इसके गहन अध्ययन की जरूरत है । विधानसभा एक ऐसे सदस्य को ही अपना अध्यक्ष व उपाध्यक्ष चुनेगी जो की उसका सदस्य है इस प्रकार कोई अन्य जो कि विधानपरिषद लोकसभा राज्यसभा का सदस्य है वह विधानसभा का अध्यक्ष उपाध्यक्ष नही हो सकता ।

जिस समय निर्वाचित अध्यक्ष या उपाध्यक्ष का चुनाव विधानसभा के लिये रद्द कर दिया जाता है वह अध्यक्ष या उपाध्यक्ष नही रह जाता ।अध्यक्ष अपना त्यागपत्र उपाध्यक्ष को भेजता है तथा उपाध्यक्ष अपना त्यागपत्र अध्यक्ष को भेजता है ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 93 में लोकसभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के निर्वाचन के बारे में कहा गया है तथा अनुच्छेद 94 में उनके पद रिक्त होने पद त्याग और पद से हटाये जाने को कहा गया है ।

अनुच्छेद 94 में लिखा है- लोकसभा के अध्यक्ष व उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य -

(क) यदि लोक सभा का सदस्य नही है तो अपना पद रिक्त कर देगा ।

(ख) किसी भी समय यदि वह सदस्य अध्यक्ष है तो उपाध्यक्ष को सबोधित और यदि वह सदस्य उपाध्यक्ष है तो अध्यक्ष को संबोधित अपने हस्ताक्षर सहित लेख द्वारा अपना पद त्याग सकेगा और

(ग) लोक सभा के तत्कालीन समस्त सदस्यों के बहुमत से पारित संकल्प द्वारा अपने पद से हटाया जा सकेगा ।

परन्तु खण्ड (ग) के प्रयोजन के लिये कोई संकल्प तब तक प्रस्तावित नही किया जायेगा जब तक कि उस संकल्प को प्रस्तावित करने के आशय की कम से कम 14 दिन की सूचना न दे दी गई हो ।

परन्तु यह और कि जब कभी लोकसभा का विघटन किया जाता है तो विघटन के पश्चात होने वाले लोकसभा के प्रथम अधिवेशन के ठीक पहले तक अध्यक्ष अपने पद को रिक्त नही करेगा ।

इसी प्रकार विधान सभा के बारे में अनुच्छेद 178 में विधानसभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के बारे में कहा गया और अनुच्छेद 179 में उनके पद रिक्त होगा पद त्याग और पद से हटाये जाने की व्यवस्था है अनुच्छेद 179 विधान सभा के अध्यक्ष या उपाध्यक्ष के रूप में पद धारण करने वाला सदस्य -

(क) यदि विधान सभा का सदस्य नही रहता है तो अपना पद रिक्त कर देगा ।

(ख) किसी भी समय यदि वह सदस्य अध्यक्ष है तो जब विधान सभा भंग रहती है तब उपाध्यक्ष नही रहता और अनुच्छेद 178(2) के अन्तर्गत उपाध्यक्ष रहता है । इन परिस्थितियों में अध्यक्ष अपना त्यागपत्र नही दे सकता है ।

यदि अध्यक्ष का चुनाव एम० एल० ए० के लिये इस समय सक्षम न्यायलय द्वारा रद्द किया जाये जब विधान सभा भंग हो तब पर भी वह अध्यक्ष बना रहेगा इस प्रकार बिना विधानसभा का सदस्य होते हुये भी वह अध्यक्ष बना रहेगा ।

यह सोचने की बात है कि एक संस्था न रहे और उसका अध्यक्ष बना रहे । यह प्रायः देखा जाता है कि पहले संस्था होती है या स्थापित की जाती है तब उसका अध्यक्ष होता है या नियुक्त किया जाता है । यदि अध्यक्ष है तो किसी न किसी रूप में संस्था अवश्य है ।

विधानसभा का अनु० 174(2) क के अन्तर्गत सत्रावसान किया जाता है तथा 174(2) ख के अन्तर्गत विघटित की जाती है ।

सत्रावसान के बाद पहले सत्र और अगले सत्र की बैठक में 6 महीने से अधिक का समय नही रहना चाहिए इसी प्रकार विघटन की स्थिति में पहले सत्र और निर्वाचन सम्पन्न होने के बाद पहले सत्र की पहली बैठक में 6 महीने से अधिक नही होनी चाहिए। दोनो ही स्थिति में सदन के सत्र की बैठक नही होती । इस प्रकार यह उचित होगा कि विधानसभा का विघटन भी सत्रावसान समझा जाये और जिस प्रकार सत्रावसान के बाद बैठक बुलायी जाती है उसी प्रकार विघटन के बाद बैठक बुला ली जाये । उस विघटन के आदेश को राज्य निलम्बन का आदेश में परिवर्तित कर दें ।

यह सवाल उठता है कि क्या विघटन के आदेश को निलम्बन के आदेश में परिवर्तित किया जा सकता है ऐसी दशा में यह भी हो सकता है कि राज्यपाल विधानसभा का विघटन न करके निलम्बन करें और चुनाव प्रक्रिया आरम्भ कर दे । चुनाव प्रक्रिया समाप्त होने के बाद वह इस विधानसभा का विघटन कर दें ।

राष्ट्रपति अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत विधानसभा का निलम्बन तथा विघटन करता है इस प्रकार एक ही अनुच्छेद के अन्दर निलम्बन व विघटन आते है इस प्रकार राज्यपाल के अनुच्छेद 174(2)(B) के विघटन के अधिकार को निलम्बन व विघटन का अधिकार समझा जाना चाहिए ।साधारण प्रक्रिया में पहले निलम्बन होता है बाद में विघटन होता है ।

ऐसी दशा में जैसा उपरोक्त में दर्शाया गया है विघटित विधान सभा पुनः कुछ विशेष परिस्थिति में बुलाई जा सकती है और पूर्ण रूपेण कार्य कर सकती है । इससे भारतीय संविधान का मूल स्वरूप नष्ट नही होगा । बल्कि और सुदृढ़ होगा ।

धनविधेयक का पास कराना केन्द्र व राज्य सरकारों की एक परम आवश्यकता है । इसके अन्तर्गत वार्षिक बजट या कुछ समय के लिये लेखानुदान संसद या राज्य विधानमण्डलों द्वारा पास कराया जाता है बिना लेखानुदान के पास कराये हुये सरकार के कार्य के लिये धन नही निकाला जा सकता है यदि धन नही निकलेगा तो सरकार का कार्य कैसे चलेगा ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 107 में संसद द्वारा धनविधेयक पास करने की व्यवस्था है इसी प्रकार अनुच्छेद 198 में राज्य के धनविधेयक की व्यवस्था है केन्द्र का धनविधेयक के पास हो जाने के बाद राष्ट्रपति इस पर अपनी स्वीकृति अनुच्छेद 111 के अन्तर्गत देता है तथा राज्य का धनविधेयक पास हो जाने के बाद राज्यपाल उस पर अपनी स्वीकृति अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत देता हैं । यदि राज्यपाल अपनी स्वीकृति नही देना चाहे तो वह उस विधेयक को राष्ट्रपति के पास उसकी स्वीकृति के लिये भेज देता है।

सवाल यह पैदा होता है कि यदि केन्द्र में लोकसभा विघटित कर दी गयी है या राज्य में विधानसभा विघटित कर दी गई तो धन-विधेयक किस रूप में पास कराया जाये ।

श्री चन्द्रशेखर प्रधानमंत्री ने अपना व अपने मंत्रिमण्डल का त्याग पत्र राष्ट्रपति को 6 मार्च 1991 को प्रस्तुत किया इसके साथ ही लोकसभा के भंग होने की सिफारिश भी की उस समय तक केन्द्रीय बजट वर्ष 1991-92 के लिये या लेखानुदान कुछ समय के लिये पास नही हुआ था राष्ट्रपति ने श्री चन्द्रशेखर प्रधानमंत्री तथा उनके मंत्रिमण्डल का इस्तीफा उसी दिन (6 मार्च 1991) को स्वीकार कर लिया और उन्हे अग्रिम व्यवस्था होने तक कार्य करने को कहा यह सवाल उठा कि लेखानुदान कुछ समय के लिये कैसे पास किया जाये ।

राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमण ने इस सम्बन्ध में श्री चन्द्रशेखर (नव निवर्तमान) (Outgoing) उनके मंत्रिमण्डल के सदस्य, भूतपूर्व प्रधानमंत्री राजीव गॉधी तथा अन्य नेतागणों से इस सम्बन्ध मे विचार विमर्श किया बहुत से दलों के नेताओं का यह विचार था कि अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत राष्ट्रपति अध्यादेश द्वारा लेखानुदान की स्वीकृति दें । कुछ नेतागण इसका विरोध कर रहे थे । राष्ट्रपति श्री वेंकटरमण ऐसा नही करना चाहते थे । सभी दलों के नेताओं से विचार विमर्श करने के बाद यह तय हुआ कि नव निवर्तमान प्रधानमंत्री चन्द्रशेखर या उनके नव निर्वतमान वित्तमंत्री लेखानुदान लोकसभा के विशेष सत्र में पेश करें यह भी सवाल उठाया गया कि वह प्रधानमंत्री या उसके मंत्रिमण्डल के सदस्य जिनका इस्तीफा स्वीकृति किया जा चुका है लोकसभा में कैसे प्रस्ताव पास करें, तथा अन्य विशेष बिल जिनकी परम आवश्यकता हो उन्हे भी लोकसभा में पेश

करें । लोकसभा के विशेष सत्र में लेखानुदान तथा कुछ अन्य बिल पेश किये गये जिन्हे लोकसभा ने पास कर दिया । उसके बाद राज्यसभा ने भी उन्हे पास कर दिया । जिनकी सूचना राष्ट्रपति को दी गयी और राष्ट्रपति ने अपने आदेश दिनॉक 13 मार्च 1991 से लोकसभा को भंग कर दिया ।

क्योंकि लेखानुदान पास हो गया था इस कारण लोकसभा के अगले सत्र तक सरकारी खर्च का कार्य चलता रहा ।

इसी घटना का अनुसरण करते हुये बिहार में इसका कार्यकाल समाप्त होने के बाद तत्कालीन मुख्यमंत्री श्री लालू प्रसाद यादव ने लेखानुदान का प्रस्ताव राज्यपाल श्री ए० आर० किदवई के पास भेजा और यह अनुरोध किया कि अनुच्छेद 213 के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करके इतने धन के भविष्य निधि से ऋण के रूप में प्राप्त करने की व्यवस्था की जाये ।

परन्तु राज्यपाल ने अध्यादेश जारी करने से इन्कार कर दिया और केन्द्रीय विधि मंत्रालय से इस सम्बन्ध में राय मांगी जिसने उन्हे ऐसा करने से मना कर दिया जिसके फलस्वरूप वहॉ पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया और 30 मार्च 1995 को राज्य का लेखानुदान संसद द्वारा पारित किया गया ।

अध्यादेश जारी करने का राष्ट्रपति का अधिकार अनुच्छेद 123 के अन्तर्गत एक विशेषाधिकार है तथा अनुच्छेद 213 के अन्तर्गत अध्यादेश जारी करने का राज्यपाल का अधिकार एक विशेषाधिकार है ।

अनुच्छेद 163(1) के अन्तर्गत राज्यपाल को प्रायः अपने मंत्रिमण्डल की सलाह पर कार्य करना चाहिए कुछ मदों को छोड़कर जिनपर की वह स्वयं निर्णय कर सकता है । कही पर भारतीय संविधान में इस बात का प्राविधान नही है कि राज्यपाल केन्द्रीय विधि मंत्रालय से अपने कार्य करने में सलाह मांगे । यह कहा जा सकता है कि स्वयं अपने विचारों से कार्य करने के लिये राज्यपाल श्री किदवई ने केन्द्रीय विधि मंत्रालय से सलाह मांगी थी परन्तु इसका कही उल्लेख नही है ।

अनुच्छेद 165 राज्य के महाधिवक्ता के सम्बन्ध में है । महाधिवक्ता राज्यपाल के प्रसादपर्यन्त पद धारण करेगा और ऐसा पारिश्रमिक प्राप्त करेगा जो राज्यपाल निर्धारित करे

राज्यपाल को तथा राज्य सरकार को महाधिवक्ता वैधानिक मामलों पर सलाह देता है जिनके अनुसार राज्यपाल तथा राज्य सरकार वैधानिक रूप से कार्य करती है । इस प्रकार राज्यपाल श्री किदवई को महाधिवक्ता की राय प्राप्त करने का संवैधानिक अधिकार है ।

परन्तु केन्द्रीय विधि मंत्रालय से राय प्राप्त करने का संवैधानिक अधिकार नही है । संवैधानिक अधिकार सर्वोपरि होता है और अन्य सभी अधिकार उससे कम होते है ।

राज्यपाल श्री किदवई को महाधिवक्ता की राय लेने के बाद अध्यादेश द्वारा लेखानुदान स्वीकृत करना था परन्तु उन्होने नही किया । श्री किदवई यह भी कर सकते थे । कि उसे राष्ट्रपति के पास उनकी स्वीकृति के लिये भेज दिये होते और वे उसे जारी कर दिये होते ।

उच्चतम न्यायालय के न्यायमूर्ति वी० आर० कृष्णा अयर ने कर्नाटक के मुख्यमंत्री रामकृष्ण हेंगड़े तथा उनके मंत्रिमण्डल की सिफारिश पर अध्यादेश न जारी करने पर कर्नाटक के राज्यपाल के सम्बन्ध में यह कहा था कि यह एक गम्भीर बात है । राज्यपाल को राज्य के मंत्रिमण्डल की सलाह पर अध्यादेश अवश्य जारी करना चाहिए ।

अध्यादेश केवल 6 महीने तक लागू रहता है । हर अध्यादेश विधानमण्डल के समक्ष उसके सत्र में पेश किया जाता है, और विधानमण्डल प्रायः उसपर अपनी स्वीकृति प्रदान करता है । यदि विधानमण्डल की स्वीकृति नही मिलती तो अध्यादेश 6 महीने बाद समाप्त हो जाता है ।

राज्यपाल श्री किदवई द्वारा यदि लेखानुदान अध्यादेश द्वारा स्वीकृत किया गया होता तो 4 अप्रैल 1995 को शपथ लेने के बाद श्री यादव विधानमण्डल का सत्र बुलाकर उसकी स्वीकृति करा लिये होते और वह संवैधानिक रूप से नियमित हो गया होता ।

यदि वह अध्यादेश राष्ट्रपति द्वारा जारी किया गया होता तब भी उसकी स्वीकृति विधानमण्डल अपने सत्र में दे दी होती और वह संवैधानिक रूप से नियमित हो जाती ।

सवाल यह आता है कि केवल लेखानुदान स्वीकृत करने के लिये क्यों राष्ट्रपति शासन की सिफारिश राज्यपाल श्री किदवई ने की केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने क्यों अनुमोदन किया तथा राष्ट्रपति शंकर दयाल शर्मा ने क्यों स्वीकृति दिया ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 355 में लिखा है कि संघ का यह कर्त्तव्य होगा कि वह वाह्य आक्रमण और आन्तरिक अशान्ति से प्रत्येक राज्य की सरकार का इस संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाया जाना सुनिश्चित करे । इस प्रकार यह हो सकता था कि राज्यपाल तथा राष्ट्रपति के उपरोक्त अध्यादेश स्वीकृति न करने के बाद केन्द्र सरकार लेखानुदान लोकसभा में प्रस्तुत किये होती और उसकी स्वीकृति वहाॅ से तथा राज्य सभा से राज्य की आन्तरिक अशान्ति से बचाने के लिये तथा संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाने के लिये सुनिश्चित किये होती, जो कि धन के अभाव में कभी नही हो सकता ।

अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत राष्ट्रपति जब राज्य के राज्यपाल से यह रिपोर्ट पाता है कि राज्य में संवैधानिक तन्त्र विफल हो गया है और नियमित रूप से सरकार नही चलायी जा सकती है तो वह राज्य सरकार के सभी अधिकारों को राष्ट्रपति शासन लागू करके अनुच्छेद 356(1) (अ) के अन्तर्गत अपने हाथों में ले लेता है राज्यपाल को निर्देश देता· है कि वह राष्ट्रपति शासन में कार्य को जिसके लिये उसके सलाहकार नियुक्ति करता है ।

राष्ट्रपति अनुच्छेद 356(1) (ब) के अन्तर्गत यह भी व्यवस्था करता है कि राज्य विधानमण्डल के सभी अधिकारों का प्रयोग संसद द्वारा किया जायेगा ।

सारी संवैधानिक व्यवस्था बिहार में चल रही थी सवाल केवल लेखानुदान कुछ कार्यकाल के लिये पारित करने का था ऐसी दशा में राष्ट्रपति शासन का वहाॅ पर लागू करना सरकार का वहाॅ भंग करना किन्ही भी कारणों से उचित व संवैधानिक नही था ।

अनुच्छेद 356(1) (B) के अन्तर्गत ही यह व्यवस्था करनी थी कि केवल लेखानुदान पास करने के लिये राज्य विधानमण्डल के अधिकार का संसद प्रयोग करे और लेखानुदान पास करे ।

राष्ट्रपति का अपने दिनाॅक 28 मार्च, 1995 के आदेश में अनुच्छेद 356(1)(B) के अन्तर्गत यह लिखना था कि वर्ष 1995-96 में कुछ समय के लेखानुदान पारित करने के लिये राज्य विधानमण्डल का अधिकार संसद इस्तेमाल करे । संसद इसी आदेश के अन्तर्गत बिहार का लेखानुदान पारित कर दिये होती और सारी व्यवस्था नियमित रूप से चलती रहती राज्यपाल श्री किदवई के 18.03.1995 के आदेश के अनुसार मुख्यमंत्री व राज्यमंत्रिमण्डल कार्य करता रहता ।

यह भी सवाल उठता है कि क्या राष्ट्रपति 356(1) (B) के अन्तर्गत ऐसा आदेश दे सकते है?

मेरे विचार में राष्ट्रपति ऐसा आदेश दे सकते हैं जबकि वे यह लिख सकते हैं कि राज्य विधानमण्डल के सारे अधिकारों को लोकसभा प्रयोग करे तो वह यह भी अवश्य लिख सकते हैं कि संसद राज्य विधानमण्डल के एक अधिकार को ही प्रयोग करे जो व्यक्ति किसी संस्था के सम्पूर्ण अधिकार को दूसरी संस्था को प्रयोग करने के लिये दे सकता है वह उक्त संस्था के एक या कुछ अधिकारों को प्रयोग करने का भी अधिकार दूसरी संस्था को दे सकता है । मिसाल के रूप में भारत का कोई नागरिक किसी अन्य व्यक्ति को मुख्तारेआम बना सकता है और वह उक्त व्यक्ति के सारे अधिकार प्रयोग करता है । इसी प्रकार भारत का एक नागरिक किसी व्यक्ति को अपना मुख्तारेखास बना सकता है ऐसी दशा में एक खास कार्य के लिये ही उक्त व्यक्ति उस नागरिक के अधिकार का प्रयोग करेगा ।

मिसाल के रूप पर यदि किसी व्यक्ति के उपर किसी न्यायालय में धारा 302 का मुकदमा चलाया जाये तो न्यायाधीश को यह अधिकार होता है कि वह उसको मृत्युदण्ड, आजीवन कारावास, छोटे दण्ड दे या सबूत न मिलने पर उसे छोड़ दे ।

यदि केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की राष्ट्रपति शासन के अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत लागू करने की सिफारिश राष्ट्रपति को प्राप्त होती है तो यह आवश्यक नही की राष्ट्रपति उसे स्वीकार कर ले यह राष्ट्रपति पर है कि वह उस सिफारिश को पूर्णतः स्वीकार करता है या उसको अंशतः स्वीकार करता है।

मेरा कथन है कि केन्द्रीय मंत्रिमण्डल की सिफारिश को राष्ट्रपति केवल अंशतः स्वीकार किये होते ताकि एक समस्या का हल निकला होता और लेखानुदान पास कर दिया गया होता और सभी व्यवस्थायें पूर्ववत् रही होती ।

कुछ लोग इस बात से असहमत होंगे उनका कहना होगा कि राष्ट्रपति अंशतः स्वीकार नही कर सकता । उसको पूर्णरूपेण ही सिफारिश स्वीकार करना पड़ेगा ।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 368 में संविधान संशोधन की व्यवस्था की गयी है इस सम्बन्ध में उच्चतम न्यायालय ने कई निर्णय दिये । गोलकनाथ के मुकदमें में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय दिया कि संसद भारतीय संविधान के प्राविधानों में संशोधन नही कर

सकती उच्चतम न्यायालय ने केशवानन्द भारती के मुकदमें में यह निर्णय दिया कि संसद मौलिक अधिकारों में भी परिवर्तन कर सकती है परन्तु इसका मूल स्वरूप नही नष्ट कर सकती ।

आजकल सभी पार्टियॉ यह कहती है कि संविधान का मूल स्वरूप हम बनाये रखेंगे । मेरी समझ में यदि राष्ट्रपति शासन बिहार में 28.03.1995 को न लागू करते तो वहॉ प्रजातन्त्र का अन्त न होता और केवल अशतः आदेश जैसा उपर दर्शाया गया है जारी करने से वहॉ पर प्रजातन्त्र कायम रहा होता लेखानुदान पास कर दिया गया होता और मूलस्वरूप न नष्ट हुआ होता ।

मध्यप्रदेश की स्थिति के बारे में विवाद- मध्यप्रदेश बनने के बाद से कांग्रेस का राज्य की राजनीति पर पूर्ण बहुमत रहा । सर्वप्रथम पंडित रविशंकर शुक्ला वहॉ के मुख्यमंत्री बने और पटटाभि सीता रमैया वहॉ के राज्यपाल रहे । इसके बाद मध्यप्रदेश में तीन कांग्रेस मुख्यमंत्री हुये, श्री कैलाश चन्द्र काटजू, श्री भगवन्त राव मंडलोई और पंडित द्वारिका प्रसाद मिश्रा । इनके काल में श्री हरि विनायक पाटस्कर राज्यपाल रहे। इनको विशेष भूमिका अदा करने का अवसर नही मिला क्योंकि इन मुख्यमंत्रियों का विधानसभा में पूर्ण बहुमत था और कांग्रेस दल मध्यप्रदेश की विधानसभा में पूर्ण बहुमत में था ।

किन्तु तीसरे निर्वाचन के बाद स्थिति बदलने लगी । कांग्रेस पार्टी ने चुनाव में पूर्ण बहुमत खो दिया । जनसंघ समाजवादी पार्टी आदि को भी चुनाव में काफी सीट मिले । इस प्रकार मध्यप्रदेश में संविद सरकारों का दौर चलने लगा । और चौथे आम चुनाव के पश्चात श्री द्वारिका प्रसाद मिश्र के नेतृत्व में कांग्रेस का मंत्रिमण्डल बना परन्तु जुलाई 1967 में श्री गोविन्द नारायण सिंह 20 विधायकों को लेकर कांग्रेस से अलग हो गये, इसलिये कांग्रेस के मंत्रिमण्डल का पतन हो गया । श्री गोविन्द नारायण सिंह ने उसके बाद कुछ विराधी दलों के साथ मिल कर संयुक्त विधायक दल बना लिया और मध्यप्रदेश में उसके नेतृत्व में संयुक्त विधायक दल की सरकार स्थापित हो गयी । संयुक्त विधायक दल के घटकों में सैद्धान्तिक तथा अन्य कारणों से अनेक झगड़े चले फलतः श्री गोविन्द नारायण सिंह ने मार्च 1969 में अपना त्यागपत्र दे दिया । इसके बाद उन्होने 12 मार्च को संविद या संयुक्त विधायक दल के नेता राजा नरेश चन्द्र सिंह को मुख्यमंत्री की शपथ दिलाने के लिये राज्यपाल से आग्रह किया ताकि विधानसभा की कार्यवाही चलती रहे और

यदि शक्ति परीक्षण होना हो तो हो सके परन्तु राज्यपाल श्री के० सी० रेड्डी ने विधानसभा की बैठक से पूर्व ऐसा नही किया अतः उन्हे विवशतापूर्वक सत्रावसान के लिये सहमत होना पड़ा । कामचलाऊ सरकार के मुख्यमंत्री श्री गोविन्दनारायण सिंह ने राज्यपाल को विधानसभा के सत्रावसान के लिये सलाह दी । राज्यपाल श्री के० सी० रेड्डी ने उस सलाह के अनुसार विधानसभा के अधिवेशन को 12 मार्च 1969 को समाप्त कर दिया, और सयुंक्त विधायक दल के नये नेता राजा नरेश चन्द्र सिंह को तत्काल मुख्यमंत्री की शपथ नही दिलायी । राज्यपाल की इस कार्यवाही को जनसंघ के नेता श्री अटल बिहारी बाजपेई, संयुक्त समाजवादी दल के नेता श्री मधुलिमेय, प्रजासमाजवादी दल के नेता श्री नाथपै तथा संसदीय कांग्रेस दल के सचिव श्री वैंकटसुबैया ने 12 मार्च 1969 को लोकसभा में असंवैधानिक बताया ।[5] स्वराष्ट्र मंत्री श्री यशवन्त राव चह्वाण ने उस समय स्वीकार किया की विधानसभा के अधिवेशन के दिनों बहुमत का सवाल राज्यपाल नही तय कर सकता हैं अन्यथा संसदीय प्रजातन्त्र एक खिलवाड़ बन जायेगा । स्वराष्ट्र मंत्री श्री चह्वाण ने लोकसभा में 12 मार्च 1969 को यह भी कहा कि राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सलाह पर ही विधानसभा का अधिवेशन समाप्त किया है । राज्यपाल नये नेता को बुलाने से पहले वहॉ की स्थिति पर विचार और फैसला करना चाहते थे अब उन्होने राजा नरेश चन्द्र सिंह को सरकार बनाने के लिये आमंत्रित किया है। राज्यपाल के मन में कोई राजनीतिक उद्देश्य नही था । उसके पश्चात 13 मार्च 1969 को राजा नरेश चन्द्र सिंह मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री बने । उन्होने 20 मार्च 1969 को अपना त्यागपत्र दे दिया । राजा नरेश चन्द्र सिंह ने विधानसभा को भंग करने और नये मध्यावधि चुनाव कराने की सलाह दी । राज्यपाल श्री के० सी० रेड्डी ने 21 मार्च 1969 को इस सलाह को अस्वीकार कर दिया । राज्यपाल ने कहा कि "इस मामले से सम्बद्ध सभी पहलुओं पर पूरी तरह विचार किया गया है । मुख्यमंत्री राजा नरेश चन्द्र को मंत्रिमण्डल बनाने तथा विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने का अवसर दिया गया था, परन्तु उन्होने बहुमत सिद्ध करने के बजाय अपना त्यागपत्र दे दिया और विधानसभा को भंग करने की मांग की । यह मांग स्वीकार नही की जा सकती क्योंकि कांग्रेस के द्वारा स्थिर मंत्रिमण्डल बनाये जाने की

5- नवभारत टाइम्स, नई दिल्ली, पृष्ठ.1, कालम 2-3, तिथि 13, मार्च 1969.

सम्भावना है ।संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार राष्ट्रपति के शासन को लागू करना राज्यपाल की स्वविवेक शक्तियों में शामिल है और इस विषय में मंत्रिमण्डल की सलाह नही मानी जा सकती । राज्य पर मध्यावधि चुनाव का खर्च तथा कष्ट नही लादा जा सकता है ।"[6] जनसंघ के नेता श्री विरेन्द्र कुमार सकलेचा (भूतपूर्व उपमुख्यमंत्री), राजमाता विजय राजे सिन्धिया (संविद की नेता) और संयुक्त समाजवादी दल के नेता श्री एस० पी० चनपुरिया ने राज्यपाल की इस कार्यवाही की आलोचना की ।[7]

मार्च 1969 में मध्यप्रदेश में कांग्रेस का मंत्रिमण्डल श्यामाचरण शुक्ल के नेतृत्व में स्थापित हो गया क्योकि श्री गोविन्द नारायण सिंह (भूतपूर्व मुख्यमंत्री) पुनः 20 दलबदलुओं के साथ कांग्रेस में जा मिले । श्री श्यामाचरण शुक्ल 1972 के बाद पुनः निर्वाचित होकर आये । 1975 के बाद श्रीमती इंदिरा गॉधी ने देश व्यापी आन्तरिक संकट की घोषणा की । कांग्रेस की साख बड़ी तेजी से घट रही थी । 1977 के चुनावें में मध्यप्रदेश में कांग्रेस बुरी तरह हार गयी । केन्द्र में जनता पार्टी पदारूढ़ हुई ।

1977-78 में केन्द्र सरकार द्वारा निरंजन लाल वांचू नियुक्त किये गये । वे एक अनुभवी प्रशासक रह चुके थे । इसके बाद जनता पार्टी ने सी० एम० पुनाचा को राज्यपाल नियुक्त किया इस प्रकार 1978-79 में दो राज्यपाल नियुक्त किये गये । पुनाचा एक मंझे हुये राजनीतिज्ञ थे । इस काल में मध्यप्रदेश में भाजपा के दो मुख्यमंत्री नियुक्त हुये । पहले श्री कैलाश नाथ जोशी और उनके बाद श्री सुन्दर लाल पटवा मुख्यमंत्री नियुक्त हुये ।

1980-84 के बीच कांग्रेस पुनः बहुमत में सत्तारूढ़ हुई । श्री अर्जुन सिंह मुख्यमंत्री बने । यह काल राज्यपाल भगवत दयाल शर्मा का काल है । राज्यपाल भगवत दयाल शर्मा के काल में मुख्यमंत्री अर्जुन सिंह से उनके सौहार्दपूर्ण सम्बन्ध थे ।

मध्यप्रदेश में संविद शासन के दौरान कतिपय ऐसी स्थितियॉ उत्पन्न हुई थी जब विरोधी दलों ने राज्यपाल के अभिभाषण के दौरान वाधा डाली थी । यद्यपि वाधा डालने

6- हिन्दुस्तान टाइम्स 22 मार्च तथा 25 मार्च; 1969 पृष्ठ 1, कालम 1-3.
7- नवभारत टाइम्स, 22 तथा 25 मार्च 1969 पृष्ठ 1 कालम 1-3.

वाले सदस्यों को निलम्बित नही किया किन्तु इस प्रश्न पर विचार अवश्य हुआ । उस समय राज्यपाल के० सी० रेडडी थे ।[8]

1984 में, श्रीमती इन्दिरा गॉधी की मृत्यु के बाद श्री राजीव गॉधी प्रधानमंत्री बने थे । वहॉ 1989 तक कांग्रेस का बहुमत रहा । श्री के० एम० चांडी इस अवधि में मध्यप्रदेश के राज्यपाल बने वे प्रशासन से राजनीति में आये थे । उस काल में उनका और मुख्यमंत्रियों से अच्छे सम्बन्ध थे । इनके बीच किसी प्रकार का गत्यावरोध उत्पन्न नही हुआ इस काल में मध्यप्रदेश में दो मुख्यमंत्री हुये- श्री अर्जुन सिंह और श्री मोती लाल बोरा । बाद में 1989 में मोती लाल बोरा को केन्द्रीय केबिनेट मे ले लिया गया और श्री श्यामाचरण शुक्ला मध्यप्रदेश के मुख्यमंत्री बने ।[9]

इस काल में वोफोर्स आदि घपलों के कारण कांग्रेस की साख बहुत गिर गयी । 1989 के चुनावो में कांग्रेस केन्द्र में पराजित हुई । केन्द्र में जनता दल की सरकार आयी उसने मध्यप्रदेश सहित अन्य शासित राज्यों को भंग कर वहॉ राष्ट्रपति शासन लागू किया । 1989 में सरला ग्रेवाल मध्यप्रदेश की राज्यपाल बनी । वे एक कुशल और सख्त प्रशासनिक अधिकारी थी । राष्ट्रपति शासन के दौरान उन्होने मध्यप्रदेश का शासन चलाया किन्तु अपनी सख्ती के कारण वे एक लोकप्रिय राज्यपाल नही बन सकी ।

1991 में भाजपा चुनाव जीतकर आयी । श्री सुन्दरलाल पटवा मध्यप्रदेश के राज्यपाल बने । चौधरी चरण सिंह के पुत्र श्री अजीत सिंह उस समय कांग्रेस में आ गये थे । उनके प्रभाव से नरसिंहा राव की सरकार ने जनता दल के श्री महमूद अली खान को राज्यपाल बनाया । वे एक मंझे हुये राजनीतिज्ञ थे ।

8- नवभारत टाइम्स; 1966-68 की फाइलें; इस काल में पश्चिम बंगाल, राजस्थान, बिहार आदि की तरह मध्यप्रदेश में भी काफी हंगामें हुये, और ऐसे उपद्र सदस्यों के निलम्बन पर चर्चा भी हुई ।

राजस्थान के राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने सर्वप्रथम कुछ विधायकों को निलम्बित किया था । जब राजस्थान विधानसभा में राज्यपाल अपना भाषण दे रहे थे तो ये सदस्य बारम्बार रूकावटें डालने लगे और राज्यपाल के भाषण के दौरान काफी व्यवधान उपस्थित किया था । 26 अप्रैल 1966 को राज्यपाल सम्पूर्णानन्द ने कुछ विधायकों को इस आधार पर निलम्बिति किया था कि जब बजट पर राज्यपाल अपना अभिभाषण दे रहे थे तो यह सदस्य बारम्बार रूकावटें डालने लगे और राज्यपाल के भाषण के दौरान काफी व्यवधान उत्पन्न किया गया । यह मामला विशेषाधिकार समिति को भेजा गया और विशेषाधिकार समिति ने राज्यपाल के निलम्बन आदेश को वैध ठहराया ।

9- जेना बी० बी० "गवर्नर्स राइट टू संस्पेंड एम० एल० ए०" जर्नल आफ कान्स्टीटयूशनल एंड पार्लियामेन्टरी सटडीज, भाग 2, अप्रैल; जून 1967

1992 में बाबरी मस्जिद कांड के कारण भाजपा सरकार बर्खास्त कर दी गयी और मध्यप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । राष्ट्रपति शासन के दौरान महमूद अली खान ने केन्द्र के ऐजेंट के रूप में मध्यप्रदेश का शासन चलाया । 1992-93 के बीच मध्यप्रदेश में राष्ट्रपति शासन रहा ।[10]

1993 मे पुनः निर्वाचन हुये । कांग्रेस सत्ता में आयी । श्री दिग्विजय सिंह मुख्यमंत्री बने । 23/06/1993 को मोहम्मद शफी कुरेशी मध्यप्रदेश के राज्यपाल बने ।

1989 से 1996 के बीच राज्यपालों ने व्यवस्थापिका के अभिन्न अंग के रूप में कार्य किया । राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों के बीच किसी प्रकार का गत्यावरोध उत्पन्न नही हुआ । उन्होने मुख्यमंत्रियों के परामर्श के अनुसार ही विधानसभा के बैठको को आमंत्रित, स्थगित और भंग किया । उन्होने चुनाव के बाद विधान सभाओं के चुने हुये सदस्यों को शपथ दिलाई । उन्होने कमजोर वर्गों - अनुसूचित जातियों, जनजातियों को पर्याप्त महत्व दिया जा रहा है या नही इस बात का ध्यान रखा और अपने सरकार को लगातार सचेत करते रहे कि वे यह देखें कि महिलाओं, मुस्लिमें, ईसाइयों, अनुसूचित जातियों पर कोई अत्याचार न हो । अनुसूचित जातियों और जनजातियों की सूची को दुरूस्त करने के लिये उन्होने समय समय पर जनगणना आयोग को निर्देश दिये । राज्यपालों के प्रत्येक अधिवेशन होने पर अभिभाषण होते रहे हैं लेकिन संविद शासन काल 1967-69 की तरह इस अवधि में विरोधी दल के सदस्यों ने राज्यपाल के अभिभाषण पर किसी प्रकार की टोका-टोकी या गत्यावरोध उत्पन्न नही किया । सरकारी दल और विरोधी दल दोनो ने राज्यपाल का आदर किया । सत्रावसान या विधानसभा भंग को लेकर भी किसी प्रकार का विरोध व्यक्त नही किया गया । ऐसा विरोध केवल दो बार व्यक्त किया गया- एक बार 1989 में और दूसरी बार 1992 में । 1989 में जब श्यामाचरण शुक्ल की सरकार बहुमत में थी किन्तु जब केन्द्र में जनता दल चुनकर आयी तो उसने शुक्ल सरकार को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया । दूसरी बार 1992 में बाबरी मस्जिद तोड़े जाने पर सुन्दर लाल पटवा की सरकार को केन्द्र सरकार ने भंग करके मध्यप्रदेश में राष्ट्रपति

10- नवभारत रामपुर, 16 दिसम्बर 1992 पृ० 1 भोपाल (पाक्षिक)। नवम्बर 1986 और 1983 ।

शासन लागू किया ।[11] 1992 में तो भाजपा ने हाईकोर्ट में मामला दायर कर दिया (न्यायालय के निर्णय का विवरण आगे है) । राज्यपालों ने विधेयकों पर अपने हस्ताक्षर कर उनको विधि का रूप दिया । कुछ विधेयक अवश्य राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिये सुरक्षित रखे गये ।

अवश्य ही इस काल में भी राज्यपालों की शक्ति सीमित करने के लिये विरोधी दलों ने चर्चाए की इस काल में राज्यपालों को लेकर कुछ अप्रिय घटनायें घटी इसमें तमिलनाडु के राज्यपाल रेडडी और मुख्यमंत्री जयललिता के बीच भारी विवाद उत्पन्न हुये । ये दोनो एक दूसरे को दुश्मन समझते रहे । नरसिंहाराव की सरकार भी यही चाहती थी । दोनो ने एक दूसरे पर भ्रष्टाचार तक के आरोप लगाये ।

एक दूसरा उदाहरण नागालेण्ड का है । 22/04/1992 को नागालैंण्ड और मणिपुर में राज्यपालों की भूमिका को लेकर विपक्ष और सत्तारूढ़ दल के बीच लोकसभा में जोरदार विरोध हुआ । विपक्ष का आरोप था कि केन्द्र सरकार राज्यपालों की रिपोर्ट पर मनमाने ढंग से फैसला कर रही है । इससे जहॉ राज्यपाल के पद की अवमानना हो रही है वहीं उत्तरपूर्वी राज्यों में लोगों का लोकतन्त्र में विश्वास डगमगा गया है । उनका आरोप था कि केन्द्र ने नागालैंण्ड में राज्यपाल की रिपोर्ट के विपरीत राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जबकि मणिपुर मे अपने दल की सरकार को बहुमत सिद्ध करने का समय देने के लिये राज्यपाल की रिपोर्ट के आधार पर विधानसभा बैठक स्थगित कर दी गयी है । गृह मंत्री एस० बी० चह्वाण और सत्तारूढ़ दल का जबावी आरोप था कि नागालैंड के मुख्यमंत्री वामूजो ने मंत्रिमण्डल की बैठक के बिना ही विधानसभा भंग करने की सिफारिश कर दी । उन्होंने कहा कि दूसरी तरफ मणिपुर के राज्यपाल चिंतामणि पाणिग्रही की इस रिपोर्ट को मानने का कोई कारण नही था, विधानसभा की बैठक कराये जाने पर सदन में हिंसा हो सकती है । विरोधी दलों ने सरकारिया आयोग की दुहाई देते हुये कहा कि राज्यपालों का पद, उनके अधिकार और केन्द्र-राज्य सम्बन्धें पर नये सिरे से विचार होना चाहिए ।

11- मध्यप्रदेश संदेश; प्रकाशन शाखा; सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय भोपाल (पाक्षिक) नवम्बर 1986 और 1988

राष्ट्रपति या राज्यपालों का यह नैतिक कर्त्तव्य है कि वे इस संविधान की रक्षा करें। यदि राष्ट्रपति या राज्यपाल कोई ऐसा कार्य करते हैं जो संविधान के प्रतिकूल है तो उनको पद से हटाया जा सकता है- राष्ट्रपति को महाभियोग चलाकर हटाया जा सकता है और राज्यपालों को राष्ट्रपति हटा सकता है*।

हाल में राज्यपाल थामस को नागालैंड में इसी कारण हटाया गया था क्योकि राष्ट्रपति के मत में उन्होने संविधान की रक्षा नही की थी और केन्द्र सरकार के अनुसार उन्होने संविधान के प्रतिकूल आचरण किया था। राष्ट्रपति श्री आर० बेंकटरमण ने कड़ा कदम उठाते हुये 11 अप्रैल 1992 को नागालैण्ड के राज्यपाल एम० एस० थामस को बर्खास्त कर दिया। यह एक अप्रत्याशित कदम था। 1991 के जून में केन्द्र में श्री नरसिंहाराव को इंका सरकार के सत्तारूढ़ होने के बाद किसी राज्य के राज्यपाल की बर्खास्तगी का यह पहल मामला था। उन पर कई आरोप लगाये गये थे जैसे उन्होने बिना राष्ट्रपति को सूचित किये नागालैंड विधानसभा भंग कर दी थी। साथ ही बामूजो को कार्यकारी मंत्री बना रहने दिया था। श्री थामस पर नागालैण्ड के मुख्य सचिव एस० एस० अहलूवालिया के विरूद्ध सी० बी० आई० जॉच न कराने का भी आरोप था, इस जॉच का आदेश केन्द्रीय गृहमंत्रालय ने दिया था। इस सम्बन्ध में राष्ट्रपति भवन से श्री थामस को हटाये जाने का कोई कारण नही दिया गया था केवल यही कहा गया था, "राष्ट्रपति को यह आदेश देते हुये प्रसन्नता होती है कि डॉ० थामस अब नागालैण्ड के राज्यपाल नही रहेंगे और उनके स्थान पर कार्य करने के लिये राष्ट्रपति ने असम के राज्यपाल श्री लोकनाथ मिश्रा को नागालैंण्ड का भी राज्यपाल नियुक्त किया हैं। श्री लोकनाथ मिश्रा तब तक असम के राज्यपाल के रूप में कार्य करते रहेंगे जब तक कि उनका उत्तराधिकारी नियुक्त नही कर दिया जाता।"[12]

6 दिसम्बर 1992 के बाबरी मस्जिद कांड के बाद मध्यप्रदेश सहित भाजपा शासित तीन अन्य राज्यों में भी राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। अयोध्या कांड से भाजपा

---

* यह मत दुर्गादास बसु का है देखिये भारतीय संविधान एक परिचय।

[12] दि हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, 12 अप्रैल 1992 पृ० 1

राज्यों सहित कांग्रेसी और गैर कांग्रेसी राज्यों के राज्यपालों की भूमिका पर प्रश्न चिन्ह लगने लगा । यह देखा गया है कि केन्द्र सरकार राज्यपाल के पद का हमेशा दुरूपयोग करती रही है और उन्हे अपनी मर्जी के अनुसार जब तक चाहे तब तक कार्य करने देती है । उत्तर प्रदेश में- राज्यपाल श्री बी० सत्यनारायण रेडडी, मध्यप्रदेश में- कुंअर महमूद अली खॉ, राजस्थान में श्री एम० चेन्ना रेडडी, हिमांचल प्रदेश में- श्री बीरेन्द्र वर्मा थे जो वहॉ के मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह, श्री सुन्दरलाल पटवा, श्री भैरो सिंह शेखावत और श्री शांता कुमार सम्बद्ध राज्य के मुख्यमंत्रियों के सहयोग से कार्य कर रहे थे । किसी प्रकार का कोई झगड़ा या तनाव इनमें नही था यह भी कभी नही देखा गया कि उक्त राज्यपालों ने (Bagehot: three right of British Monarch) का प्रयोग करते हुये उन्होने कोई निर्देश या सुझाव मुख्यमंत्री को भेजा।

उत्तर प्रदेश की स्थिति अधिक विस्फोटक होती चली गयी । अयोध्या में राम जन्म भूमि बाबरी मस्जिद समस्या गम्भीर रूप लेती गयी । बाबरी मस्जिद टूटने के बाद उत्तर प्रदेश के राज्यपाल श्री बी० सत्यनारायण रेडडी की भूमिका की कड़ी आलोचना की गई । राष्ट्रीय स्वयं सेवक दल, विश्व हिन्दू परिषद ने अयोध्या के कार्य सेवा द्वारा राम मन्दिर बनाने की घोषणा की और देश भर से कार सेवक 6 दिसम्बर को मन्दिर बनाने के लिये अयोध्या आने लगे । फिर भी राज्यपाल श्री रेडडी ने किसी प्रकार का कोई सन्देश मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह को नही भेजा और न उन्होंने किसी प्रकार का निर्देश दिया न उन्होने जनता से इस सम्बन्ध में कोई अपील की । 6 दिसम्बर की रात तक केन्द्र को इस बात की जानकारी नही दी गयी थी कि उत्तरप्रदेश की स्थिति विस्फोटक है जो कभी भी बेकाबू हो सकती है । साथ ही राज्यपाल केन्द्र को आश्वस्त करते रहे कि स्थिति उत्तरप्रदेश की सरकार के नियन्त्रण में है । प्रधानमंत्री नरसिंहाराव को राष्ट्रपति श्री शंकरदयाल शर्मा ने एक सन्देश दिन में तब भेजा जब उन्हे अन्य टी० वी० द्वारा बाबरी मस्जिद के तोड़ फोड़ का समाचार मिला । प्रधानमंत्री नरसिंहाराव ने राज्यपाल श्री रेडडी से रिपोर्ट मांगी और उनकी रिपोर्ट पर मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करने तथा राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश राष्ट्रपति से की जो उक्त रात्री राष्ट्रपति की घोषणा से लागू हो गया । बाबरी मस्जिद ढहाये जाने के बाद से नरसिंहा राव सरकार पर भारी दबाव पड़ा कि अन्य तीन भाजपा सरकारों को भी भंग कर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाय, इस

दबाव के परिणाम स्वरूप तीनों राज्यों में- मध्यप्रदेश, हिमांचल प्रदेश, राजस्थान में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया ।

इस प्रकार मध्यप्रदेश में 15 दिसम्बर 1992 में राष्ट्रपति शासन लागू हो गया । राज्यपाल कुँअर महमूद अली खॉ ने प्रशासन की बागडोर सम्हालते ही समाज में शान्ति का माहौल बनाने और प्रदेश के विकास को गति देने का सार्थक प्रयास किया । इसी बीच सुन्दरलाल पटवा ने जबलपुर हाईकोर्ट में राष्ट्रपति शासन के विरूद्ध याचिका दायर कर दिया और जबलपुर हाईकोर्ट ने राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने को अवैध घोषित कर दिया और पटवा सरकार की बहाली के आदेश तक दिये साथ ही केन्द्र सरकार को सुप्रीम कोर्ट में अपील करने के लिये समय भी दिया । इस बीच केन्द्र ने सुप्रीम कोर्ट में अपील दायर कर दी । सुप्रीम कोर्ट ने हाईकोर्ट के निर्णय को बदलकर केन्द्र सरकार के पक्ष में निर्णय दिया । इस तरह मध्यप्रदेश में 1992-1993 तक राष्ट्रपति शासन लागू रहा । 1993 में मध्यप्रदेश में निर्वाचन हुये और कांग्रेस सत्ता में आई तथा राष्ट्रपति शासन को समाप्त कर दिया गया ।[13]

दिसम्बर माह में जब मध्यप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सम्भावना व्यक्त की जा रही थी । केन्द्रीय मंत्री अर्जुन सिंह प्रधानमंत्री के दूत के रूप में 9 दिसम्बर को प्रदेश की राजधानी भोपाल का दौरा करके गये । अखिल भारतीय कांग्रेस आई कमेटी के महामंत्री एवं मध्यप्रदेश के प्रभारी सुशील कुमार शिन्दे, ऐसे स्पष्ट संकेत दे गये थे, जिनसे प्रदेश में राष्ट्रपति शासन की सम्भावना बढ़ गई थी । श्री अर्जुन सिंह जो कि राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा के अनुरोध पर यहॉ आये थे; ने राज्यपाल कुँअर महमूद अली खान से भी भेंट की । श्री नरसिंहा राव मंत्रिमण्डल में प्रदेश का प्रतिनिधित्व करने वाले समस्त मंत्री एवं सांसदों ने भी राज्य में पटवा सरकार को तुरन्त बर्खास्त कर राष्ट्रपति शासन लागू करने की मांग की थी । मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह ने राष्ट्रपति का संदेश कुँअर महमूद अली खान तक पहुँचाया और उसमें विस्तार से चर्चा की । राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा ने स्वयं भी राज्यपाल से अयोध्या की घटना के बाद

---

[13] दैनिक भास्कर जबलपुर, 11/12/92, पृष्ठ 1

भोपाल और मध्यप्रदेश के अन्य स्थानों की बिगड़ती स्थिति पर विस्तार से चर्चा की । समाचार पत्रों में छपी खबरों के अनुसार दिसम्बर माह (1992) के प्रथम सप्ताह में मध्यप्रदेश के राज्यपाल कुँअर महमूद अली खान ने राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा को जो रिपोर्ट भेजी थी उसमे पटवा सरकार की बर्खास्तगी का स्पष्ट व सीधा सुझाव न देते हुये पुलिस व प्रशासन पर पकड़ न होने का उल्लेख किया था तथा कानून व व्यवस्था में गिरावट की बात पूरे राज्य के सन्दर्भ में कही गयी थी किन्तु इस रिपोर्ट से न तो राष्ट्रपति शर्मा ही प्रसन्न थे और न ही प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव को ही उनका रवैया अच्छा लगा और इधर श्री खान पद पर बने रहने का हर सम्भव प्रयास कर रहे थे और केन्द्र से अपने सम्बन्धो को अच्छा बनाने का प्रयास कर रहे थे ।[14]

हिन्दुस्तान टाइम्स 15/12/92 में यह समाचार छपा कि प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहाराव ने मध्यप्रदेश सहित दो अन्य भाजपा राज्यों पर राष्ट्रपति शासन लागू करने से इन्कार कर दिया था । उनका कहना था कि इन राज्यों में संवैधानिक विफलता कानून और व्यवस्था भंग होने की कोई रिपोर्ट राज्यपालों ने नही दी है । जब तक राज्यपाल ऐसी रिपोर्ट न दे तब तक मध्यप्रदेश सहित 2 अन्य भाजपा राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू नही किया जा सकता अर्थात् उनके अनुसार जब तक कोई राज्य इस क्षेत्र में विफल नही हो जाता और राज्यपाल इस सम्बन्ध में रिपोर्ट नही दे देते, तब तक इनमें राष्ट्रपति शासन लागू नही किया जा सकता । भाजपा राज्यों ने राष्ट्रपति को आश्वस्त किया कि वे प्रतिबन्धित संगठनों के विरूद्ध कार्यवाही करेंगे ।[15] राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा ने मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमांचल प्रदेश की भाजपा सरकारों को राज्यपालों की रिपोर्ट पर बर्खास्त कर दिया; वहॉ विधान सभायें भंग कर प्रशासन अपने हाथों में ले लिया ।केन्द्र के इस अपेक्षित निर्णय का भाजपा को छोड़कर अन्य सभी राजनीतिक दलों ने स्वागत किया, जबकि भाजपा ने इसे लोकतन्त्र की हत्या निरूपित किया ।

15 दिसम्बर, 1992 को तीनों राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया । बी० बी० सी० ने 14 दिसम्बर को 11 बजे रात के समाचार में यह खबर दे दी थी

[14] नवभारत, रायपुर; 12-12-92, पृ० 1

[15] देश बन्धु, रायपुर 11-12-92, पृ० 2

कि मध्यप्रदेश; हिमांचल प्रदेश और राजस्थान की भाजपा सरकारे भंग करने का निर्णय केन्द्रीय मंत्रिमण्डल ने 14 दिसम्बर की रात को ही ले लिया था लेकिन मंत्रिमण्डल के कुछ सदस्य इस निर्णय से खुश नही थे। इसलिये इस निर्णय की घोषणा उसी दिन नही की जा सकी।

14 दिसम्बर की रात को केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के निर्णय के बाद प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव राष्ट्रपति भवन गये और डॉ० शंकर दयाल शर्मा को फैसले की जानकारी दी। इस निर्णय से नाखुश केन्द्रीय मंत्रिमण्डल के मंत्रियों की यह राय थी कि इस निर्णय का लाभ अन्ततः भाजपा को ही मिलेगा।

मध्यप्रदेश विधानसभा भंग किये जाने और राष्ट्रपति शासन लागू करने के खिलाफ प्रदेश के पूर्व मुख्यमंत्री सुन्दरलाल पटवा की याचिका पर 22-01-93 को मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय (जबलपुर) ने केन्द्र सरकार प्रधानमंत्री पी० वी० नरसिंहा राव; केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्री अर्जुन सिंह और मध्यप्रदेश के राज्यपाल को कारण बताओ नोटिस जारी किया गया।

मुख्य न्यायाधीश न्यायमूर्ति एस० के० झा और न्यायमूर्ति नावलकर की खण्डपीठ ने 10 फरवरी तक नोटिसों के जबाव मांगे तथा 11 फरवरी 1993 अगली सुनवाई की तारीख तय की। श्री पटवा ने याचिका में संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने के कदम को भेदभाव पूर्ण बताते हुये इसे रद्द करने की अपील की। इसमें गैर कानूनी गतिविधियॉ निरोधक कानून को भी चुनौती दी गई। याचिका पर फरवरी 1993 को सुनवायी निर्धारित की गई।[16]

मध्यप्रदेश उच्च न्यायालय; जबलपुर ने 2 अप्रैल को दुरगामी महत्व वाले एक फैसले मे गत 15 दिसम्बर को राज्य में सुन्दर लाल पटवा के नेतृत्व वाली भाजपा सरकार की बर्खास्तगी और विधानसभा भंग करने सम्बन्धी राष्ट्रपति के आदेश को निरस्त कर दिया। न्यायाधीश ने इस फेसले में राष्ट्रपति के आदेश को अवैध तथा संविधान के अनुच्छेद 356 की परिधि के परे बताते हुये भंग विधानसभा को पुनः प्रवर्तित करने का आदेश भी दिया। न्यायमूर्ति श्री एस० के० झा, डी० एम० धर्माधिकारी तथा के० एम० अग्रवाल की पीठ

[16] देशबन्धु, 11/12/92, पृष्ठ 12

ने 2-1 के बहुमत से यह फैसला दिया । न्यायमूर्ति अग्रवाल ने विमत का फैसला किया न्यायालय ने कहा राष्ट्रपति शासन की घोषणा गैर कानूनी है और संविधान के अनुच्छेद 356 के बाहर है । न्यायाधीश द्वय ने कहा कि संविधान के अनुच्छेद 356 के तहत प्रदत्त शक्तियों का चूँकि इस मामले में अवैधानिक इस्तेमाल किया गया है अतः राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने की घोषणा रद्द करने योग्य है । न्यायाधीश ने कहा कि राष्ट्रपति शासन को संसद के दोनो सदनों की मंजूरी मिल जाने से कोई अवैध घोषणा वैध नही कही जा सकती । न्यायाधीश द्वय ने कहा कि केन्द्र सरकार के इस तर्क का कोई अर्थ नही है कि उसने राष्ट्रपति शासन के बारे में संसद का अनुमोदन प्राप्त कर लिया था क्योकि संविधान के अनु० 356(3) के अनुसार संसद चाहे अनुमोदन दे या न दे राष्ट्रपति शासन दो माह तक लागू रहेगा ही, संसद तो केवल इस आदेश को 6 माह तक के लिये लागू रखने के लिये अनुमोदन देती है । इससे मंत्रिमण्डल की सन्तुष्टि पर 2 माह तक के लिये लागू राष्ट्रपति शासन पर कोइ फर्क नही पड़ता है । दोनो न्यायाधीशों ने कहा कि किसी भी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने और विधानसभा भंग किये जाने सम्बन्धी राष्ट्रपति के फैसले को बदला नही जा सकता । संसद द्वारा इस आदेश का अनुमोदन भी पूर्व स्थिति बहाल नही कर सकता । इसलिये राष्ट्रपति शासन को जो प्रारम्भ मे दो माह के लिये लागू होता है संसद का अनुमोन वैध या अवैध नही ठहरा सकता । इस निर्णय के खिलाफ केन्द्र सरकार ने 6 अप्रैल को उच्चतम न्यायालय में अपील करने का निर्णय लिया अपील में केन्द्र के पक्ष में निर्णय हुआ और उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति शासन को वैध ठहराया ।

राष्ट्रपति द्वारा संविधान की धारा 356 का प्रयोग करते हुये पिछले लगभग 50 वर्षों में लगभग 92 बार राज्यों के सम्बन्ध में उदघोषणायें की गई किन्तु यह पहला अवसर है जब उच्च न्यायालय द्वारा राष्ट्रपति शासन की उदघोषणा को अवैध ठहराया गया है । कतिपय संविधानिक मामलों के जानकारों के अनुसार राष्ट्रपति की उदघोषणा के मामलों में न्यायालय दो आधार पर ही हस्तक्षेप कर सकता है- एक यह कि उद्घोषणा दुर्भावना से की गयी हो और दूसरे उद्घोषणा में दिये गये कारणों का राष्ट्रपति के समाधान से कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध हो ।

सरकार बर्खास्तगी की पृष्ठभूमि में सुन्दरलाल पटवा ने मध्यावधि चुनाव कराने की मांग की । श्री पटवा ने जबलपुर में संवाददाता सम्मेलन को सम्बोधित करते हुये उच्च्व न्यायालय के फेसले को देश की न्यायपालिका और राजनीति के इतिहास में अभूतपूर्व बताया । श्री पटवा ने कहा कि केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर न्यायाधीश सरकारिया आयोग की रिपोर्ट की संविधान विशेषज्ञों से समीक्षा करवाकर केन्द्र और राज्यों के बीच स्वस्थ सम्बन्ध बनाये रखने के लिये केन्द्र द्वारा क्रियान्वित करना चाहिए । उन्होने कहा संविधान की धारा 356 का इस समय केन्द्र में सत्तासीन पार्टी द्वारा अतीत में अनेको बार दुरूपयोग किया गया है ।[17]

श्री पटवा ने कहा कि धारा 356 का 92 से अधिक बार प्रयोग करके केन्द्र सरकार ने इन संविधानिक प्रावधान का अत्यधिक दुरूपयोग किया है । उन्होने कहा कि केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के बारे में सरकारिया आयोग का प्रतिवेदन सन् 1988 में प्रस्तुत किया जा चुका है ।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धो पर सरकारिया आयोग प्रतिवेदन-

केन्द्र-राज्य सम्बन्धो के सम्पूर्ण ढॉचे पर विचार करने के लिये केन्द्रीय सरकार ने मार्च 1983 में सरकारिया आयोग की नियुक्ति की । तीन सदस्यीय सरकारिया आयोग ने नवम्बर 1987 में अपनी सर्वसम्मत रिपोर्ट सरकार को प्रस्तुत की । आयोग की रिपोर्ट 1600 पृष्ठों की है और चार खण्डों में है । आयोग ने रिपोर्ट का कोई सारांश नही दिया है । आयोग का यह मानना है कि कोई भी सारांश केवल कुछ मुद्दों पर ही प्रकाश डाल सकता है । आयोग चाहता है कि उसकी समूची रिपोर्ट को पढ़ा जाय और उसके निष्कर्षों को सही सन्दर्भ में समझा जाय । सरकारिया आयोग की मुख्य-मुख्य सिफारिशें निम्नलिखित है -

सुदृढ़ केन्द्र की अपरिहार्यता- सरकारिया आयोग केन्द्र के अधिकार कम करने के अधिकतर प्रस्तावों के खिलाफ है । आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि देश की एकता व अखण्डता के लिये मजबूत केन्द्र अनिवार्य है । आनन्दपुर साहिब प्रस्ताव की

---

[17] नवभारत; 04-04-93 पृ० 1

चर्चा किये बिना आयोग ने कहा है कि केन्द्र के अधिकारों पर किसी भी प्रकार का अंकुश लागाना उचित नही है ।

राज्यों में राष्ट्रपति शासन अन्तिम विकल्प के रूप में- आयोग ने कहा है कि किसी राज्य में संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन तभी लागू करना चाहिए जब कोई दूसरा रास्ता न रह गया हो । आयोग के अनुसार यह उपाय बहुत कम अपनाना चाहिए और केन्द्र को तभी हसतक्षेप करना चाहिए, जबकि राज्य का कामकाज संविधान में की गई व्यवस्था के अनुरूप चलाना असम्भव हो जाय । राज्य की समस्या राज्य स्तर पर ही सुलझाई जानी चाहिए । ओर अनुच्छेद 356 का सहारा लेने के पहले यह देखना चाहिए कि क्या कोई और उपाय भी है ।

सरकारिया आयोग का कहना है कि राष्ट्रपति शासन लागू करने के पहले केन्द्र को सम्बन्धित राज्य को इस बारे में चेतावनी देकर स्पष्टीकरण मॉगना चाहिए । निर्णय लेते समय इस स्पष्टीकरण पर विचार करना चाहिए । अगर केन्द्र को लगे कि विदेशी आक्रमण या आन्तरिक गड़बड़ी के कारण किसी राज्य में संवैधानिक व्यवस्था चरमरा रही है तब ही केन्द्र को परिस्थिति से निपटने के लिये अन्य सम्भव उपायों को परखना चाहिए ।

अगर राजनीतिक कारणों से संवैधानिक व्यवस्था दूर रही हो तो राज्यपाल को देखना चाहिए कि क्या विधानसभा में बहुमत वाली सरकार गठित हो सकती है? अगर सरकार की नीति सम्बन्धी किसी प्रश्न पर हार हो जाती है और चुनाव शीघ्र कराये जा सकें तो राज्यपाल को चुनाव तक पुराने मंत्रिमण्डल को कामचलाऊ सरकार के रूप में काम करने देना चाहिए । कामचलाऊ सरकार नीति सम्बन्धी कोई निर्णय नही ले सकती और इस प्रकार राजनीतिक संकट से निकालने की जिम्मेदारी मतदाता की होगी ।

आयोग ने कहा है कि कामचलाऊ सरकार के बारे में अगर यह सब बातें नही हो तो राज्यपाल के लिये चुनाव होने तक काम चलाऊ सरकार को सत्ता सौंपना अनुचित होगा ।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि राष्ट्रपति शासन सम्बन्धी आदेश दो महीने के भीतर संसद के सामने रखना चाहिए । संसद के अनुमोदन के बाद ही विधान सभा भंग

की जानी चाहिए । इसका प्रावधान करने के लिये संविधान के अनुच्छेद 356 में संशोधन करने का भी आयोग का सुझाव है ।

आयोग ने कहा है कि संविधान के अनुच्छेद 352 में जिस प्रकार आपातकाल की घोषणा के बारे में लोकसभा की अनुमति और उस पर विचार करने के लिये लोकसभा का विशेष अधिवेशन बुलाने की व्यवस्था है, वैसी ही व्यवस्था किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन की घोषणा के बारे में भी होनी चाहिए।

आयोग ने कहा है कि राष्ट्रपति शासन की व्यवस्था अपनाने के पीछे जो कारण है वे इसके बारे में की गई घोषणा का अंग होने चाहिए । राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति को भेजी गयी रिपोर्ट भी संसद में रखनी चाहिए । क्योंकि इससे यह स्पष्ट होगा कि किन कारणों से राष्ट्रपति ने यह कदम उठाया है । इससे केन्द्रीय कार्यपालिका पर संसद का नियंन्त्रण अधिक कारगर होगा ।

वित्तीय व्यवस्था- सरकारिया आयोग ने सुझाव दिया है कि योजना आयोग में प्रस्तावित वित्त आयोग प्रकोष्ठ को राज्यों की वित्तीय व्यवस्था को भी नियन्त्रित करना चाहिए । अपने सुझाव मे आयोग ने कहा कि प्रकोष्ठ को वित्त आयोग के मानदण्डों में परिवर्तन का वार्षिक अनुमान भी लगाना चाहिए । इनके बाद योजना आयोग वित्त आयोग के पूर्वानुमानों में परिवर्तन व उसके कारण तथा अन्य की वार्षिक समीक्षा को राष्ट्रीय आर्थिक व विकास परिषद के समक्ष पेश करने में समर्थ होगा ।

आयोग ने प्रकोष्ठ को मजबूत बनाने के भी सुझाव दिये । आयोग ने सुझाव दिया कि यदि प्रकोष्ठ योजना आयोग के वित्तीय संसाधन प्रभारी के अधीन कार्य करता है तो योजना आयोग व वित्त आयोग के बीच अधिक समन्वय हो पायेगा ।

सरकारिया आयोग का मानना है कि वित्त आयोग को अपने कार्य के लिये देश के विभिन्न भागों से विशेषज्ञ नियुक्त करने चाहिए । वित्त आयोग के सचिवालयों में कर्मचारी नियुक्त करने के लिये यदि राज्यो से आवश्यक विशेषज्ञ लिये जाते है तो वह अधिक लाभदायक होगा ।

केन्द्र-राज्य में करों का बंटवारा- आयोग ने सिफारिश की है कि निगम कर के उचित बॅटवारे के लिये संविधान को संशोधित किया जाये । आयोग ने राज्यों की इस मांग

को अस्वीकार कर दिया कि उन्हे उत्पादक के एवज में विक्री कर में अधिक हिस्सा दिया जाये ।

समवर्ती सूची के मामले- आयोग ने सलाह दी है कि समवर्ती सूची के मामलों पर केन्द्र सरकार व राज्यों में विचार विमर्श होना चाहिए; जो कि इस समय नही हो रहा है । संघ सूची में उल्लेखित विषय संख्या 97 जिसमें कि अवशिष्ट विषयों का उल्लेख है; कर लगाने सम्बन्धी मामलों को छोड़कर इसे समवर्ती सूची में रखा जाना चाहिए ।

राज्यों को ऋण- आयोग का मत है कि राज्यों को ऋण देने की पद्धति पर पुनर्विचार किया जाना चाहिए तथा केन्द्र द्वारा प्रायोजित परियोजनाओं की संख्या कम से कम रखी जानी चाहिए । खासकर योजना अवधि के बीच में कोई नयी परियोजना शुरू नही की जानी चाहिए ।

राज्यों में केन्द्रीय रक्षा बल- आयोग ने कहा है कि राज्यों में केन्द्रीय रक्षा बलों को तैनात करने के मामलो में केन्द्र को निर्णय लेने का पूरा अधिकार होना चाहिए यदि आवश्यक हो और केन्द्र सरकार चाहे तो राज्य सरकार की इच्छा के विपरीत भी राज्यों में सुरक्षा बल तैनात कर सकती है ।

अखिल भारतीय सेवा- सरकारिया आयोग ने इन्जीनियरी, चिकित्सा और शिक्षा के लिये अखिल भारतीय सेवा गठित करने का सुझाव दिया है । आयोग ने कृषि, सहकारिता और उद्योग के लिये भी अखिल भारतीय सेवा का गठन करने की सिफारिश की है । इन सेवाओं के गठन के प्रथम चरण के रूप में केन्द्र और विभिन्न राज्यो से अफसर का पूल बनाकर निश्चित अवधि के लिये आकर्षक वेतन पर उसकी नियुक्ति अन्य राज्यों में की जाये ।

पूल प्रणाली के कुछ वर्ष ठीक से काम करने के बाद इस सेक्टर मे अखिल भारतीय सेवा के गठन की दिशा में कदम उठाना चाहिए । आयोग ने कहा है कि अखिल भारतीय सेवाओं को समाप्त करने या किसी राज्य के इससे अलग होने की अनुमति देना देश के व्यापक हित में नही होगा ।

सेवाओं को मजबूत बनाने के लिये केन्द्र और राज्यो में समय-समय पर बातचीत होनी चाहिए, तथा केन्द्र में डेपुटेशन पर अपने अफसरों को भेजने के बारे में राज्यों पर

अनिवार्यता का अंश होना चाहिए, तथा वर्तमान में डेपुटेशन पर भेजे जाने वाले अफसरों की सहमति लेने की प्रक्रिया समाप्त होनी चाहिए ।

योजना आयोग- सरकारिया आयोग इस बात के पक्ष में नही है कि योजना आयोग को स्वतन्त्र सत्ता बना दिया जाये । आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा है कि ऐसे स्वायत्त संगठन का कामकाज कानूनी पचड़ों, अड़ियल रूख और पेंचीदगियों से ग्रस्त होगा । आयोग का यह भी मानना है कि योजना आयोग को केन्द्रीय सरकार के नियंन्त्रण से बाहर नही होना चाहिए ।

रिपोर्ट में कहा गया है कि योजना आयोग को स्वायत्तता देने का विकल्प यह है कि इस संस्था और उसके कामकाज में सुधार लाया जाय । योजना प्रक्रिया के सभी चरणों में योजना आयोग राज्यों से पूर्ण और प्रभावी विचार विमर्श करे ताकि राज्य यह महसूस कर सके कि उनकी भूमिका पूरक नही । बल्कि बराबरी के भागीदार की है ।

सरकारिया आयोग की राय में योजना आयोग से विचार विमर्श के सम्बन्ध में स्वयं परम्परा कायम हो ओर योजना आयोग के सुझावों को समुचित महत्व दिया जाना चाहिए । इससे आयोग पर केन्द्र के प्रभुत्व और उसे केन्द्र सरकार की एक भुजा माने सम्बन्धी सभी शंकाए दूर हो जायेंगी ।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि योजना आयोग का उपाध्यक्ष ख्यातिप्राप्त विशेषज्ञ हो, जो अपनी वस्तुनिष्ठता और प्रसिद्धि से केन्द्र के साथ ही राज्य सरकारों का भी विश्वास प्राप्त कर सके । आयोग का कहना है कि उपाध्यक्ष की नियुक्ति राजनीतिक आधारों पर नही की जानी चाहिए । सुझाव दिया गया है कि योजना आयोग के वस्तुनिष्ठ तरीके से काम करने की क्षमता के प्रति किसी भी सन्देह को दूर करने के लिये आयोग में ऐसे विशेषज्ञों की नियुक्त किया जाये जिनकी पेशेवर निष्ठा और योग्यता की साख स्थापित हो ।

रिपोर्ट में कहा गया है कि बड़े स्तर के निवेश के सभी फैंसलों से पहले योजना आयोग से अवश्य विचार विमर्श किया जाना चाहिए ।

राष्ट्रीय विकास परिषद- सरकारिया आयोग को सुझाव है कि राष्ट्रीय विकास परिषद को और अधिक प्रभावी बनाया जाना चाहिए । ताकि वह केन्द्र और राज्य सरकारों के

बीच राजनीतिक स्तर की सर्वोच्च संस्था हो सके । आयोग के अनुसार इसका पुनर्गठन करके नाम बदलकर 'राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद' कर दिया जाये ।

रिपोर्ट में कहा गया है कि केन्द्र सरकार राष्ट्रीय आर्थिक एवं विकास परिषद से विचार विमर्श कर सभी राज्यों की नगरपालिकाओं और पंचायतों के चुनाव नियमित कर इनमें एकरूपता विकसित करे । आयोग का सुझाव है कि इसके लिये संविधान में संशोधन किया जाये ।

अन्तर्राज्जीय परिषद- सरकारिया आयोग ने संविधान के अनुच्छेद 263 में उल्लिखित अन्तर्राज्जीय परिषद की स्थापना पर जोर दिया है । यह परिषद सामाजिक आर्थिक नियोजन और विकास के अतिरिक्त मसलों पर विचार विमर्श करेगी ।

सर्वोच्च मंत्रिमण्डल- आयोग ने यह भी सिफारिश की है कि एक सर्वोच्च मंत्रिमण्डल बनाया जाये जिसमें प्रधानमंत्री; सभी मंत्री और राज्यों के मुख्यमंत्री सम्मिलित किये जायें । यह सर्वोच्च मंत्रिमण्डल ऐसे मामलों पर विचार करे जो केंन्द्र और राज्यों के साझे हितो से सम्बन्धित हों ।

राज्यपाल- आयोग का सुझाव है कि केन्द्र में तत्तारूढ़ पार्टी के अलावा किसी सरकारी पार्टी द्वारा शासित राज्य में केन्द्र में सत्तारूढ़ पार्टी के किसी व्यक्ति को राज्यपाल नियुक्त नही करना चाहिए । राज्यपाल के पद से निवृत्त होने के बाद किसी व्यक्ति को लाभ का कोई पद नही देना चाहिए । वह उपराष्ट्रपति या राष्ट्रपति का चुनाव लड़ सकता है पर दलगत राजनीति में सक्रिय भाग नही ले सकता ।

सरकारिया आयोग का सुझाव है कि संविधान के अनुच्छेद 155 में संशोधन कर राज्यपाल की नियुक्ति के बारे में राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह मशविरो की व्यवस्था करनी चाहिए ।

राज्यपाल के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की योग्यता के बारे में आयोग ने कहा है कि उसे किसी क्षेत्र में जानी मानी हस्ती होना चाहिए । राज्य की राजनीति में उसका सक्रिय भाग नही होना चाहिए, और उसे तटरूप होना चाहिए । आयोग ने कहा है कि वह ऐसा व्यक्ति होना चाहिए, जिसने राजनीति में सक्रिय भाग और खासकर नियुक्ति के तत्काल पहले सक्रिय भाग नही लिया हो ।

जॉच आयोग- जॉच आयोग की नियुक्ति के अधिकार का दुरूपयोग रोकने के लिये आयोग ने कहा है कि किसी राज्य के मुख्यमंत्री या पूर्व मुख्यमंत्री के विरूद्ध पद के दुरूपयोग के आरोपों की जॉच के लिये आयोग की नियुक्ति के प्रस्ताव पर संसद के दोनो सदनों में मौजूद और मतदान करने वाले सदस्यों के बहुमत का समर्थन होना चाहिए ।

आलोचनात्मक मूल्यांकन-

सरकारिया आयोग के प्रतिवेदन की आलोचना करते हुये कहा गया है कि इनमें केन्द्र तथा राज्यों के सम्बन्धों पर संघात्मक एकता की दृष्टि से विचार नही किया गया है । कमीशन ने राज्यों को शिक्षा, श्रम, विधुत, निवारक अवरोध आदि कोई भी नये विषय हस्तान्तरित करने से इन्कार कर दिया है । ऐसा लगता है कि सरकारिया कमीशन मजबूत और निरंकुश केन्द्र की सार्वभौमिकता को मान्य करके चला है । इसलिए केन्द्र की शक्ति; अधिकार और सत्ता में कही कमी नही आये; यही उसकी धारणा रही है । कमीशन ने नये राज्यों के निर्माण; पुराने राज्यों के पुर्नगठन, राज्यों के स्वयत्त शासन को शक्तिशाली बनाने आदि के बारे में कुछ सोचा ही नही ।

इस प्रकार जो कुछ भी घटित हुआ है उसके परीक्षण में प्रतिवेदन की सिफारिशों को तत्काल लागू करना चाहिए । उन्होने कहा कि उच्च न्यायालय के फैसले से न्यायालय के प्रति विश्वास में बढ़ोत्तरी हुई है । ये नही समझते कि इस फैसले से न्यायालय और संसद के बीच तनाव बढ़ेगा ।

न्यायमूर्ति सरकारिया का मत है कि अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग को रोकने के लिये संविधान में संशोधन करने से कोई लाभ नही मिलेगा वरन् इस सम्बन्ध में स्वस्थ परम्परा विकसित होनी चाहिए । भोपाल में प्रेस को सम्बोधित करते हुये जस्टिस सरकारिया ने कहा कि भारतीय जनता पार्टी की प्रदेश सरकार जिस अनुच्छेद 356 के तहत वर्खास्त की गयी उसका यहॉ कोई आधार नही था । फिर भी जबलपुर उच्च न्यायालय के एक न्यायाधीश द्वारा इस मामले को 1977 के उस मामले के समकक्ष बताया जाना, जिसमें अदालत ने विधायिका के कार्यक्षेत्र में हस्तक्षेप से इन्कार कर दिया था, को न्यायमूर्ति सरकारिया ने विचारणीय बनाया । सरकारिया ने कहा कि प्रत्येक समस्या संविधान में संशोधन से नही सुलझाई जा सकती ।

न्यायमूर्ति सरकारिया ने एक अन्तर्जातीय काउन्सिल बनाने पर बल दिया जो धारा 356 से सम्बन्धित मुद्दों पर विचार करे । उन्होने कहा कि मध्यप्रदेश, हिमांचल प्रदेश और राजस्थान की भाजपा सरकारो को भंग करना अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग था । जस्टिस सरकारिया ने न्यायपालिका, कार्यपालिका व विधायिका में आपस में संवाद पर जोर दिया ।[18]

अनुच्छेद 356 की उपधारा 5 में यह स्पष्ट उल्लेखित है कि राष्ट्रपति के अभिमत को किसी अदालत में चुनौती नही दी जा सकती । फिर ससंद के दोना सदनों की सहमति ली जा चुकी है । ऐसे में इसे अमान्य करना संसद की अवमानना होगी । यह पूछे जाने पर कि क्या सरकार की बहाली हो सकती है उन्होने कहा कि "अभी तो 15 दिन का समय सर्वोच्च न्यायालय जाने के लिये है । वैसे पटवा जी को जनता की अदालत मे जाने से भागना नही चाहिए ।"

न्यायमूर्ति सरकारिया ने भोपाल में कहा कि मध्यप्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू करने वाली राष्ट्रषति की अधिघोषणा को अवैध करार देने सम्बन्धी उच्च न्यायालय का निर्णय उच्चतम न्यायालय द्वारा बरकरार रखे जाने पर भी न तो भंग राज्य विधानसभा पुनः प्रवर्तित ही की जा सकती है और ना ही बर्खास्त मुख्यमंत्री पटवा पुनः पदस्थ हो सकते है । उन्होंने कहा कि वर्तमान स्थिति का एकमात्र हल विधानसभा का पुनः चुनाव कराया जाना है ।

न्यायामूर्ति सरकारिया ने कहा कि संवैधानिक तन्त्र के वास्तव में भंग होने के पूर्व किसी सरकार को वर्खास्त कर देना अनुचित है । मध्यप्रदेश तथा अन्य दो राज्यों की भाजपा सरकारों को बर्खास्त और वहॉ की विधानसभा भंग कर वहॉ राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने सम्बन्धी अधिघोषणाओं की संसद द्वारा जिस ढंग से पुष्टि की गई उसका उल्लेख करते हुये उन्होने सुझाव दिया कि इस तरह की पुष्टि संसद के दो तिहाई बहुमत से कराई जानी चाहिए ।

---

[18] अमृत संदेश 5-5-93 (सम्पादकीय)

यद्यपि अनुच्छेद 356 को संविधान में आपातकालीन प्रावधानों से सम्बन्धित सत्रहवें भाग में शामिल किया गया है । अनुच्छेद 356 के अनुसार आन्तरिक और बाहरी संकटों से राज्यों की रक्षा करना तथा उनके क्रिया कलापों का संविधान सम्मत निर्वाह सुनिश्चित करना केन्द्र का कर्त्तव्य है यदि केन्द्र सरकार अपने प्रयासों में असफल हो जाती है और उसके लिये कुछ कर पाना असम्भव हो जाता है तब वह अनुच्छेद 356 के उपयोग के बारे में सोच सकती है । वैसे सामान्य तौर पर माना जा चुका है कि अतीत में इस धारा का भारी दुरुपयोग हुआ है और इसमें बुनियादी बदलाव की जरूरत है । इसे पूर्णतया निरस्त करने के बजाय संभावित दुरुपयोग को रोकने के लिये इसमें संशोधन करने की आवश्यकता है लेकिन संशोधन का स्वरूप क्या हो यह अब भी बहस का विषय है ।

44वॉ संविधान संशोधन अधिनियम 1978 के द्वारा अनुच्छेद 356 के क्षेत्र को काफी सीमित कर दिया हैं । संसद द्वारा अनुमोदित हो जाने पर आपात उद्घोषणा 6 माह तक प्रवर्तन में रहेगी । एक बार में इस अवधि को 6 माह के लिए बढ़ाया जा सकता है । संशोधन अधिनियम ने एक नया खण्ड (5) जोड़कर यह उपबन्धित किया है कि 1 वर्ष से अधिक अवधि के लिए आपात को जारी रखने वाला संकल्प किसी भी सदन द्वारा तब तक पारित नही किया जायेगा जब तक कि-

(क) ऐसे संकल्प के पारित करते समय आपात उद्घोषणा प्रवर्त्तन में है और

(ख) चुनाव आयोग इस बात का प्रमाण पत्र न संलग्न कर दें कि सम्बन्धित विधानसभा के लिये आम चुनाव कराने में कठिनाई के कारण आपात स्थिति का जारी रहना आवश्यक है ।

इस प्रकार एक वर्ष से अधिक अवधि के लिये आपात को तभी जारी रखा जा सकता है जब चुनाव आयोग का उपर्युक्त परिस्थिति के विद्यमान होने को प्रमाण न प्राप्त हो जाये । इसके पूर्व ऐसी कोई शर्त नही थी और सरकार बिना किसी कारण के इस अवधि को बढ़ाकर अधिकतम सीमा 3वर्ष तक कर दिया करती थी ।

अनुच्छेद 356 के अधीन यह कहा गया है कि ऐसी उद्घोषणा राष्ट्रपति के समाधान के आधार पर की जाती है । 42 संवैधानिक संशोधन 1976 द्वारा 356 में एक परन्तुक् जोड़कर यह स्पष्ट कर दिया गया था कि राष्ट्रपति के समाधान को न्यायालय में चुनौती नही दी जा सकती थी किन्तु 44वें संविधान संशोधन अधिनियम 1978 द्वारा इस परन्तुक्

को पुनः निकाल दिया गया था । इसके परिणामस्वरूप इस मामले में राष्ट्रपति के समाधान का न्यायिक पुर्नविलोकन किया जा सकता है अर्थात् यदि उद्घोषणा दुर्भावना में प्रेरित होकर की गई है या उससे उल्लिखित कारणों का राष्ट्रपति के समाधान से कोई युक्तियुक्त सम्बन्ध नही है तो न्यायालय उसे अवैधानिक घोषित कर सकते है ।

एस० आर० बोम्मई बनाम भारतसंघ[अ] के मामले में उच्चतम न्यायालय के बहुमत न्यायाधीशों का यह अभिमत है कि भारतीय संविधान एक परिसंघात्मक संविधान है और "परिसंघवाद संविधान का आधाभूत ढॉचा है" न्यायमूर्ति श्री सावंत और श्री कुलदीप सिंह ने यह कहा है कि भारतीय संविधान में परिसंघवाद के सिद्धान्त की ही प्रबलता है और इसका किसी तरह से ह्रास नही हुआ है । इस तथ्य के होते हुये भी कि संविधान में ऐसे उपबन्ध है जिनके अधीन केन्द्र को राज्यों पर अभिभावी शक्ति प्रदान की गई है, फिर भी हमारा संविधान परिसंघात्मक है । इसका तात्पर्य यह है कि राज्य अपने क्षेत्र या परिधि के भीतर सम्प्रभु है । राज्यों का स्वतन्त्र अस्तित्व है और उन्हे संघ के लोगो के राजनीतिक, सामाजिक शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक जीवन मे महत्वपूर्ण भूमिका निभानी पड़ती है । वे केन्द्र के न तो उपग्रह है न ही एजेन्ट है । यह तथ्य कि कुछ आपातकालीन परिस्थितियों में उनकी शक्तियों पर केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप किया जाता है । इससे संविधान की परिसंघात्मक प्रकृति के तत्व नष्ट नही होते है ।

उपर्युक्त परिस्थितियों में राज्य की शक्तियों में केन्द्र द्वारा हस्तक्षेप किया जाना हमारे संविधान का सामान्य लक्षण नही है । वे अपवाद स्वरूप है जिनका प्रयोग केवल उन्हे विशेष अवसरों पर किया जाता है । जब विशिष्ट परिस्थियों का सामना करना पड़ता है अपवाद नियम नही होते है ।

संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि भारत का संविधान न तो विशुद्ध परिसंघीय ही है, और न विशुद्ध एकात्मक, बल्कि यह दोनो का समिश्रण है । यह अपने ढंग का एक अनोखा परिसंघ है । यह इस सिद्धान्त को मान्यता प्रदान करता है कि परिसंघीय सिद्धान्त की अपेक्षा देश का हित सर्वापरि है ।[19]

[अ] (1994) 3 एस० सी० सी० 1, पृष्ठ 115

[19] जेनिंग्स : सम कैरेक्टेरिस्टिक्स आफ कांन्स्टिट्यूशन; पृष्ठ 55

एस० आर० बोम्मई बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायाधिशों की पीठ ने यह अभिमत निर्धारित किया है कि अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति द्वारा राज्यों में राष्ट्रघति शासन लागू करने के लिये युक्तियुक्त कारणों का होना एक पूर्ववर्ती शर्त है । न्यायालय इसकी जाँच कर सकते हैं कि क्या वे कारण विद्यमान थे जिनके आधार पर राष्ट्रपति ने उद्घोषणा की थी ।

48वें संविधान अधिनियम 1984 द्वारा अनुच्छेद 356 के खण्ड (5) में एक नया परन्तुक जोड़कर यह स्पष्ट किया गया था कि पंजाब राज्य के मामले में अक्टूबर, 1983 को खण्ड (1) के अधीन जारी की गई उद्घोषणा एक वर्ष के स्थान पर दो वर्ष के लिये लागू रहेगी । पंजाब के मामले में खण्ड (5) की विशेष परिस्थिति का उपबन्ध लागू नही होगा अर्थात् चुनाव आयोग के प्रमाण पत्र के बिना 2 वर्ष तक लागू रहेगी । यह संशोधन पंजाब में अकाली आन्दोलन के कारण चुनाव कराना सम्भव न होने के कारण पारित किया गया था । संविधान के 64वें संशोधन अधिनियम 1989 द्वारा अनुच्छेद 356 में एक नया खण्ड जोड़कर पंजाब में अधिकतम 3 वर्ष के पश्चात 6 माह के लिये राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिये उपबन्ध किया गया । संविधान के 67वें संशोधन अधिनियम; 1990 के द्वारा अनुच्छेद 356(4) में संशोधन करके पंजाब में राष्ट्रपति शासन की अवधि को 6 माह के लिये और बढ़ा दिया गया था फलतः खण्ड (4) में 3 वर्ष 6 माह के स्थान पर 4 वर्ष शब्दावली स्थापित की गई थी । संविधान के 68वें संशोधन अधिनियम 1991 के द्वारा 356(4) के परन्तुक् में पुनः संशोधन करके 4 वर्ष के स्थान पर 5 वर्ष शब्दावली रखी गई थी जबकि पंजाब में चुनाव कराना सम्भव नही था ।

संविधान लागू होने के दिन से लेकर आज तक अनुच्छेद 356 का प्रयोग 100 से अधिक बार किया जा चुका है । अधिकतर मामलों में राष्ट्रपति शासन ऐसी स्थिति में लागू किया गया था जबकि किसी न किसी कारण से एक स्थायी सरकार का गठन सम्भव नही था । 1964 में राष्ट्रपति शासन गुजरात में लागू किया गया जबकि छात्रों के आन्दोलन के फलस्वरूप विधानमण्डल का विघटन किया गया। 1975 में कांग्रेस दल के स्वयं के झगड़ो को निपटाने के लिये उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था । यह अनुच्छेद 356 का सरासर दुरूपयोग था 1976 में अनुच्छेद 356 का प्रयोग तमिलनाडु में किया गया और डी०एम०के० मंत्रिमंडल को इस आधार पर अपदस्थ कर

दिया गया कि उसने केन्द्रीय सरकार के निर्देशों की अवहेलना की है तथा आपात शक्तियों का दुरूपयोग किया है । राज्यपाल महोदय ने राष्ट्रपति को भेजी गई रिपोर्ट में लिखा था कि डी० एम० के० मंत्रिमण्डल के कुप्रबन्ध, भष्टाचारपूर्ण कृत्यों तथा विभेदपूर्ण नीतियों का पालन कर न्याय को ताक पर रख दिया गया है जो जनतांत्रिक प्रशासन की आधारशिला है । केन्द्रीय सरकार का यह कृत्य भी जनतांत्रिक परम्परा एवं सिद्धान्तों के विपरीत ही कहा जा सकता है, लेकिन तमिलनाडु के मंत्रिमण्डल तथा जनता दोनों का पूर्ण विश्वास प्राप्त था । प्रजातंत्र के नाम पर प्रजातंत्र की हत्या करने का यह एक ज्वलन्त उदाहरण है ।

1959 में केरल के कम्युनिष्ट मंत्रिमण्डल को इस आधार पर अपदस्थ कर दिया गया था कि उसने जनता का विश्वास खो दिया है यद्यपि उसे विधानमण्डल के बहुमत का विश्वास प्राप्त था । प्रान्तीय सरकार के विरूद्ध एक जनआन्दोलन उठ खड़ा हुआ और शान्ति व्यवस्था सरकार के नियन्त्रण से बाहर हो गई ।

सन् 1967 में गुजरात और उड़ीसा दो प्रान्तों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । गुजरात में दल-बदल के कारण संविद सरकार के गिर जाने पर उड़ीसा में कांग्रेस दल के झगड़ों को सुलझाने के लिये राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । उड़ीसा में कांग्रेस दल का बहुमत था और मुख्यमंत्री नन्दिनी सतपथी को बहुमत दल का विश्वास प्राप्त था । किन्तु नेता उनसे नाराज थे अतः उन्हे हटाने के लिये राष्ट्रपति शासन लागू किया गया ।

1977 में नौ राज्यों में राष्ट्रपति शासन सन् 1977 में अनुच्छेद 356 को एक विशिष्ट परिस्थितियों में लागू किया गया । 1977 में देश में आभ्यन्तरिक अशान्ति के आधार पर आपात की उद्घोषणा की गई थी आपातकाल की समाप्ति के पश्चात कांग्रेस सरकार ने लोकसभा को भंग करके निर्वाचन की घोषणा की । इस चुनाव में कांग्रेस पार्टी की भारी पराजय हुई और जनता पार्टी को लोकसभा में भारी बहुमत प्राप्त हुआ इस समय अनेक राज्यों में कांग्रेस पार्टी का मंत्रिमण्डल पदासीन था । जनता पार्टी की सरकार ने देश के नौ राज्यों में इस आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू किया कि इन राज्यों में वर्तमान लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस पार्टी के एक भी प्रत्याशी के सफल न होने के कारण वहाँ के मंत्रिमण्डलों ने जनता का विश्वास खो दिया था । लोकसभा के चुनाव में कांग्रेस बिहार, बंगाल, हरियाणा, पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और हिमाचल प्रदेश में उसका

एक भी प्रत्याशी चुनाव में सफल नही हुआ था । लोकसभा में जनता पार्टी को दो तिहाई बहुमत मिल गया। गृहमंत्री ने इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों को एक पत्र लिखा जिसमें उन्होने अनुरोध किया कि वे अपने-अपने राज्यपालों को विधानसभा भंग करने की सलाह दें और राज्यों में चुनाव करायें ।

गृहमंत्री का विचार था कि इन राज्यों की सरकारों में जनता का विश्वास खो दिया है, इसलिये इन्हे इस्तीफा देकर जनता का विश्वास प्राप्त करने के लिये चुनाव कराना चाहिए । गृहमंत्री के इस सुझाव को इन राज्यों के कांग्रेस मंत्रिमंडलों ने अस्वीकार कर दिया। 9 में से 6 राज्यों ने केन्द्रीय सरकार के विरूद्ध उच्चतम न्यायालय में याचिका दाखिल की जिसमें यह तर्क प्रस्तुत किया कि सरकार की विधानसभाओं के भंग करने की धमकी असंवैधानिक थी क्योंकि इस आधार पर विधानसभाओं को भंग करने का संविधान में कोई उपबन्ध नही है । उनका तर्क था कि संविधान के अनुच्छेद 356 में उसका कोई संकेत नही है, और न ही इसके बारे में राज्यों के राज्यपाल की कोई रिपोर्ट राष्ट्रपति के पास भेजी गई थी जो उनके अनुसार आवश्यक थी और गृहमंत्री की कार्यवाही असद्भावनापूर्ण थी तथा मंत्रिमण्डलों को विधानसभाओं में बने रहने का विधिक अधिकार था ।

राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ के मामले में उच्चतम न्यायालय के 7 न्यायाधीशों की विशेष पीठ की सुनवाई को और सर्वसम्मति से राज्यों की अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत फाइल की गई याचिका तथा आदेश करने की प्रार्थना दोनों को अस्वीकार करते हुये यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार द्वारा विधानसभाओं के भंग करने की शक्ति का प्रयोग संविधानिक है । न्यायालय ने कहा कि अनुच्छेद 356 के अधीन कोई आवश्यक नही है कि राष्ट्रपति केवल राज्यपालों की रिपोर्ट पर ही कार्य करे । यदि केन्द्रीय सरकार अन्य कारणों से सन्तुष्ट है कि राज्य सरकारों को संविधान को संविधान के उपबन्धों के अनुसार चलाया जाना सम्भव नही है तो वह राष्ट्रपति को अपदस्थ करने की सलाह दे सकती है । न्यायालय ने इस तर्क को मानने से अस्वीकार कर दिया कि राष्ट्रपति अनुच्छेद 356 के अधीन तब तक कार्यवाही नही कर सकता जब की संसद के दोनों सदनों द्वारा इसका अनुमोदन न कर दिया जाये न्यायालय के अनुसार अनुच्छेद 356 में इस प्रकार की कोई परिसीमा नही है किन्तु न्यायाधिपति श्री

भगवती और गुप्ता ने कहा कि सरकार को विधान सभा को भंग करने की अनुच्छेद 356 में प्राप्त शक्ति मनमानी नही है । न्यायालय ने यह कहा कि यदि समाधान का प्रयोग दुर्भावना से प्रेतित होकर या किसी जोड़ या असम्बद्ध आधार पर किया गया हो तो न्यायालय इसकी जाँच कर सकता है । क्योंकि ऐसे मामले में उसे राष्ट्रपति का समाधान नही कहा जा सकता है । मुख्य न्यायाधिपति श्री चन्द्रचूड़ ने यह सुझाव दिया कि उस मामले में सभी दलों को मिलाकर एक स्वस्थ परम्परा की स्थापना करनी चाहिए ताकि अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत प्राप्त शक्ति का मन-मानेपन से प्रयोग न किया जा सके । ऐसी परम्पराओं की स्थापना न्यायालय नही कर सकता है। यह कार्य सरकार का है ।

नौ राज्यों में राष्ट्रपति शासन सन् 1980 में अनुच्छेद 356 का प्रयोग उन्ही परिस्थितियों में किया गया था और राज्यों उत्तर-प्रदेश, बिहार, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब, उड़ीसा, गुजरात, महाराष्ट्र और तमिलनाडु की जनता पार्टी की सरकारों को इसी आधार पर पद्च्युत किया गया था कि वे जनता का सही प्रतिनिधित्व नही करती है जैसा कि विदित है कि सन् 1977 में केन्द्र में जनता पार्टी की सरकार सत्ता में थी किन्तु आपसी कलह के कारण जनता पार्टी का विघटन हो गया और राष्ट्रपति ने लोकसभा भंग करके मध्यावधि चुनाव की घोषणा कर दिया । 1979 के संसदीय चुनाव में जनता पार्टी को भरी पराजय हुई और कांग्रेस को संसद में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो गया । इस समय उपर्युक्त राज्यों में जनता पार्टी की सरकारें सत्ता में थी । कांग्रेस सरकार ने 18 फरवरी 1980 को, इन सरकारों को पद्च्युत कर इन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया । सरकार के आदेश में किसी कारण का उल्लेख नही किया था । यद्यपि 1977 में जनता सरकार द्वारा अनुच्छेद 356 के प्रयोग और 1980 में इसका कांग्रेस सरकार द्वारा प्रयोग में थोड़ा अन्तर था किन्तु दोनों का उद्देश्य एक ही था- राज्यों में अन्य दलों की सरकारों को पद्च्युत करना । चूँकि जनता सरकार ने राज्यों से कांग्रेस सरकारों को भंग किया था अतः कांग्रेस सरकार ने भी बदले की भावना से और उसी आधार पर राज्यों की जनता सरकारों को पद्च्युत कर दिया था ।

सन् 1982 में दो राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया- पहला केरल और दूसरा असम इन दोनो राज्यों के विधानमण्डलों में सरकार का स्पष्ट बहुमत न होते हुये

भी कांग्रेस दल की सरकारें पदासीन की गई थी । केरल में श्री करूणाकरण के नेतृत्व वाली सरकार प्रारम्भ से ही अल्पमत में थी और विधानमण्डल में अविश्वास के प्रस्ताव पर स्पीकर के मत से विजयी हुई थी कोई भी लोकतांत्रिक सरकार स्पीकर के मत से अपना बहुमत नही कायम रख सकती । स्पीकर एक गैर राजनीतिक व्यक्ति होता है और उसके निर्णायक मत को सदन में किसी महत्वपूर्ण विषय पर विवाद को समाप्त करने के लिये ही प्रयोग किया जा सकता है । सरकार के बहुमत सिद्ध करने के लिये नही, इसी प्रकार असम में श्री गोगई के नेतृत्व में कांग्रेस दल के मंत्रिमण्डल को पदासीन किया गया जो 65 दिन तक अपने पद पर रहा वह भी ऐसे समय में जब असम में जन आन्दोलन के कारण गम्भीर समस्या व्याप्त थी । ऐसी दशा में मंत्रिमण्डल बनाने की सम्भावना न होने पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया ।

सन् 1983 में दो राज्यों पांडिचेरी और पंजाब में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया- पांडिचेरी में 1980 के चुनाव के पश्चात किसी पार्टी को बहुमत न मिलने पर डी०एम०के० और कांग्रेस (इ) ने मिलकर सरकार बनाया किन्तु बाद में कांग्रेस के इस संयुक्त सरकार से बाहर निकल जाने पर उपराज्यपाल ने रिपोर्ट दिया कि कोई भी दल सरकार बनाने की स्थिति में नही है; अतः राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया जाये । 30 सदस्यीय सदन में डी० एम० के० के 13, कांग्रेस के 10, जनता पार्टी के 3 सदस्य थे । डी० एम० के० को जनता पार्टी का समर्थन मिल गया, किन्तु उपराज्यपाल ने उसे नही माना । इससे यह स्पष्ट है कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग सद्‌भावनापूर्ण नही किया गया क्योंकि जब उपराज्यपाल को यह ज्ञात हो गया था कि कांग्रेस की सरकार बनाना सम्भव नही है तो राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश कर दी ।

पंजाब में अक्टूबर 13, 1983 को अकाली आन्दोलन से निपटने के लिये राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । प्रदेश की सरकार ने अकाली आन्दोलन से निपटने के लिये राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । प्रदेश की कांग्रेस सरकार आकाली आन्दोलन को कुचलने में असमर्थ हो गयी थी । 1984 में भारत में सम्मिलित होने के पश्चात प्रथम बार सिक्किम राज्य में विशेष परिस्थितियों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। जनता पार्टी के जीतने पर श्री भण्डारी मुख्यमंत्री नियुक्त किये गये, किन्तु 3 वर्ष बाद अपने सभी समर्थकों के साथ कांग्रेस पार्टी में शामिल हो गये । मुख्यमंत्री और राज्यपाल के सम्बन्ध

पिछले कुछ दिनों में अच्छे नही चल रहे थे । मुख्यमंत्री का आरोप था कि राज्यपाल रोजमर्रा के प्रशासन में हस्तक्षेप करता है । राज्यपाल का आरोप था कि मुख्यमंत्री सरकारी धन व्यक्तिगत और राजनीतिक उद्देश्यों के लिये खर्च कर रहे हैं । राज्यपाल को केन्द्र सरकार का समर्थन प्राप्त था । कांग्रेस उच्च कमान ने उनसे त्यागपत्र देने को कहा तो उन्होने इन्कार कर दिया इस पर राज्यपाल ने उन्हे बर्खास्त कर दिया और गुरुंग को मुख्यमंत्री नियुक्त कर दिया । श्री भण्डारी दिल्ली में ही थे तभी यह कार्यवाही पूरी कर ली गई । इसके कुछ घण्टे पश्चात 28 कांग्रेस विधायकों में से 17 ने पार्टी छोड़ दिया और भण्डारी के नेतृत्व में एक नयी पार्टी सिक्किम संग्राम परिषद बनाया । राज्यपाल की रिपोर्ट पर कि राज्य में संविधान तन्त्र विफल हो गया था राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया । श्री भण्डारी की सरकार को इसलिये पद्च्युत किया गया था कि वे कांग्रेस हाई कमान की कठपुतली नही बन पाये । श्री भण्डारी की जो कुछ व्यक्तिगत कमियाँ रही हों राज्यपाल महोदय का कार्य सराहनीय नही कहा जा सकता है । राज्यपालों का अपने दल की ही सरकारों के गिराने का यह उदाहरण लोकतन्त्र के अनुरूप नही कहा जा सकता है ।

सन् 1988 में नागालैंड में राष्ट्रपति शासन कांग्रेस मंत्रिमण्डल के 13 विधायकों के दलबदल के कारण अल्पमत में आ जाने के आधार पर लागू किया गया था । 13 विधायकों ने एक नया राजनीतिक दल बना लिया था और विपक्ष के साथ सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत किया था । उनका कहना था कि यह दल विभाजन था और उनके साथ 1/3 सदस्य थे अतः दलबदल कानून उनपर लागू नही होता है । राज्यपाल ने एक सप्ताह का समय दिया किन्तु कोई दल स्पष्ट बहुमत दिखाने की स्थिति में नही था । ऐसी स्थिति में स्थायी सरकार सम्भव नही थी । इसी प्रकार 21 अप्रैल 1989 में कर्नाटक में जनता दल की श्री बोम्मई सरकार भी अल्पमत में आने के कारण पद्च्युत कर दी गई और वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । विधानसभा में कुल 224 सदस्य थे जिसमें 111 जनता दल, 65 कांग्रेस, 27 जनता पार्टी, 4 कम्युनिष्ट पार्टी, 2 मार्क्सवादी पार्टी, 2 भा० ज० पा०, 11 निर्दलीय और दो स्थान रिक्त थे । जनता दल के 11 विधायकों ने राज्यपाल के अनुसार विधानसभा में कोई दल सरकार बनाने की स्थिति में नही था ।

विपक्ष द्वारा इस कार्यवाही की बड़ी निन्दा की गई और कहा गया कि यह कदम अलोकतांत्रिक था ।

सन् 1989 में जम्मू और कश्मीर में राष्ट्रपति शासन इस आधार पर लागू किया गया कि क्योंकि राज्य राष्ट्रविरोधी आन्दोलन को दबाने में असफल रही थी ।

नवम्बर 1990 में असम में राष्ट्रपति शासन इस आधार पर लागू किया गया क्योंकि उल्फा आतंकवादियों की गतिविधियों के कारण स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराना सम्भव नही था । विधानसभा का कार्यकाल 8 जनवरी 1990 को समाप्त होने वाला था । केन्द्रीय सरकार के निर्देशों के बावजूद असम सरकार ने राज्य के 8 जिलों को अशान्त घोषित करने से इन्कार कर दिया जिसके फलस्वरूप वहॉ उल्फा की गतिविधियों की रोकथाम के लिये सुरक्षा बलों को नही भेजा जा सका । जो उग्रवादी पकड़े गये उनपर मुकदमा भी नही चलाया गया । इतने के बावजूद राष्ट्रीय मोर्चा सरकार ने श्री प्रफुल्ल कुमार महन्त की सरकार को पद्च्युत नही किया था क्योंकि वे उनके सहयोगी थे ।

13 जनवरी 1991 को पांडिचेरी में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया क्योंकि दलबदल के कारण सरकार अल्पमत में आ गई थी । जनता दल के 3 सदस्यों के जनता दल (स) में चले जाने के कारण डी० एम० के० सरकार अल्पमत में आ गयी थी ।

31 जनवरी 1991 में तमिलनाडु में इस आधार पर राष्ट्रपति शासन लागू किया गया कि लिट्टे की गतिविधियों के कारण सार्वजनिक व्यवस्था बनाये रखने में सरकार असमर्थ थी इस समय केन्द्र में श्री चन्द्र शेखर की सरकार थी जो कांग्रेस के समर्थन पर बनी थी । कांग्रेस के दबाव में आकर तमिलनाडु में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया था । राज्यपाल ने इस सम्बन्ध में कोई रिपोर्ट नही भेजी थी । केन्द्र ने सीधे कार्यवाही की थी । वह अनुच्छेद 356 का सरासर दुरुपयोग था ।

7 अप्रैल 1991 में हरियाणा में राष्ट्रपति शासन उस समय लागू किया गया जब शासन जनता दल के 3 विधायकों को दल बदल कानून के अन्तर्गत सदन की सदस्यता के निरर्ह घोषित कर दिया गया था और ओम प्रकाश चौटाला का मंत्रिमण्डल अल्पमत में हो गया था ।

सन् 1990-91 के दौरान 8 राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, जम्मू और कश्मीर, कर्नाटक, हरियाणा, मेघालय, गोवा, पांडिचेरी, असम और तमिलनाडु ।

जम्मू और कश्मीर में राष्ट्रपति शासन जुलाई 1990 में राज्यपाल शासन समाप्त होने पर लागू किया गया । जम्मू और कश्मीर संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल शासन 6 माह से अधिक नही बढ़ाया जा सकता था राज्य सरकार उग्रवादी गतिविधियों को रोकने में असमर्थ थी । इसलिये प्रशासन को चुस्त बनाने के लिये नये राज्यपाल श्री जगमोहन को नियुक्त किया गया था । मुख्यमंत्री श्री फारूख अब्दुल्ला को एक बहाना मिला और उन्होने राज्यपाल की नियुक्ति के विरोध में त्यागपत्र दे दिया । गोवा में 14 दिसम्बर 1990 को राष्ट्रपति शासन लागू किया गया जब दलबदल के कारण मुख्यमंत्री अल्पमत में आ गये थे कर्नाटक में राष्ट्रपति शासन विचित्र परिस्थितियों में लागू किया गया था, जिसका अभी तक कोई पूर्व दृष्टान्त नही है । 225 सदस्यों के सदन में कांग्रेस के 179 सदस्य थे । मुख्यमंत्री श्री बीरेन्द्र पाटिल काफी दिनों से बीमार चल रहे थे, और प्रशासन का कोई कार्य नही देख पा रहे थे । कांग्रेस हाई कमान ने विधायकों की सभा बुला कर नये नेता का चुनाव करने का निर्देश दिया । किन्तु राज्यपाल श्री भानुप्रताप सिंह ने कांग्रेस विधानमण्डल दल के निर्णय को मानने से इन्कार कर दिया और यह कहा कि बैठक अवैध थी क्योंकि कांग्रेस पार्टी के संविधान के अनुसार केवल श्री पाटिल ही बैठक बुला सकते थे और वह भी 7 दिन की नोटिस देने के पश्चात । श्री पाटिल ने कांग्रेस विधायक दल की बैठक में भाग लिया और यह दावा किया कि उन्हे विधायकों के बहुमत का समर्थन प्राप्त है और विधानसभा भंग करने की सिफारिश की । इन परिस्थितियों में राज्यपाल ने राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की और अक्टूबर 11, 1990 को राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया । कांग्रेस पार्टी का सदन में बहुमत था और कोई राजनीतिक स्थिरता नही थी । राज्यपाल को कांग्रेस पार्टी के आन्तरिक मामलों में दखल देने का कोई अधिकार नही था । बहुमत दल के सदस्य अपने नेता को जब चाहें बदल सकते हैं । राज्यपाल श्री भानुप्रताप सिंह नें वैसा ही व्यवहार किया था जैसा कि आन्ध्रप्रदेश राज्य के पूर्व राज्यपाल श्री रामलाल ने श्री रामाराव के मंत्रिमण्डल को बर्खास्त करके किया था । राष्ट्रीय मोर्चा सरकार के सदस्यों ने उस समय राज्यपाल की कार्यवाही की निन्दा की थी । किन्तु सत्ता में आने के पश्चात वैसे ही व्यवहार किया जैसे कि कांग्रेस पार्टी ने किया था । राज्यपाल के पद का यह सरासर

राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग था । अन्ततः 8 दिनों पश्चात राष्ट्रपति शासन समाप्त कर दिया गया और नये नेता को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई गई ।

12 अक्टूबर 1991 को मेघालय में राष्ट्रपति शासन विचित्र परिस्थिति में लागू किया गया । विधान सभा में जब सरकार अपना बहुमत सिद्ध कर रही थी उसी समय अध्यक्ष ने 4 विधायकों को दलबदल विरोधी कानून के अन्तर्गत निरर्ह घोषित कर दिया और स्वयं निर्णायक मत देकर सरकार को गिरा दिया । जब विपक्ष और सत्ता पक्ष में मत बराबर हो गये तो विधानसभा अध्यक्ष ने अपना निर्णायक मत विपक्ष के पक्ष में दिया और यह निर्पय देकर कि सरकार बहुमत खो चुकी है सदन की बैठक स्थगित कर दी 5 विधायकों ने उच्चतम् न्यायालय में याचिका दायर किया । न्यायालय ने आदेश दिया कि 5 विधायकों को मतदान में भाग लेने दिया जाये किन्तु अध्यक्ष ने इस आदेश को मानने से इन्कार कर दिया और इस प्रकार न्यायपालिका और विधानमण्डल से टकराव की स्थिति उत्पन्न हो गई । ऐसी परिस्थिति में राज्यपाल ने राष्ट्रपति शासन की सिफारिश की । राष्ट्रपति शासन ने इस टकराव को टालने का कार्य किया ।

7 जनवरी 1992 में मणिपुर के मुख्यमंत्री आर० के० रणवीर सिंह के नेतृत्व वाली सरकार के पाँच विधायकों द्वारा समर्थन वापस लिये जाने के कारण अल्पमत में आ जाने के कारण राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । 60 सदस्यों वाले सदन में संयुक्त विधायक मोर्चा के सदस्यों की संख्या घटकर 24 हो गई थी । इसके बावजूद मुख्यमंत्री ने विधानसभा भंग करने की सिफारिश की थी । अप्रैल 1992 में राष्ट्रपति शासन हटा लिया गया और कांग्रेस मंत्रिमण्डल को शपथ दिलाई गई ।

4 अप्रैल को नागालैंड में राष्ट्रपति शासन विचित्र परिस्थितियों में लागू किया गया मुख्यमंत्री ने राज्यपाल से विधानसभा भंग करने और चुनाव कराने की सिफारिश की । राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की सिफारिश मानकर विधानसभा भंग कर दिया और मुख्यमंत्री से चुनाव तक बने रहने के लिये कहा । इसके पश्चात केन्द्र को जो रिपोर्ट भेजा उससे राजनीतिक अस्थिरता और कानून एवं व्यवस्था की उपेक्षा की बात कही थी । केन्द्र ने राज्यपाल के इस रिपोर्ट के आधार पर वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया । क्योंकि ऐसी परिस्थिति में राज्य सरकार संविधान के उपबन्धो के अनुसार नही चलाई जा सकती है ।

मार्च 12, 1993 में त्रिपुरा राज्य में राष्ट्रपति शासन इस आधार पर लागू किया गया क्योंकि त्रिपुरा विधानसभा की अवधि समाप्त हो गयी थी और चुनाव नही कराये गये थे । अवधि की समाप्ति के एक दिन पूर्व मुख्यमंत्री ने त्यागपत्र दे दिया था । राज्यपाल ने अपनी रिपोर्ट में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की थी । ऐसी स्थिति इसलिये उत्पन्न हो गयी थी क्योंकि सरकारी कर्मचारियों के निर्वाचन में दुरुपयोग के आधार पर निर्वाचन आयोग ने फरवरी में होने वाले विधानसभा चुनाव को स्थगित कर दिया था । यह आरोप केन्द्रीय मंत्री श्री सन्तोष देव पर लगाया गया था । अन्त में मार्च 1993 में हुये चुनाव में कांग्रेस पार्टी की भारी पराजय हुई । सरकारिया समिति की सिफारिशें और अनुच्छेद 356 के प्रयोग के लिये सरकारिया समिति ने निम्नलिखित सिफारिश की है:

1. अनुच्छेद 356 का प्रयोग अन्तिम विकल्प होना चाहिए कार्यवाही करने के पूर्व ऐसे राज्यों को चेतावनी देना चाहिए । यह उन दशाओं मे लागू नही होगा जहाँ कार्यवाही न करने के विनाशकारी परिणाम हो सकते हैं ।
2. राज्य की विधानसभाओं को भंग नही किया जाना चाहिए । इसके लिये अनुच्छेद 356 में समुचित संशोधन किया जाना चाहिए ।
3. सारवान तत्व और आधार उद्घोषणा को अन्तिम भाग बना देना चाहिए ।
4. अनुच्छेद 356 के खण्ड (5) में उपखण्ड (क) और (ख) के बीच प्रयुक्त शब्द और के स्थान पर अथवा शब्द रखा जाना चाहिए ।

11 मार्च 1993 को त्रिपुरा में मुख्यमंत्री श्री समीर रंजन की कामचलाऊ सरकार के त्यागपत्र देने के कारण राष्ट्रपति शासन लागू किया गया । 27 फरवरी 1993 को मुख्यमंत्री ने अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र दे दिया था क्योंकि अगले दिन विधानसभा का कार्यकाल समाप्त हो गया । राज्यपाल ने उन्हे विधानसभा के चुनाव होने तक राज्य का कामचलाऊ मुख्यमंत्री के रूप में बने रहने को कहा किन्तु वामपंथियों ने इसका विरोध किया और यह कहा कि चुनाव आयोग ने जिस मुख्यमंत्री को कानून व्यवस्था बनाये रखने में अयोग्य ठहराया है उसे कामचलाऊ सरकार का नेतृत्व करने के लिये कहना अनुचित है । उनका आरोप था कि कांग्रेस (इ) सरकार के रहते राज्य में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष

चुनाव कराना सम्भव नही है । इसपर मुख्यमंत्री ने अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र राज्यपाल को सौंप दिया और राज्यपाल की रिपोर्ट पर राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया ।

सन् 1992 में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन उस समय लागू किया गया जब भाजपा की कल्याण सिंह सरकार विवादस्पद बाबरी मस्जिद की सुरक्षा करने में विफल रही थी, जो कार सेवकों द्वारा ढहा दिया गया था, और सरकार उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न बिगड़ी कानून व्यवस्था को बनाये रखने में विफल रही थी । वस्तुतः मुख्यमंत्री श्री कल्याण सिंह ने राष्ट्रपति शासन लागू किये जाने के पूर्व स्वयं ही अपने मंत्रिमण्डल का त्यागपत्र राज्यपाल को दे दिया था ।

भाजपा शासित तीन राज्यों-मध्य प्रदेश, हिमांचल प्रदेश और राजस्थान में राष्ट्रपति शासन दिसम्बर 1992 को केवल इस आशंका के आधार पर लगाया गया कि बाबरी मस्जिद विवाद के पश्चात राष्ट्रीय सेवक संघ, विश्व हिन्दू परिषद और बजरंग दल आदि धार्मिक संगठनों पर केन्द्र द्वारा लगाये गये प्रतिबन्धों पर समुचित रूप से लागू नही किया जा रहा था । उक्त राज्यों में विधानसभाओं को भी भंग कर दिया गया वस्तुतः इन तीनों राज्यों के राज्यपालों पर दबाव डाल कर अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति शासन लागू करने की रिपोर्ट मांगी गई और राज्यपालों से उन पर हस्ताक्षर करा दिया गया था । रिपोर्ट में यह कहा गया था कि इन राज्यों में संविधान तन्त्र के विफल होने की आशंका है । राज्यों के मुख्यमंत्री केन्द्र के आदेशों का पालन नही कर रहे थे । यह सरासर अनुच्छेद 356 का दुरुपयोग था इसके लागू होने के लिये कोई ठोस आधार नही था । अयोध्या काण्ड के पश्चात कानून व्यवस्था की दशा कांग्रेस शासित राज्यों (गुजरात, बम्बई और आन्ध्र प्रदेश) में भाजपा शासित राज्यों की अपेक्षा बहुत खराब थी । सरकार ने सरकारिया समिति की सिफारिशों पर भी अमल नही किया । जिसमें कहा गया है कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग राजनैतिक संकट, कानून व्यवस्था वास्तविक रूप से विफल होना और केन्द्र के संविधानिक निर्देशों का पालन न करने पर ही किया जाना चाहिए । सरकारिया समिति ने यह कहा था कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग अन्तिम विकल्प होना

चाहिए । कांग्रेस पार्टी पर भी इस पर मतभेद था ।[20] प्रधानमंत्री उक्त कार्यवाही करने से पूर्व कुछ ठोस प्रमाण चाहते थे ।

गृहमंत्री ने इसकी जाँच के लिये एक समिति बैठाने की बात कही थी । रक्षा मंत्री श्री शरद पवार ने विधानसभाओं को भंग न करने की सलाह दी थी । किन्तु उनके वरिष्ठ सहयोगी श्री अर्जुन सिंह का कहना था कि चूँकि उक्त राज्यों के मुख्यमंत्रियों का आर० एस० एस० से सम्बन्ध था और वहाँ से कारसेवक अयोध्या भेजे गये थे अतः निश्चित रूप से वहाँ के मुख्यमंत्री रोक आदेश पर अमल नही करेंगे । श्री अर्जुन सिंह ने अपनी इच्छाओं की पूर्ति के लिये प्रधानमंत्री को उस असंवैधानिक कदम को उठाने के लिये विवश कर दिया । सरकार ने उच्चतम न्यायालय द्वारा *राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ* के मामले में दी गई सलाह को भी नजर अन्दाज कर दिया गया जिसमें कहा गया था कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग दुर्भावनापूर्वक या असम्बद्ध आधारों पर नही किया जाना चाहिए उक्त आशंका ठीक निकली और मध्य प्रदेश उच्च्य न्यायालय ने सुन्दर लाल पटवा बनाम भारत संघ[ब] में 2-1 के बहुमत से अपने ऐतेहासिक निर्णय में यह भी निर्धारित किया कि राष्ट्रपति शासन लागू करने वाला आदेश अवैध था और वह अनुच्छेद 356 की परिधि से बाहर था क्योंकि राज्यपाल की रिपोर्ट में यह नही उल्लिखित था कि राज्य सरकार आर० एस० एस० पर रोक लगाने पर विफल रही थी । राज्यपाल की रिपोर्ट में संविधान तन्त्र के विफल होने के लिये कोई सामग्री नही दी गई थी । केवल इस आधार पर कि अयोध्या काण्ड के पश्चात कुछ स्थानों पर अचानक हिंसा की घटनाएं हुई थी कि राज्य में संविधान तन्त्र विफल हो गया था । न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय दिया कि अवैध आदेश संसद के द्वारा अनुमोदित किये जाने के पश्चात् बैध नही हो जाता है क्योंकि अनुमोदन के पूर्व 2 माह तक ऐसा अवैध आदेश प्रवर्त्तन में रहता है । संसद अनुमोदन करते समय राष्ट्रपति के समाधान की जाँच करती है । अनुमोदन केवल उद्घोषणा की अवधि को बढ़ा देता है ।

---

[20] 12 दिसम्बर, 1992 का हिन्दुस्तान, पृष्ठ 1

[ब] जे० बी० एल० 387 (पूर्णपीठ)

उच्च न्यायालय के निर्णय के विरूद्ध केन्द्र सरकार ने उच्चतम् न्यायालय में विशेष अनुमति याचिका (S.L.P.) दाखिल किया । उच्चतम् न्यायालय ने उच्च न्यायालय के निर्णय के कार्यान्वयन पर रोक लगा दी । उच्चतम न्यायालय ने लगभग 10 माह बाद अपना निर्णय सुनाया और उच्च न्यायालय के निर्णय को उलट दिया यद्यपि अपने निर्णय में उच्च न्यायालय ने कई तर्कों को स्वीकार किया । इस बीच उपर्युक्त तीनों राज्यों में चुनाव करा लिये गये और सरकारे गठित हो गई ।

राष्ट्रपति शासन और न्यायिक पुनर्विलोकन-

एस० आर० बोम्मई बनाम भारत संघ[स] के मामले में उच्चतम न्यायालय के 9 न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने ऐतेहासिक महत्व के निर्णय में यह अभिनिर्धारित किया कि अनुच्छेद 356 के अधीन राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने और विधानसभा को भंग करने की राष्ट्रपति की शक्ति सशर्त है; यह आत्यन्तिक (Absolute) नही है । वह न्यायिक पुनर्विलोकन के अधीन है । यदि विधानसभा का भंग किया जाना अवैध पाया जाता है तो न्यायालय उसे पुनर्जीवित कर सकता है ।

न्यायालय में यह अभिनिर्धारित किया कि 6 दिसम्बर, 1992 को अयोध्या में बाबरी मस्जिद के गिराये जाने के बाद देश में साम्प्रदायिक दंगे फैलने से कानून व्यवस्था भंग होने के कारण तीन राज्यों-मध्यप्रदेश, राजस्थान और हिमांचल प्रदेश की सरकारों को पद्च्युत करना तथा राष्ट्रपति शासन लागू करना था । न्यायालय ने बहुमत से यह निर्णय किया कि- "पंथनिरपेक्षता" संविधान का एक "आधारभूत ढाँचा" है और उपर्युक्त तीन राज्यों की भाजपा सरकारें धर्मनिपेक्षता के आदर्शों के विरूद्ध कार्य कर रही थी अतः उनकी पद्च्युति संवैधानिक थी । न्यायालय ने कहा कि राज्य के मामलों में धर्म का कोई स्थान नही है ।" कोई भी राजनीतिक दल साथ-साथ धार्मिक दल नही हो सकता । राजनीति और धर्म को एक में मिलाया नही जा सकता है । धर्म निरपेक्षता की धारणा हमारे संविधान की प्रस्तावना अनुच्छेद 25 से 28, मे पहले से ही निहित थी । 42वें संशोधन द्वारा इस शब्द को प्रस्तावना में समाविष्ट करके इसे केवल स्पष्ट कर दिया गया है । कोई भी

[स] (1994), 3 एस० सी० सी० ।

राज्य सरकार जो इस पंथ निरपेक्षता के सिद्धान्तों के विरूद्ध कार्य करती है उसके विरूद्ध अनुच्छेद 356 के अधीन कार्यवाही की जा सकती है ।

किन्तु बहुमत ने निर्णय दिया कि तीन अन्य राज्यों में 1988 में नागालैण्ड; 1989 में कर्नाटक और 1991 में मेघालय में राष्ट्रपति शासन लागू किया जाना और विधानसभाओं को भंग किया जाना असंवैधानिक था, किन्तु न्यायालय ने कहा कि चूँकि इन राज्यों में चुनाव करा दिये गये हैं और नई सरकारों का गठन हो चुका है अतः पुरानी विधानसभाओं को पुनर्जीवित करना संभव नही है ।

न्यायालय में बहुमत का निर्णय सुनाते हुये न्यायमूर्ति श्री पी० वी० जीवन रेड्डी ने कहा कि राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की उद्घोषणा का "न्यायिक पुनर्विलोकन" किया जा सकता है और यदि यह पाया जाता है कि अनुच्छेद 356 का प्रयोग दुर्भावना से प्रेरित होकर किया गया था या उसके लिये सामग्री नही थी तो भंग विधानसभा को पुर्नजीवित किया जा सकता है । इस मामले में न्यायालय ने राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ के मामले में दिये निर्णय का अनुसरण किया जिसमें यह निर्णय दिया गया था कि शक्ति न्यायिक पुर्नविलोकन के अधीन है । न्यायालय ने कहा कि राष्ट्रपति शासन लागू होने के साथ विधानसभा को भंग नही किया जा सकता है । राष्ट्रपति संसद के दोनो सदनों द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदित होने के पश्चात ही विधानसभा को भंग कर सकता है, उसके पहले नही । जब तक संसद द्वारा अनुमोदन नही मिलता है राष्ट्रपति विधानसभा को केवल निलम्बित कर सकता है अनुच्छेद 72(2) के संन्दर्भ में बहुमत ने निर्णय दिया कि यद्यपि मंत्रियों द्वारा राष्ट्रपति को दिया गया परामर्श गोपनीय है किन्तु जिस सामग्री के आधार पर मंत्रिमण्डल राष्ट्रपति को सलाह देते है वह सलाह का भाग नही है अतः उसकी न्यायालय द्वारा जाँच की जा सकती है । न्यायालय द्वारा परीक्षण का क्षेत्र सीमित है । वह केवल इस बात का परीक्षण करेगा कि क्या राष्ट्रपति ने जिस सामग्री के आधार पर कार्य किया है वह सुसम्बद्ध है ।

उच्चतम न्यायालय ने राष्ट्रपति शासन लागू करने के सम्बन्ध में जो विशिष्ट मानदण्ड विहित किया है, जिसका पालन करना केन्द्र सरकार के लिए अनिवार्य है वे निम्नलिखित है-

1. अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति के द्वारा किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू और विधानसभा के भंग करने की शक्ति सशर्त है, असीमित नही और उसे यह दिखाना होगा कि अनुच्छेद 356(1) के अधीन वे परिस्थितियॉ अस्तित्व में थी जिसके आधार पर राष्ट्रपति ने कार्यवाही की है ।
2. राष्ट्रपति शासन राज्यपाल की लिखित रिपोर्ट के बिना लागू नही किया जा सकता है ।
3. 'पंथ निरपेक्षता' भारतीय संविधान का आधारभूत ढॉंचा है और यदि कोई सरकार उसके आदर्शों के विरूद्ध कार्य करती है तो वहॉं अनुच्छेद का प्रयोग किया जा सकता है ।
4. विपक्ष द्वारा शासित राज्य सरकारों को एक साथ पदच्युत नही किया जा सकता है।
5. यदि केवल राजनीतिक आधारों पर दुर्भावना से प्रेरित होकर राष्ट्रपति शासन लागू किया जाता है तो न्यायालय विधानसभा को पुर्नर्जीवित कर सकता है ।
6. राष्ट्रपति शासन लागू करना और विधानसभा को भंग करना दोनो एक साथ नही किया जा सकता है । राष्ट्रपति संसद द्वारा उद्घोषणा के अनुमोदन किये जाने के पश्चात ही विधानसभा को भंग कर सकता है जब तक ऐसा अनुमोदन नही हो जाता है राष्ट्रपति विधानसभा को केवल निलम्बित कर सकता है ।
7. उच्चतम न्यायालय और उच्च न्यायालय केन्द्रीय सरकार को अनुच्छेद 74(2) के बावजूद उस सामग्री को बताने के लिये बाध्य कर सकता है । जिसके आधार पर किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करने का परामर्श केन्द्रीय मंत्रिपरिषद राष्ट्रपति को देता है ।
8. किसी राजनीतिक दल का भारी बहुमत से केन्द्र में सत्तारूढ़ होना किसी राज्य में विपक्षी दल की सरकार को पदच्युत करने का कारण नही हो सकता है । उच्चतम् न्यायालय का उक्त निर्णय कि यदि अनुच्छेद 356 के अधीन किसी राज्य में राष्ट्रपति शासन दुर्भावना से प्रेरित होकर राजनीतिक आधारों पर लागू किया जाता है तो न्यायालय उसे न केवल अवैध घोषित कर सकता है वरन् भंग विधानसभा को पुनर्जीवित भी कर सकता है अनुच्छेद 356 के दुरूपयोग पर रोक

लगाने में निश्चित रूप में सहायक होगा । न्यायालय द्वारा अनुच्छेद 356 के प्रयोग के लिये विहित किये गये मार्गदर्शक सिद्धान्त स्वागत योग्य है नागालैण्ड, कर्नाटक और मेघालय में लागू किये गये राष्ट्रपति शासन को न्यायालय ने इस आधार पर अवैध घोषित कर दिया क्योंकि इसके लिये कोई ठोस आधार नही था और अनुच्छेद 356 का प्रयोग राजनीति से प्रेरित होकर किया गया था ।

किन्तु उच्चतम् न्यायालय को इस निर्णय से कि भाजपा द्वारा शासित तीन राज्यों मध्यप्रदेश, हिमांचल प्रदेश, राजस्थान की राज्य सरकारों का पद्च्युत किया जाना संवैधानिक था, सहमत नही हुआ जा सकता है । केन्द्र ने इन सरकारों को इस आधार पर बर्खास्त किया था कि दिसम्बर 1992 को अयोध्या में विवादित बाबरी मस्जिद ढहाये जाने के कारण इस राज्यों में फैले दंगे तथा कानून व्यवस्था भंग हो गई थी और इससे धर्म-निरपेक्षता के आदर्शों का उल्लंघन हुआ था जो संविधान का आधाभूत ढाँचा है । इस राज्यों के मुख्यमंत्री राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ के सदस्य थे और यह आशंका थी कि वे केन्द्र के निर्देशों का पालन नही करेंगे और आर० एस० एस० पर रोक नही लगायेंगे । जबकि इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने यह कहा था कि वे केन्द्र के निर्देशों का पालन कर रहे हैं । हिमांचल प्रदेश में कोई दंगा नही हुआ था । यह भी कहा गया कि इन राज्यों से कार सेवक अयोध्या भेजे गये थे । यह तथ्य है कि असंख्य कार सेवक देश के अन्य राज्यों, आन्ध्र प्रदेश, मुम्बई, बिहार और बंगाल से भी आये थे । केवल इस आशंका पर कि उक्त राज्य केन्द्र के निर्देशों का पालन नही करेंगे; इनमें राष्ट्रपति शासन लागू करना केन्द्र को अत्यधिक शक्ति देना है और इसका दुरूपयोग भविष्य में किया जा सकता है ।

न्यायालय का यह निर्णय कि उक्त राज्य की सरकारों को पंथ-निरपेक्षता के आदर्शों के विरूद्ध कार्य करने के कारण बर्खास्त किया गया था, आलोचना से परे नही है । "पंथ निरपेक्षता" की घोषणा का प्रयोग एकांगी ढंग से नही किया जा सकता है । महाराष्ट्र और गुजरात में साम्प्रदायिक दंगे इन तीनो राज्यों की अपेक्षा कही भयानक थे । क्या इन राज्यों में धर्म-निरपेक्षता की अवहेलना नही हुई थी? पंजाब में अकाली दल सरकार बना चुकी है और आज भी सक्रिय दल के रूप में मौजूद है । अकाली दल में राजनीति और धर्म का अभिन्न संगम है । न्यायाधिपति श्री रेड्डी यह कहते है कि "बहुसंख्यक समुदाय हिन्दुओं को अब यह 'पंथ निरपेक्ष' होना चाहिए और अल्पसंख्यकों

को पंथ निरपेक्ष होने में सहायक होना चाहिए, क्योंकि वही उनको सुरक्षा प्रदान कर सकते है" एच० आर० खन्ना कहते है कि ऐसी स्थिति में यह प्रश्न उठता है कि क्या इन राज्यों के मुख्यमंत्रियों या अन्य मंत्रियों का राष्ट्रीय स्वंसेवक संघ का सदस्य होना राष्ट्रपति शासन लागू करने का आधार हो सकता है वे उसके उस समय से सदस्य है जब वह एक वैध संगठन था । न्यायालय ने कहा कि भाजपा के चुनाव घोषणा पत्र में 1992 की घटना पर कोई खेद नही प्रकट किया गया था । जब न्यायालय के समक्ष यह तथ्य प्रस्तुत किया गया कि राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ पर लगाई गई रोक को अभिकरण द्वारा अवैध घोषित कर दिया गया तो न्यायालय ने कहा कि इसका कोई महत्व नही है । पूर्व न्यायाधिपति श्री खन्ना का यह मत है कि न्यायालय के निर्णय के आधार पर भविष्य में भी यदि भाजपा की सरकार बनती है तो उसे बर्खास्त करना न्योचित हो सकता है यद्यपि भारतीय संविधान ने धर्म निपेक्षता की शासन प्रणाली को अपनाया है किन्तु संविधान के प्रारम्भ से ही हमारे यहॉ अकाली दल, आदि दलों ने सरकार बनाया था किन्तु उन्हे बर्खास्त नही किया गया । लोक प्रतिनिधित्व अधिनियम की धारा 123 केवल चुनाव की प्रक्रिया में धर्म के प्रयोग पर रोक लगाती है । न्यायालय का कोई निर्णय देश की राजनीति के व्यवहारिक पक्ष की उपेक्षा नही कर सकता है । विधि तर्क पर नही अनुभव पर आधारित होती है । जिसका राजनीति व सामाजिक वास्तविकताओं से गहरा सम्बन्ध होता है । संविधान भी शून्य में प्रवर्तित नही किया जा सकता है । मान लीजिये भविष्य में जनता किसी राज्य में बहुमत से चुनाव जीत जाती है तो क्या उसे सरकार बनाने से मना किया जा सकता है । उक्त निर्णय के अनुसार उसे सरकार बनाने से मना किया जा सकता है क्या यह बहुमत मतदाताओं की इच्छाओं को नष्ट नही होगा । क्या यह लोकतन्त्र के मूल तत्व के विरूद्ध नही होगा, जो संविधान का आधारभूत ढॉचा है ।[21]

इस सम्बन्ध में यह ध्यान देने की बात है कि हमारा उच्चतम न्यायलय पाकिस्तान के उच्चतम न्यायालय जैसा साहस दिखने में असफल रहा है । पाकिस्तान के राष्ट्रपति ने जनता द्वारा चुनी गई नवाज शरीफ की केन्द्रीय सरकार को बर्खास्त कर दिया । सुप्रीम कोर्ट ने 15 दिन के भीतर याचिका की सुनवाई करके नवाज शरीफ सरकार की बर्खास्तगी

[21] एच० आर० खन्ना "सुप्रीम कोर्ट जजमेंट आफ आर्टिकिल 356" ए०आई०आर०1994 जर्नल 145.

असंवैधानिक घोषित कर दिया और सरकार और संसद दोनो को फिर से बहाल कर दिया । हमारे उच्चतम् न्यायालय ने 3 माह बाद निर्णय दिया ।

इस बीच इस राज्यों में नये चुनाव करा लिये गये और नई सरकारों का गठन कर लिया गया । इस प्रकार कई बिन्दुओं पर न्यायालय के निर्णय से सहमत होना कठिन है किन्तु इतना कहा जा सकता है कि न्यायालय का उक्त निर्णय प्रशंसनीय है और भविष्य में अनुच्छेद 356 को रोकने में आवश्य सहायक होगा और इस प्रकार हमारी परिसंघ प्रणाली को सशक्त बनाने का कार्य भी करेंगे जिसमें पहले कई दशकों से तनाव उत्पन्न हो गया है विशेष रूप से जब केन्द्र और राज्यों में दो भिन्न दलों की सरकारें सत्ता में रहती हैं ।

जो कुछ भी हो अनुच्छेद 356 का इस प्रकार का राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग किया जाना खतरे से परे नही है । इस मामले में सभी दलों को मिलाकर एक सुस्पष्ट और स्वथ्य परम्परा की स्थापना का प्रयास करना चाहिए । लोकतांत्रिक सरकारों के भंग करने की परम्परा की शुरूआत कांग्रेस सरकार ने ही (केरल में 1959 और तमिलनाडु में 1976) में किया था; इस समय केन्द्र और अनेक राज्यों में कांग्रेस पार्टी की सरकारें पदासीन थी । ऐसी स्थिति में जिस किसी भी पार्टी की सरकार केन्द्र में हो उसके ऊपर ही इस स्वस्थ्य परम्परा के स्थापित करने का उत्तरदायित्व है । इसके अभाव में अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग को रोकना सम्भव नही होगा । 1995 में उत्तर प्रदेश में राष्ट्रपति शासन बोम्मई के मामले के निर्णय के पश्चात 17 अक्टूबर 1995 को उत्तर प्रदेश में उस समय राष्ट्रपति शासन लागू किया गया जब भाजपा के समर्थन वापस लेने पर सुश्री मायावती की बहुजन समाज पार्टी की सरकार अल्पमत में आ गई थी । किन्तु बोम्मई के मामले में दिये निर्णय के आधार पर राज्यपाल ने विधानमण्डल को तत्काल भंग नही किया क्योंकि उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि विधानसभा की उद्घोषणा के संसद द्वारा अनुमोदित हो जाने के पश्चात ही भंग किया जा सकता है । उच्चतम् न्यायालय के निर्णय को मानने का यह परिणाम हुआ कि राजनीतिक दलों में सरकार बनाने की सम्भावना को लेकर होड़ मच गई और विधानसभा के सदस्यों को बलपूर्वक दल-बदल करने के लिये विवश किया जाने लगा । जब सभी दलों ने एक स्वर से सरकार बनाने से मना कर दिया तो विधानसभा को बनाये रखना व्यावहारिक नही

था । अन्त में राज्यपाल को केन्द्र के निर्देश पर संसद के अनुमोदन के बिना ही विधानसभा को भंग करना पड़ा ।

अनुच्छेद 356 किसी अधिकार के स्रोत का सृजन नही करता बल्कि यह तो कर्त्तव्य निर्वाह की प्रक्रिया है । कर्त्तव्य निर्वाह का दायित्व ही राज्य के अधिकार क्षेत्र के पूर्ण अतिक्रमण को भी न्याय संगत सिद्ध करता है । अनुच्छेद 356 का सहारा लगाव व दुराव के नाते नही बल्कि विवशता की स्थिति में किया जाना चाहिए जब कि कोई और चारा न रह जाय । अतीत में इस अनुच्छेद का जिस ढंग से उपयोग किया गया वह देश के लिये सबक है । अनेक अवसरों पर अनुच्छेद 356 का राजनीतिक प्रतिशोध की भावना अथवा केन्द्र में सत्तारूढ़ दल के हितों की सिद्धि के लिये राजनीतिक अस्त्र के रूप में उपयोग किया गया था और इसका सहारा इस बहाने लिया गया कि राज्य में सत्तारूढ़ दल की लोकसभा चुनावों में शर्मनाक हार हुई है ।

इस अनुच्छेद के उपयोग से सम्बन्धित मामलों का एक वर्ग कानून व्यवस्था ध्वस्त होने से सम्बन्धित अगर राज्य सरकार के नियंत्रण से बाहर हो जाये तो, संविधान के अनुच्छेद 356 में बताई राह का अनुसरण करते हुये केन्द्र सरकार की मदद लेनी चाहिए । अमेरिकी संविधान में भी ऐसा ही सुझाव दिया गया है । अगर आन्तरिक उथल-पुथल सशस्त्र विद्रोह का रूप धारण कर लेती है तो उचित उपाय यही है कि प्रभावित क्षेत्र में संविधान के अनुच्छेद 352 के तहत आपातकाल लागू करने की घोषणा कर दी जाय । कानून व्यवस्था का मामला किसी भी स्थिति में संवैधानिक मशीनरी की असफलता के समतुल्य नही माना जा सकता है भ्रष्टाचार और कुशासन को अक्सर इस अनुच्छेद के उपयोग के दूसरे आधार के रूप में इस्तेमाल किया जाता रहा है । ऐसी परिस्थिति को लेकर केन्द्र सरकार क्षुब्ध हो सकती है लेकिन यह भी जनता के आदेश से सत्तारूढ़ और मतदाताओं के प्रति जबावदेह सरकार को अपदस्थ करने का आधार नही हो सकता है तो राज्य सरकार भी केन्द्र में भ्रष्टाचार और कुप्रशासन व्याप्त होने पर उससे सत्ता का त्याग करने को कह सकती है । राजनीतिक अस्थिरता की आड़ में इस अनुच्छेद का उन्मुक्त प्रयोग किया जाता है । अस्थिरता संसदीय व्यवस्था में अंतर्निहित है । इग्लैण्ड भी ऐसी स्थिति का अनुभव कर चुका है ।

एस० आर० बोम्मई बनाम भारत सरकार के मामले में सर्वोच्च न्यायालय ने व्यवस्था दी थी कि कर्नाटक मेघालय और नागालैण्ड में अस्थिरता इस अनुच्छेद के प्रयोग के लिये उचित आधार नही थी । इसके अलावा किसी सूबे की राजनीतिक अस्थिरता केन्द्र सरकार की नही, बल्कि उस राज्य के राज्यपाल की समस्या है । वह राज्य का संवैधानिक प्रमुख होता है और उसे संसदीय लोकतंत्र की परम्पराओं के अनुसार स्थिति को सम्भालना चाहिए । भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत 7 मई 1947 को जारी पंजाब के राज्यपाल का वक्तव्य इस स्थिति पर पर्याप्त प्रकाश डालता है उन्होने वक्तव्य में कहा था, कि संवैधानिक दृष्टि से किसी पर्याप्त अवधि में कोई राज्य बिना सरकार के नही रह सकता है । जब कोई मंत्रिमण्डल इस्तीफा देता है तो सामान्य प्रक्रिया के अनुसार, उसके सदस्यों को तब तक पदारूढ़ रहना चाहिए जब तक कि उनके उत्तराधिकारी सत्ता सम्भालने के लिये तैयार नही हो जाते । इस अवसर पर, गठबन्धन मंत्रिमण्डल के सदस्यों ने पद पर न बने रहने का निर्णय लिया । उनके पदत्याग के कारण उत्पन्न रिक्तता को भरा जाना चाहिए और इसे भरने का तत्काल सम्भव एक मात्र उपाय भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत एक घोषणा के माध्यम से सभी दायित्वों को राज्यपाल को हस्तान्तरित करना ही है ।

संसदीय व्यवस्था में यह राज्यपाल का दायित्व है कि वह उसे सलाह देने के लिये एक मंत्रिमण्डल का गठन करे और ऐसे व्यक्ति को मुख्यमंत्री नियुक्त करे जिसे सदन में विश्वास प्राप्त होने की सर्वाधिक सम्भावना हो । अगर एक के बाद एक गठित मंत्रिमण्डल सदन में विश्वास प्राप्त करने में असफल रहे और राज्यपाल इस निष्कर्ष पर पहुँचता है कि विधानसभा भंग की जानी चाहिए तो वह ऐसा कर सकता है, बशर्ते अन्तिम मंत्रिमण्डल ने ऐसा करने की सिफारिश की हो सामान्यतः ऐसा ही होने की सम्भावना है अन्यथा गतिरोध उत्पन्न हो जायेगा क्योंकि इस समय प्रचलित धारणा के अनुसार मंत्रिमण्डल की सिफारिश के बिना विधानसभा भंग नही की जा सकती । विधानसभा भंग किये जाने की सभी स्थितियों में उसे तत्काल नए चुनावों के लिये आदेश देना होगा और इस अवधि में अन्तिम मंत्रिमण्डल कामचलाऊ सरकार के तौर पर काम करता रहेगा ।

इस समय एक विचित्र रीति प्रचलित है । राज्यपाल उसके द्वारा नियुक्त मुख्यमंत्री से एक निश्चित अवधि के अन्दर सदन में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिये कहता

है । राज्यपाल किसी को केवल इसलिये सत्ता सौपने के लिये बाध्य नही है कि वह सदन में अपना दावा पेश कर सके । इसके अतिरिक्त कोई अल्पसंख्यक सरकार भी तब तक सत्तारूढ़ रह सकती है जब तक उसके विरूद्ध अविश्वास प्रस्ताव प्रस्तुत और पारित नही कर दिया जाता ।

यह सही है कि सार्वजनिक व्यक्तियों में अनुशासन और शालीनता के अभाव के कारण व्यवस्था के सुगम संचालन में बाधाएं उपस्थित हो रही है । विधानसभा परिसर में हिंसा, अपराधिक आरोपों में संलग्न होने के बावजूद पद त्याग करने से मुख्यमंत्री के इनकार और विधायकों को दिये जाने वाले धन एवं पद के प्रलोभनों के कारण संसदीय व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है लेकिन यह कारण अनुच्छेद 356 के प्रयोग के आधार नही बन सकते । वैसे इन राजनीतिक विकृतियों का उपर्युक्त समाधान किया जाना चाहिए । अनुच्छेद 356 का प्रयोग तभी उचित ठहराया जा सकता है जब कोई कामचलाऊ सरकार पदारूढ़ नही की जा सकती और निकट भविष्य में चुनावों का आयोजन संभव न हो । पिछले अनुभव के पुनरीक्षण से निष्कर्ष निकलता है कि अब तक जिन परिस्थितियों में अनुच्छेद 356 का प्रयोग किया गया है उन्हे संविधान में विचारित संवैधानिक मशीनरी की असफलता के समतुल्य नही माना जा सकता और इन मामलों में संविधान की उपेक्षा की गई है ।

भारतीय संविधान की सातवीं अनुसुची के अनुसार लोकसभा; पुलिस राज्य की सूची में आते है इस प्रकार ये दोनो ही चीज मुख्यमंत्री के और राज्य शासन के अधिकार में आते है यदि वहॉ पर लोकव्यवस्था बिगड़ती है तो उसकी जिम्मेदार वहॉ की सरकार होती है और उसके विरूद्ध कार्यवाही विभिन्न नियमों के अनुसार की जा सकती है । एक जिला फैजाबाद के एक अंग अयोध्या में यदि बाबरी मस्जिद ढहाई गई तो उससे केवल एक ही जगह लोक व्यवस्था भंग हुई यह किसी भी रूप में अनुच्छेद 356(1) के प्राविधानों के अन्तर्गत संवैधानिक तन्त्र की विफलता नही कही जा सकती परन्तु केन्द्र सरकार ने इसे अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत लिया । राज्यपाल से रिपोर्ट मांगी और उनकी रिपोर्ट के आ जाने पर राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश राष्ट्रपति से किया जो लागू हुआ और राज्यपाल श्री रेड्डी ने कार्यपालिका शक्ति अपने हाथों में ग्रहण

किया । कहा जाता है कि उन्होने मुख्यमंत्री के कमरे को अपने अधिकार में ले लिया और कार्य करने लगे ।

हिमांचल प्रदेश के राज्यपाल श्री वीरेन्द्र वर्मा, मध्यप्रदेश के राज्यपाल कुंअर महमूद अली खॉ तथा राजस्थान के राज्यपाल श्री एम० चेन्ना रेड्डी से प्रधानमंत्री ने वहॉ की सरकारो को भंग करने के लिये रिपोर्ट मांगी जो प्राप्त हुई । उन्ही रिपोर्ट के आधार पर प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहाराव ने उक्त तीनो राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश की । जिनके कारणों को यहॉ पर बताना आवश्यक नही है । तीनों ही राज्यों में राष्ट्रपति शासन 15 दिसम्बर 1992 को लागू कर दिया गया । हिमांचल प्रदेश में शांताकुमार की सरकार, मध्यप्रदेश में सुन्दरलाल पटवा की सरकार तथा राजस्थान में भैरोसिंह शेखावत की सरकार भंग कर दी गयी और उपरोक्त लिखित राज्यपालों ने कार्यपालिका शक्ति अपने हाथों में ले लिया । उन्होने राज्य के मुख्यमंत्रियों का कमरा अपने कब्जे में किया ।

इस प्रकार से चारों राज्यपालों ने केन्द्र सरकार के मोहरे के रूप मे कार्य किया और अपने वैधानिक दायित्व की कोई भी परवाह नही किया । राष्ट्रपति श्री फखरूद्दीन अली अहमद ने राज्यपाल सम्मेलन में यह विशेष रूप से कहा था कि राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करते हुये राज्यपाल को अपने विवेक को भली भॉति इस्तेमाल करना चाहिए और अन्तिम अस्त्र के रूप में ही राष्ट्रपति शासन लागू करने की सिफारिश करनी चाहिए, परन्तु यह बड़े खेद का विषय है कि उपरोक्त तीना राज्यपाल अपने को केन्द्र का केवल प्रतिनिधि समझे और राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष नही समझे और प्रधानमंत्री के निर्देश पर राज्य सरकारों के भंग करने की सिफारिश । इतना होने पर भी इन चारों राज्यपालों को अपने पूर्ण 5 वर्ष के काल तक कार्य नही करने दिया गया वे सभी इस खुशी में थे कि वे कार्यकारी कार्य प्रधान हो गये हैं । तभी प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहा राव ने वीरेन्द्र वर्मा से इस्तीफा मांगा । उसके बाद कुँअर महमूद अली खॉ से इस्तीफा मांगा । दोनों ने क्रमवार अपने इस्तीफे प्रधानमंत्री को दिये । इनके स्थान पर श्री बलिराम भगत व मुहम्मद शफी कुरैशी को राज्यपाल नियुक्त किया । प्रधानमंत्री श्री नरसिंहा राव ने श्री पी० सत्यनारायण रेड्डी का हस्तानतरण उड़ीसा में राज्यपाल के पद पर कर दिया और श्री एम० चेन्ना रेड्डी का हस्तान्तरण तमिलनाडु में राज्यपाल के पद पर कर दिया । इस

प्रकार दोनों को ही कार्यकारी कार्यपालिका प्रधान नही रहने दिया । श्री वी० सत्यनारायण रेड्डी ने उड़ीसा के राज्यपाल के रूप में मुख्यमंत्री श्री जानकी बल्लभ पटनायक के मंत्रिमण्डल की सलाह पर कार्य किया तथा श्री एम० चेन्नारेड्डी ने तमिलनाडु के राज्यपाल के रूप में संवैधानिक प्रधान की हैसियत से कार्य किया । इनसे वहॉ के मुख्यमंत्री जयललिता से नही बनी जिसका विरोध आगे हुआ ।

उपरोक्त विवेचना से यह साफ-साफ विदित है कि केन्द्र सरकार को विशेषकर प्रधानमंत्री को राज्यपालों की तब तक आवश्यकता है जब तक वे उसकी हॉ में हॉ मिलाते रहते है, और उसके बाद उनके साथ कार्यवाही की जाती है और किसी भी रूप में उन्हे पुरूस्कृत नही किया जाता ।

तमिलनाडु राज्य का विवाद-

तमिलनाडु में श्री भीष्म नारायण सिंह राज्यपाल थे; और सुश्री जयललिता मुख्यमंत्री थीं दोनों में काफी सामंजस्य रहा और उनकी कार्यशैली में कोई भी झगड़ा नही हुआ । प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव ने भीष्म नारायण सिंह का कार्यकाल नही बढ़ाया और उनके स्थान पर श्री एम० चेन्नारेड्डी को राज्यपाल नियुक्त किया । श्री सिंह ने प्रधानंत्री श्री पी० वी० नरसिंहा राव को उनके कार्यकाल के शुरू में सुश्री जयललिता का समर्थ दिलवाया था और ए० आई० ए० डी० एम० के० (A.I.A.D.M.K.) के लोक सभा सदस्यों ने प्रधानमंत्री का समर्थन किया था । ऐसी स्थिति में श्री सिंह को पुरूस्कृत किया जाना था, परन्तु उन्हे कोई पुरस्कार नही दिया गया बल्कि तिरस्कृत किया गया, और आन्ध्रप्रदेश वासी श्री एम० चेन्नारेड्डी को राज्यपाल बनाया । उनको यह आशा रही होगी कि श्री भीष्म नारायण सिंह से ज्यादा वे सुश्री जयललिता का सहयोग उन्हे दिलाते रहेंगे । सुश्री जयललिता एक सुयोग्य महिला थी श्री भीष्म नारायण सिंह ने उन पर कभी भी अंकुश नही लगाया था । प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव का समर्थन करने के कारण उनको एक विशेष स्थान प्राप्त था । श्री रेड्डी के राज्यपाल होने के बाद भी उन्होने अपनी कार्य पद्धति जारी रखी । जिसके विरूद्ध तमिलनाडु के भूतपूर्व मुख्यमंत्री करूणानिधि ने सवाल उठाया ।

दोनो के सम्बन्ध इतने बिगड़े की सुश्री जयललिता ने राज्यपाल श्री एम० चेन्नारेड्डी द्वारा राजभवन में आयोजित गणतन्त्र दिवस समारोह मे 26 जनवरी 1994 को भाग नही

लिया, और बाद में इसी समारोह में 26 जनवरी 1995 को भी भाग नही लिया। गणतन्त्र दिवस समारोह में भाग न लेना एक गम्भीर मामला है साधारण अधिकारी व कर्मचारी ऐसा न करने पर दण्डित किया जा सकता है, परन्तु सुश्री जयललिता के विरूद्ध कोई कार्यवाही नही की गयी राज्यपाल एम० चेन्ना रेड्डी सार्वजनिक रूप से मुख्यमंत्री जयललिता के विरूद्ध बोलते रहे तथा मुख्यमंत्री जयललिता ने राज्यपाल को वापस बुलाने की मांग की। राज्यपाल ने राज्य मे राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिये सिफारिश की लेकिन वहॉ पर राष्ट्रपति शासन भी नही लागू किया गया, न राज्यपाल का हस्तान्तरण किया गया।

केंन्द्रीय सरकार में भूतपूर्व विधि मंत्री तथा जनता पार्टी के प्रधान डॉ० सुब्रहमण्यम स्वामी ने एक प्रार्थनापत्र राज्यपाल श्री रेड्डी को दिया उसमें सुश्री जयललिता पर अपराधिक मुकदमा (Criminal Case) चलाने की अनुमति चाही। पहले तो श्री रेड्डी टालते रहे परन्तु लड़ाई उच्चतम् न्यायलय तक पहुॅची। न्यायालय ने सुब्रहमण्यम स्वामी के प्रार्थना पत्र पर निर्णय देने का आदेश दिया।

राज्यापाल रेड्डी ने अपने आदेश दिनॉक 31 मार्च 1995 से डॉ० सुब्रहमण्यम स्वामी सुश्री जयललिता पर मुकदमा चलाने की अनुमति दी। फिर क्या था लड़ाई और बढ़ गई और खुल कर सबके सामने आ गई।

प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहाराव ने इस कठिन समस्या का निपटारा करने की कोई कोशिश नही की और दोनों के युद्धों को देखते रहे। प्रधानमंत्री श्री जवाहर लाल नेहरू के जमाने में बिहार के राज्यपाल दौलतराम तथा मुख्यमंत्री श्री कृष्णा सिंहा के बीच मतभेद हुये थे। श्री नेहरू ने तुरन्त राज्यपाल दौलतराम को वापस बुला लिया था और यह कहा था कि एक निर्वाचित मुख्यमंत्री नही हटाया जा सकता। यह उचित ही हुआ होता कि श्री रेड्डी को हटा दिया गया होता और सुश्री जयललिता को कार्य करने दिया होता।

राज्यपाल श्री रेड्डी इससे पूर्व उत्तरप्रदेश, पंजाब और राजस्थान के राज्यपाल रह चुके थे और उन्हे इस पद पर कार्य करने का अधिक अनुभव था। वे आन्ध्रप्रदेश के मुख्यमंत्री तथा केन्द्रीय मंत्री भी रह चुके थे।

उत्तर प्रदेश में तथा राजस्थान में उनका मुख्यमंत्रियों से कोई भेदभाव नही था । पंजाब में अवश्य मुख्यमंत्री दरबारा सिंह से भेदभाव विश्वविद्यालय के कुलपतियों की नियुक्ति के सम्बन्ध मे हुये थे, परन्तु वह अधिक कार्यकाल तक कार्य नही कर पाये थे । ऐसे सुयोग्य आदमी के लिये एक ऐसी कार्य पद्धति अपनानी थी कि मुख्यमंत्री से उनका झगड़ा अनावश्यक रूप से न हुआ होता ।

मुख्यमंत्री सुश्री जयललिता को भी उनकी आयु तथा योग्यता की कदर करनी थी और उनसे अनावश्यक ही लड़ाई नही लेनी थी ।

सवाल यह उठता है कि क्या मुख्यमंत्री पर मुकदगा चलाने की अनुमति देना राज्यपाल के लिये उन परिस्थितियों में उचित था । जबकि लोकसभा में 544 सदस्यों में 350 उन पार्टियों के थे जहॉ पर विरोधी दल की सरकारें थी और केवल 194 उन राज्यों से थे जहॉ पर कांग्रेस की सरकारें थी । पहले महाराष्ट्र के मुख्यमंत्री श्री ए० आर० अंतुले पर मुकदमा चलाने का सवाल उठा था उस पर उच्चतम न्यायालय ने यह व्यवस्था दी थी कि मुख्यमंत्री पर मुकदमा चलाने के लिये राज्यपाल की अनुमति आवश्यक है । महाराष्ट्र के तत्कालीन राज्यपाल एअर चीफ मार्शल इदरीस हसन लतीफ के समक्ष यह मामला आया और उन्होने श्री अंतुले के खिलाफ मुकदमा दायर करने की अनुमति दी । यह बताना उचित होगा कि श्री अंतुले कांग्रेस पार्टी के थे जबकि केन्द्र में कांग्रेस पार्टी की प्रधानमंत्री श्रीमती इन्दिरा गांधी की सरकार थी । यहॉ यह बात जरूर है कि राज्यपाल लतीफ ने जिस समय श्री अंतुले पर मुकदमा चलाने की अनुमति दी थी वे उस समय मुख्यमंत्री पद से त्यागपत्र दे चुके थे । इस प्रकार राज्यपाल ने एक भूतपूर्व मुख्यमंत्री पर मुकदमा चलाने की अनुमति दी थी ।

इस मुकदमें से कोई विशेष निष्कर्ष नही निकल सका । शिकायत कर्ता बी० जे० पी० नेता रामदास नायक तथा उनके वरिष्ठ अधिवक्ता श्री रामजेठमलानी में पारस्परिक मतभेद हो गया और उससे कुछ भी नतीजा नही निकल पाया । बाद में श्री अंतुले नरसिंहाराव मंत्रिमण्डल में केन्द्रीय मंत्री भी रहे । श्री रेड्डी की राज्यपाल की हैसियत से कार्यशैली भिन्न थी उन्होने राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा से यह अनुरोध किया कि वह तमिलनाडु में अर्न्तराष्ट्रीय तमिल सम्मेलन में भाग न लें और उन्हें मना सकें, परन्तु वह उपराष्ट्रपति के० आर० नारायणन को नही मना सके और न प्रधानमंत्री को मना सके ।

श्री रेड्डी ने उप राष्ट्रपति तथा प्रधानमंत्री का मद्रास के हवाई अड्डे पर स्वागत करना उचित नहीं समझा और वे मद्रास के बाहर चले गये । दोनो ही श्री रेड्डी के इस व्यवहार से अप्रसन्न हुये होंगे फिर भी उन्होने राज्यपाल के विरूद्ध कोई कार्यवाही नही की ।

मेरा तो ख्याल है कि राज्यपाल श्री रेड्डी ने सुश्री जयललिता पर मुकदमा चलाने की अनुमति देकर एक राजनैतिक कार्य किया और डॉ० सुब्रहमण्यम स्वामी के विचार में बुरी तरह फंस गये । डॉ० स्वामी आपात काल में एक विशेष स्थिति रखते थे वे देश से बाहर चले गये थे और आपातकाल के रहते हुये देश में आये थे, राज्यसभा की कार्यवाही में भाग लिया था और पुनः देश के बाहर चले गये थे । उन्हे कोई गिरफ्तार नही कर सका । डा० स्वामी अनावश्यक रूप से श्री अटल बिहारी बाजपेई, चन्द्रशेखर आदि के खिलाफ चिल्लाने से अपनी मूल स्थिति खो चुके थे ।

राज्यपाल श्री रेड्डी के 31 मार्च 1995 के आदेश के विरूद्ध मुख्यमंत्री सुश्री जयललिता ने मद्रास उच्च न्यायालय में एक रिट याचिका 6 अप्रैल 1995 को दायर किया । जहॉ न्यायमूर्ति श्री शिवराज पाटिल ने यह आदेश दिया कि यह याचिका मुख्य न्यायाधीश के सामने रखी जाये । जो उसे दो सदस्यीय पीठ के सुपुर्द करें । न्यायमूर्ति श्री एम० श्रीनिवासन व न्यायमूर्ति श्री एस० एस० सुब्रहमण्यम की दो सदस्यीय पीठ ने उस रिट याचिका पर सुनवायी की और अपने आदेश दिनॉक 27 अप्रैल सन् 1995 से उसे निरस्त कर दिया ।

मुख्यमंत्री जयललिता ने उच्चतम न्यायालय में इस आदेश के विरूद्ध अपील किया जहॉ पर न्यायमूर्ति एस० सी० अग्रवाल व न्यायामूर्ति जी० एन० रे० की दो सदस्यीय पीठ ने उस पर स्थगन आदेश अपने आदेश 12 मई सन् 1995 से दिया । इस प्रकार भारत में प्रथम बार एक ही राज्य के राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री में कानूनी लड़ाई न्यायालय में पहुँची और सारी चीजें जनता के सामने आयी । राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री मिलकर अंग्रेजी में Governor in Counsel कहलाते है इस प्रकार के झगड़े राज्यपाल तथा मुख्यमंत्री में नही होने चाहिये, यदि अनावश्यक रूप से ऐसे झगड़े पैदा हों तो प्रधानमंत्री केन्द्रीय गृहमंत्री का यह एक दायित्व हो जाता है कि इन झगड़ों को तुरन्त समाप्त करें और भारत की प्रतिष्ठा जो की विश्व का महानतम् प्रजातन्त्र है नष्ट न हो ।

श्री गोपाल स्वरूप पाठक उप राष्ट्रपति (भूतपूर्व राज्यपाल तथा भूतपूर्व केन्द्रीय विधि मंत्री) और राष्ट्र के एक विधिवेत्ता ने कहा था कि, "राज्यपाल केन्द्र और राज्य के बीच में एक कड़ी होता है वह दो रूप में कार्य करता है, वह राज्य का संवैधानिक प्रमुख है इस प्रकार वह मंत्रिमण्डल की राय मानने को बाध्य है उन विषयों को छोड़कर जिनपर वह अपने विवेक से कार्य करता है।"

इस प्रकार राज्यपाल राज्य और केन्द्र सरकारों के बीच में एक अभिन्न कड़ी है।

डॉ० रघुकुल तिलक के मुकदमें में उच्चतम् न्यायालय ने कहा था- ऐसी दशा में जिस पदाधिकारी को यह बड़ी जिम्मेदारी निभानी है उसे काफी समझ बूझकर कार्य करना था। राष्ट्रपति को भी चाहिए था कि इस स्थिति का समाधान करने के लिये प्रधानमंत्री को तुरन्त लिखें या स्वयं समाधान करें। उन्होने ऐसा करने की कोई चेष्टा नही किया। कई राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति की गई उन नियुक्तियों में बड़ी आसानी से श्री रेड्डी को तमिलनाडु से हटाया जा सकता था और किसी अन्य राज्य का राज्यपाल बनाया जा सकता था परन्तु ऐसा नही किया गया। यह बड़े खेद का विषय है। यहाँ पर यह भी बताना उचित होगा कि श्री गुलशेर अहमद मध्य प्रदेश की विधानसभा के भूतपूर्व अध्यक्ष हिमांचल प्रदेश के राज्यपाल थे उनका पुत्र सतना से विधानसभा सदस्य का चुनाव लड़ रहा था ये उनका प्रचार करने सतना आ गये जिस पर मुख्य चुनाव आयुक्त श्री टी० एन० शेषन ने अपनी अप्रसन्नता व्यक्त की और श्री अहमद को राज्यपाल पद से त्यागपत्र देना पड़ा।

श्री एम० चेन्नारेड्डी के विरूद्ध किसी प्रकार की कोई कार्यवाही प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव ने नही की अन्त में जनता से ना रहा गया और मई 1996 के निर्वाचन में उसने सुश्री जयललिता तथा उनकी पार्टी ए० आई० ए० डी० एम० के० (A.I.A.D.M.K.) को चुनाव में हरा दिया। उसके बाद डी० एम० के० (D.M.K.) के अध्यक्ष एम० करूणानिधि मुख्यमंत्री हुये। यह आश्चर्य की बात है कि डॉ० सुब्रहमण्यम स्वामी ने मुख्यमंत्री एम० करूणानिधि के विरूद्ध भी एक प्रार्थनापत्र राज्यपाल श्री एम० चेन्नारेड्डी को दिया कि वे उन्हे एम० करूणानिधि पर मुकदमा दायर करने की अनुमति दें। इसके बाद

ही श्री एम० चेन्नारेड्डी की मृत्यु हो गयी और दोनों ही हट गये, परन्तु अभी भी सर्वोच्च न्यायालय में इनका मुकदमा विचाराधीन है ।

केन्द्र के पास पर्याप्त अधिकार ऐसी समस्या को दूर करने के लिये थे, यदि श्री वीरेन्द्र वर्मा, कुंअर महमूद अली खॉ, गुलशेर अहमद से प्रधानमंत्री नरसिंहाराव इस्तीफा ले सकते थे तो उनको श्री एम० चेन्नारेड्डी से भी इस्तीफा ले लेना था, या जिस प्रकार वे वी० सत्यनारायण रेड्डी का स्थानान्तरण उत्तर प्रदेश से उड़ीसा कर सकते थे और एम० चेन्नारेड्डी का हस्तान्तरण राजस्थान से तमिलनाडु कर सकते थे । उसी प्रकार श्री चेन्नारेड्डी का हस्तान्तरण तमिलनाडु से अन्य राज्य के लिये कर सकते थे या उन्हे अन्य कोई कार्य दे सकते थे पर प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव ने ऐसा नही किया । यह बड़े खेद की बात है कि प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव अपनी सरकार चलाते रहने के लिये सुश्री जयललिता से समर्थन प्राप्त किया था परन्तु सुश्री जयललिता को अपना कार्य करने में सहायता श्री रेड्डी को हटाकर नही किया । श्री रेड्डी एक रोड़े की तरह से तमिलनाडु में बने रहे और सुश्री जयललिता के कार्य में विघ्न बने रहे । जबकि राज्यपाल और मुख्यमंत्री में सहयोग परम आवश्यक है यदि सहयोग न हो तो दोनो में से एक को ही रहना चाहिए । राज्यपाल का हटाया जाना ही अत्यन्त आवश्यक होता है । यदि राज्यपाल प्रधानमंत्री के कहने पर अपना त्यागपत्र अनुच्छेद 156(2) के अन्तर्गत न प्रस्तुत करे तो राष्ट्रपति अनुच्छेद 156(1) के अन्तर्गत अपने अधिकारों का प्रयोग करते हुये उसे हटा सकता है । उसके हटाने में संसद की स्वीकृति की कोई आवश्यकता नही है । राज्यपालों को पहले भी राष्ट्रपति ने अपने इस अधिकार से हटाया है । इतना और बताना उचित होगा कि प्रधानमंत्री श्री वी० पी० सिंह की राय पर तत्कालीन राष्ट्रपति श्री आर० वेंकटरमण ने भारत के समस्त राज्यों के राज्यपालों से उनके इस्तीफे मांगे थे और सभी ने अपने-अपने इस्तीफे उन्हे प्रस्तुत कर दिये थे और उनके स्थान पर नये राज्यपालों की नियुक्ति की थी ।

राष्ट्रपति शासन लागू करके मुख्यमंत्री को हटाया जा सकता है परन्तु यदि उस राष्ट्रपति शासन की स्वीकृति दो महीने के अन्दर संसद के दोनो सदनों से अलग-अलग प्राप्त नही होती है तो राष्ट्रपति शासन स्वयं समाप्त हो जाता है और मुख्यमंत्री अपने पद

पर पुनः आसीन हो जाता है । यह बात प्रधानमंत्री तथा केन्द्र सरकार के लिये शर्मनाक होती है ।

12 फरवरी सन् 1999 को बिहार में राष्ट्रपति शासन अनुच्छेद 356(1) के अन्तर्गत लागू किया गया । जिसका अनुमोदन लोकसभा ने 25 व 26 फरवरी 1999 को दो दिन की बहस के बाद 279:250 मतों से किया, परन्तु कांग्रेस पार्टी ने राज्यसभा में इसको अनुमोदन करने से इन्कार किया प्रधानमंत्री श्री अटल बिहारी बाजपेई ने अपने मंत्रिमण्डल की बैठक में 8 मार्च 1999 को इस बात का निर्णय किया कि वहाँ से राष्ट्रपति का शासन हटा दिया जाये जिस आशय का प्रस्ताव राष्ट्रपति के० आर० नारायणन को भेजा गया उन्होने उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान की और राष्ट्रपति शासन समाप्त हो गया और श्रीमती राबड़ी देवी और उनका मंत्रिमण्डल पुनः पदारूढ़ हो गया ।

तमिलनाडु की घटना वहाँ पर राज्यपाल एम० चेन्नारेड्डी व मुख्यमंत्री सुश्री जयललिता के बीच का तनाव एक खेद जनक बात है । ऐसी दशा में प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहाराव, केन्द्रीय गृहमंत्री श्री एस० वी० चह्वाण तथा मंत्रिमण्डल के सदस्यों का मूकदर्शक बने रहना भी अत्यन्त खेदजनक व शर्मनाक बात है इससे केन्द्र व राज्य के बीच के सम्बन्ध अत्यन्त तनावपूर्ण हो गये । जो कि केवल राज्यपाल को हटाने से या उनका अन्य राज्यों में राज्यपाल के रूप में हस्तान्तरण करने पर या उन्हे कोई और पद देने पर समाप्त हो सकते थे नही समाप्त किया गया । इतिहास तथा इतिहासकार हमेशा प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव की आलोचना करते रहेंगे ।

राष्ट्रपति डॉ० शंकर दयाल शर्मा भी इस आलोचना में सम्पूर्ण रूप से भागीदार कहे जा सकते है । अतः यह स्पष्ट है कि उन्होने अपने संवैधानिक दायित्व का निर्वाह नही किया ।

यद्यपि अनुच्छेद 356 का अनुचित ढंग से सहारा तो लिया गया है उसका प्रयोग और भी अनर्थकारी ढंग से किया गया है । संविधान के अनुसार; इस अनुच्छेद के तहत की गयी उद्घोषणा के परिणामस्वरूप राज्य सरकार सभी दायित्वों और राज्यपाल सभी अधिकारों से वंचित कर दिया जायेगा ।

राज्य की समस्त कार्यकारी शक्तियाँ राज्यपाल में निहित होती है । अनुच्छेद 356 लागू होने के बाद वह वस्तुतः अस्तित्वहीनता की स्थिति प्राप्त कर लेता है । यह अनुच्छेद

356(अ) के शब्दों से स्पष्ट है और अनुच्छेद 357(अ) के प्रावधान से भी ऐसा ही आशय निकलता है । इसमें स्पष्ट तौर पर राज्यपाल का कोई जिक्र नही है अजीब स्थिति है कि अनुच्छेद 356 लागू करने की घोषणा में राज्यपाल के सारे अधिकारों को ग्रहण करने के बाद राष्ट्रपति सम्बन्धित राज्य के राज्यपाल के माध्यम से ही कार्य करने का निर्णय लेता है इस तरह के हैरत में डालने वाले प्रावधान इस तर्क की आड़ में बनाए गये कि ये 'आकस्मिक' है और घोषणा के 'परिणामस्वरूप' अस्तित्व में आये है । लिये जा चुके अधिकार परिणाम या आकस्मिकता के आधार पर कैसे लौटाए जाते है, इनके बारे में अनुमान ही लगाया जा सकता है ।

केन्द्र सरकार इस अनियमितता की दिशा में एक कदम और आगे बढ़ जाती है । वह उद्घोषणा के साथ ही इस आशय का एक आदेश भी जारी करती है कि राष्ट्रपति ग्रहण किये गये जिन अधिकारों की निगरानी, निर्देशन और नियंन्त्रण करेगा । उसका प्रयोग राज्य का राज्यपाल भी कर सकेगा । राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना सम्पूर्ण सत्ता के प्रयोग का अधिकार एक गैर संविधानिक अधिकारी को कैसे सौंपा जा सकता है । अगर राष्ट्रपति और राज्यपाल, दोनो को इन अधिकारों का प्रयोग एक साथ करना है तो उनसे सम्बन्धित क्षेत्रों के बीच स्पष्ट विभाजन रेखा होनी चाहिए नही तो एक मामले में परस्पर विरोधी आदेश जारी किये जा सकते है अथवा कुछ क्षेत्रों की उपेक्षा दोनों से हो सकती है ।

अनुच्छेद 386 के अन्तर्गत राज्यों पर शासन करने का तरीका भी विचित्र है । राज्यपाल को सलाहकारों की टीम दे दी जाती है । यह सलाहकार ही मंत्रियों का दायित्व निभाते हैं, और उनमें विभागों का बंटवारा कर दिया जाता है । आदेश राज्यपाल के नाम से जारी किये जाते हैं, जबकि वास्तव में उन्हे राष्ट्रपति के नाम से जारी किया जाना चाहिए क्योंकि राज्यपाल तो केवल राष्ट्रपति के निर्देश के तहत कार्य कर रहा होता है । इस तरह अनुच्छेद 356 की भावना के विपरीत राज्य में एक छद्म सरकार गठित कर दी जाती है । राष्ट्रपति के आदेश के तहत ऐसी सरकार से बुरी तरह उपनिवेशवादी शासन की गंध आती है । यह सही है कि राज्यपाल को केन्द्रीय गृहमंत्री के निर्देशों के तहत काम करना होता है और गृहमंत्री संसद के प्रति उत्तरदायी होता है लेकिन चूँकि गृहमंत्री की पूर्वानुमति आवश्यक नही होती इसलिये राज्यपाल सर्व शक्तिमान हो जाते है, और

कभी-कभी तो वे इतने दंभी हो जाते है कि गृहमंत्री को ही चुनौती देने लगते है। इन्द्रजीत गुप्त और रोमेश भंडारी के बीच छिड़ा विवाद इस स्थिति का कटु उदाहरण है। दूसरी ओर संसद में राज्यपाल की आलोचना की जाती है और उत्तर देने का अवसर भी नही मिलता। अमरनाथ यात्रा के दौरान हुये हादसे से सम्बन्धित दुर्घटना का दौरा करने के मुद्दे पर जम्मू और कश्मीर के राज्यपाल को ऐसी ही परिस्थिति का सामना करना पड़ा।

इतनी कमियाँ होते हुये भी इस व्यवस्था का जन्म कैसे हुआ। पंजाब में पहली बार राष्ट्रपति शासन लागू होने पर प्रशासन अचंभित रह गया। ऐसा लगता है कि उसके पास कोई उपर्युक्त व्यवस्था विकसित करने का समय नही था। उन्होने भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत ऐसी उद्घोषणा से सम्बन्धित प्रारूप का अनुकरण किया उन्हे वही उपलब्ध था। इसमें कुछ दिखावटी फेरबदल किया गया और यह तथ्य विस्मृत कर दिया गया कि भारत सरकार अधिनियम 1935 के अन्तर्गत राज्यपाल स्वयं सत्ता अधिग्रहण करता था जबकि हमारे संविधान के अन्तर्गत सत्ता राष्ट्रपति ग्रहण करता है। बाद में जब भी ऐसे अवसर आए तो बुद्धि का उपयोग किये बिना पंजाब की नीति ही अपना ली गई। अब समय आ गया है कि उद्घोषणा के मूल पाठ में अनुच्छेद 356 की भावना के अनुरूप संशोधन किये जाये नही तो इसी आधार पर घोषणा को निरस्त किया जा सकता है।

अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य सरकार का संचालन राष्ट्रपति अपनी मंत्रिपरिषद की सलाह के अनुसार करेगा। अगर गृहमंत्री के लिये यह दायित्व संभालना कठिन हो जाता है तो सम्बन्धित राज्य के लिये प्रभारी मंत्री और उपमंत्री की नियुक्ति की जा सकती है। उन्हे सम्बन्धित राज्य में भी तैनात किया जा सकता है। वे संसद के प्रति उत्तरदायी होंगे और यदि आवश्यकता पड़े तो अपने कार्यो का औचित्य सिद्ध करेंगे। ऐसी व्यवस्था होने पर राज्यपाल की इस आधार पर आलोचना नही की जा सकेगी कि उसने सत्ता के लोभ में धारा 356 की शरण लेने की संस्तुति की है।

केन्द्र सरकार भी अपने कंधों पर सम्बन्धित राज्य का दायित्व लेने से पहले बार-बार सोचेगी। इससे केन्द्र सरकार का अनुच्छेद 356 का प्रयोग करने से पहले पर्याप्त सावधानी बरतने की अप्रत्यक्ष प्रेरणा भी मिलेगी। फिर सवाल उठता है कि राज्यपाल का

क्या होगा? वह पूरी तरह शक्तिहीन हो चुका होगा? उसे नयी व्यवस्था के अन्तर्गत राज्यपाल के दायित्व से अलग हटकर कोई और जिम्मेदारी सौंपी जा सकती है । उसे सम्बन्धित राज्य का प्रभारी मंत्री या उपमंत्री बनाया जा सकता है अथवा जब तक विधान सभा अस्तित्व में रहती है तब तक उसे निलंबित रखा जा सकता है । ताकि जब भी घोषणा वापस लेने का निर्णय लिया जाए तो राज्य में नई मंत्रिपरिषद का गठन किया जा सके । यदि ऐसा नही किया जाता तो राज्यपाल पूरी तरह अनावश्यक हो जायेगा । आवश्यकता होने पर इस पद के लिये नई नियुक्ति की जा सकती है । इस उद्घोषणा में बरती जाने वाली एक और अनियमितता विधानसभा भंग किये जाने के बारे में है । बहुधा इस उद्घोषणा के परिणामस्वरूप राष्ट्रपति को विधानसभा भंग करने का अधिकार मिलता है; न कि विधानसभा स्वतः भंग हो जाती है । सामान्यतः घोषणा की अवधि से विधानसभा की आयु अधिक लम्बी होती है । इसके अतिरिक्त संवैधानिक मशीनरी की असफलता के कारण राज्य सरकार को अधिग्रहीत करना एक बात है और विधानसभा भंग करना दूसरी बाद है । अतः राज्य विधानसभा भंग किये जाने के लिये अलग से राय बनायी जानी चाहिए इस घोषणा के आनुवांशिक और परिणामस्वरूप अस्तित्व में आये अनेक प्रावधानों के साथ ही विधानसभा भंग किये जाने के प्रावधानों को नत्थी कर दिये जाने से साबित होगा कि इस सम्बन्ध में बुद्धि का प्रयोग नही किया गया है । नतीजे के तौर पर अदालत इसे निरस्त कर सकती है अगर ऐसा करना आवश्यक हो तो पहले अनुच्छेद 356 से सम्बन्धित घोषणा की जानी चाहिए और फिर अलग से विधानसभा भंग करने से सम्बन्धित तथ्यों पर विचार किया जाना चाहिए ।

इस अनुच्छेद के प्रयोग की त्वरित समीक्षा यह दर्शाती है कि इसमें पर्याप्त सुधार किया जाना चाहिए । सर्वप्रथम तो इस घोषणा को अमल में लाने के दौरान भारत सरकार अधिनियम 1935 के अनुच्छेद 93 में प्रस्तुत माडल को ही आंख मूंदकर नही अपनाना चाहिए बल्कि इसे अनुच्छेद 356 की भावना के अनुरूप ही अमल में लायी जानी चाहिए । इस अनुच्छेद के लागू होने के बाद राज्य प्रशासन में राज्यपाल की कोई भूमिका नही रह जाती ।

दूसरी बात यह है कि इस अनुच्छेद का सहारा केवल संवैधानिक मशीनरी के असफल होने की स्थिति में लिया जाना चाहिए ।

अब यह निश्चित हो चुका है कि अनुच्छेद 356 के प्रयोग का न्यायिक परीक्षण किया जा सकता है । इसलिये उम्मीद की जानी चाहिए कि भविष्य में इसका उपयोग करने में संयम बरता जाय । लेकिन उत्तर प्रदेश की कल्याण सिंह सरकार की बर्खास्तगी के लिये इस अनुच्छेद के उपयोग की नाकाम कोशिश इस उम्मीद को झुठलाती है । दरअसल यह जानने के बावजूद कि मामला अदालत तक जाएगा और अदालत इसे निरस्त कर सकती है । केन्द्र सरकार अपने उद्देश्यों की सिद्धि के लिये यह रास्ता अपना सकती है क्योंकि इस अनुच्छेद को लागू करने की घोषणा और उसे अदालत द्वारा निरस्त किये जाने के बीच की अवधि में उसे राजनीतिक लाभ मिल सकता है । किसी के हाथ में छड़ी देकर यह कहिए कि इसका इस्तेमाल मत करो वह संयोगवश या किसी आकस्मिक कारण से उस छड़ी से जरूर वार कर देगा ।

दूसरी ओर इस उद्घोषणा के न्यायिक परीक्षण को भी आदर्श स्थिति नही माना जा सकता है । उदाहरण के तौर पर अगर अदालत यह आदेश दे देती है और बाद में यह उद्घोषणा न्यायिक दृष्टि से उचित मानी जाती है तो बीच की अवधि में एक अयोग्य सरकार को सत्तारूढ़ रहने का अवसर मिल जायेगा । एक अन्य स्थिति यह हो सकती है कि अदालत कोई शासनादेश न दे और बाद में उद्घोषणा को निरस्त कर दिया जाये तो बर्खास्त की गई सरकार फिर सत्ता पर काबिज़ हो जायेगी । ऐसी हालत में दुबारा सत्तारूढ़ हुई सरकार अंतरिम सरकार के किए-कराए को धोने पोंछने में ही अपनी सारी ताकत जाया कर देगी । सरकार के असंतुष्ट लोग अदालतों से मांग करने लगे कि वे एक कदम और आगे बढ़ कर केन्द्र सरकार को सम्बन्धित राज्य का प्रशासन सम्भालने का निर्देश दें । ऐसी स्थिति में अदालती निर्णय होने तक राज्य सरकार के भाग्य पर अनिश्चितता की तलवार लटकती रहेगी । फिलहाल न्यायिक परीक्षण ऐसी उद्घोषणाओं की बारंबारता रोकने के लिये एक प्रणाली अंकुश है लेकिन समस्या का स्थायी समाधान अभी ढूंढ़ा जाना है ।

हमारे सामने दो विकल्प है । पहला विकल्प तो यह है कि अनुच्छेद 356 को संविधान से हटा दिया जाय । दूसरा विकल्प इस अनुच्छेद में उपर्युक्त संशोधन करना है फिलहाल सामान्य संशोधन ही किये जाने चाहिए । क्योंकि भविष्य के गर्भ में छिपी

स्थितियों के अनुरूप इसमें नये प्रावधानों को शामिल किये जाने की आवश्यकता भी महसूस हो सकती है ।

परन्तु नये प्रावधानों का दुरूपयोग कैसे रोका जाये । इसके लिये सामान्य नियम की विस्तृत व्याख्या की जा सकती है लेकिन सीमायें नहीं तय की जानी चाहिए । हॉ, उन परिस्थितियों का उल्लेख किया जा सकता है जिनमें इन प्रावधानों का सहारा न लिया जाये । भारतीय राजनीतिक जीवन के अनुभव इस व्याख्या के लिये पर्याप्त सामग्री उपलब्ध करा सकते है । इस उपाय से कम अतीत में हुई क्षति के दुराव से बचा जा सकता है ।

हाल के अनुभव बताते है कि केन्द्र में भी संवैधानिक मशीनरी विफल हो सकती है अतः अगर अनुच्छेद 356 को किसी न किसी रूप में कायम रखा जाता है तो इसमें केन्द्र से सम्बन्धित प्रावधान भी शामिल किये जा सकते हैं और अतीत की तरह इसका दुरूपयोग न किये जाने की संभावना बढ़ेगी । एक और लाभ यह होगा कि इस अनुच्छेद के तहत की गई कार्यवाही को केन्द्र राज्य के बीच चलने वाले राजनीतिक खेल के रूप में नही देखा जायेगा । दुर्भाग्य से मौजुदा दौर में इसने यही स्वरूप ग्रहण कर लिया है ।

केन्द्रीय गृहमंत्री लाल कृष्ण आडवाली ने कहा कि राष्ट्रपति शासन लागू करने से सम्बन्धित अनुच्छेद 356 को समाप्त किये जाने या उसमें संशोधन किये जाने की मांगो से सरकार अच्छी तरह वाकिफ है और अन्तर्राज्यीय परिषद की बैठकों में इस मुद्दे पर आम सहमति न बन पाने के कारण यह सुझाव दिया गया था कि अन्तर्राज्यीय परिषद में यह मुद्दा उठाये जाने के पूर्व परिषद की स्थायी समिति पर बहस होनी चाहिए ।[22]

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 1 में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है जिसमें केन्द्र को अधिक शक्तिशाली बनाया गया है सत्ता का सर्वोच्च पद राष्ट्रपति को दिया गया जो देश की एकता अखण्डता की रक्षा करते हुये मंत्रिमण्डल की सहायता से देश का शासन चलाये । परन्तु समस्या उस समय आती है जब राष्ट्रपति को जनता द्वारा चुनी सरकार अर्थात मंत्रिमण्डल अपनी उचित अनुचित इच्छा के अनुसार देश का शासन चलाने

---

[22] दैनिक जागरण - 8 जुलाई 1998, वाराणसी; पृष्ठ-1

हेतु बाध्य करती है । भारतीय संघ व्यवस्था को राज्यों में राष्ट्रपति शासन लागू करने की विधि को लेकर सदैव आलोचना होती रही है; क्योंकि केन्द्र सरकार राज्य के राज्यपाल के माध्यम से राज्य की सरकारों को अनुच्छेद 356 का सहारा लेकर निरस्त करती रही है । ऐसा अधिकांशतः राजनीतिक उद्देश्य के लिये किया जाता रहा है । संविधान निर्माताओं ने अनुच्छेद 356 का उद्देश्य राज्यों में कानून व्यवस्था को बनाये रखने तथा वहाँ सांविधानिक सरकार की स्थिरता स्थापित करने के लिये प्रयोग करना था अनुच्छेद 356 के द्वारा अभी हाल में हिमांचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान तथा उत्तर प्रदेश की सरकारों को निरस्त करके राष्ट्रपति शासन लागू किया गया है । जिसकी अत्यधिक आलोचना हुई है । प्रधानमंत्री श्री पी० वी० नरसिंहाराव ने अनुच्छेद 356 की पुनः व्याख्या करने के लिये कहा ।

संविधान के अनुच्छेद 356 के अनुसार राज्यों में सांविधानिक तंत्र के विफल होने की दशा में राष्ट्रपति द्वारा उपबन्ध किया जायेगा । परन्तु यदि राष्ट्रपति संविधानिक नियमों के अनुसार चलता है तो ठीक है लेकिन अगर प्रधानमंत्री मंत्रिपरिषद के राजनीतिक उद्देश्य के लिये आपात स्थिति की घोषणा करता है तो उचित माना जाये या नही यह विचारणीय प्रश्न है । दिसम्बर 1992 में घटी घटनाओं के बाद उत्तर प्रदेश सहित चार राज्यों की विपक्षी सरकारों की राष्ट्रपति शासन की उद्घोषणा के बाद बर्खास्तगी ने अनुच्छेद 356 पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है, क्या अनुच्छेद 356 का प्रयोग केन्द्र सरकार के अमोघ अस्त्र के रूप में किया जाता है, क्या इसके द्वारा विपक्षी दलों की सरकारों से वैमनस्यता निकाली जाती है, आखिर इसका वास्तविक अर्थ व उपयोग क्या है और किसके द्वारा कम किया जा सकता है । राज्यों में संवैधानिक तन्त्र विफल होने की स्थिति में यदि राष्ट्रपति किसी राज्य के राज्यपाल से यह प्रतिवेदन मिलने पर कि राज्य में ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गयी है कि उसका शासन संविधान के उपबन्धों के अनुसार नही चलाया जा सकता या ऐसा स्वयं के द्वारा अनुभव किया जाये तो राष्ट्रपति अपनी उद्घोषणा द्वारा-

1- (क) उस राज्य की सरकार के कोई या सभी कृत्य और राज्यपाल में या राज्य के विधानमण्डल से भिन्न राज्य के किसी निकाय या प्राधिकारी में निहित या उसके द्वारा प्रयोक्तव्य सभी या कोई शक्तियॉ अपने हाथ में ले लेगा ।

(ख) यह घोषणा कर सकेगा कि राज्य के विधानमण्डल की शक्तियॉं संसद द्वारा या उसके प्राधिकार के अधीन प्रयोक्तव्य होंगी ।

(ग) राज्य के किसी निकाय प्राधिकारी से सम्बन्धित इस संविधान के किन्ही उपबन्धों के प्रवर्तन को पूर्णतः या अंशतः निलम्बित करने के लिये उपबन्धों सहित ऐसे आनुषंगिक और परिमाणिक उपबन्ध कर सकेगा जो उद्‌घोषणा के उद्देश्यों को प्रभावी करने के लिये राष्ट्रपति को आवश्यक या वांछनीय प्रतीत हो, परन्तु इस खंड की कोई बात राष्ट्रपति को उच्च न्यायालय में निहित किसी शक्ति को अपने हाथ में लेने से सम्बन्धित इस संविधान के किसी उपबन्ध को पूर्णतः या अंशतः निलम्बित करने के लिये प्राधिकृत नही है ।

2- ऐसी कोई घोषणा किसी पश्चातवर्ती घोषणा द्वारा वापस ली जा सकेगी व उसमें परिवर्तन किया जा सकेगा ।

3- इस अनुच्छेद के तहत की गई घोषणा अनुमोदन के लिये सदन के समक्ष रखी जायेगी । दोनो सदनों का अनुमोदन दो मास में प्राप्त हो जाना चाहिए ।

4- ऐसी उद्‌घोषणा को स्वीकृति मिल जाने पर छः मास तक प्रवर्तन में रहेगी लेकिन यह किसी भी दशा में कुल तीन वर्ष से अधिक नही रहेगी ।

5- यदि उद्‌घोषणा बढ़ाने की आवश्यकता है तो उसे तभी बढ़ाई जा सकती है जब राष्ट्रपति शासन हो एवं निर्वाचन आयोग चुनाव न करा सकने का अपना प्रमाण पत्र दे दें ।

अनुच्छेद 356 का प्रयोग यद्यपि राष्ट्रपति करता है लेकिन वह प्रधानमंत्री की सलाह से करता है या प्रधानमंत्री या मंत्रीपरिषद के दबाव में आकर करता है । यह भी प्रश्न अपने आप में अति महत्वपूर्ण है । इसलिये 356 के तहत जारी उद्‌घोषणा का न्यायिक पुर्नरावलोकन किसी भी आधार पर नही हो सकता है, परन्तु यह प्रतिबन्ध हटा लिया गया है और इसका प्रयोग न्याय-संगत है या नही, निम्नलिखित आधारों पर देखा जा सकता है:

संविधान के द्वारा प्रदत्त अनुच्छेद 356 में दी गई शक्तियों की उद्‌घोषणा से कोई सम्बन्ध है या नही, अर्थात जो कारण राष्ट्रपति ने बताये हैं और जो अनुच्छेद 356 के निवारण का प्रयोग करके किया गया है । इसमें कुछ सम्बन्ध होना आवश्यक है, नही तो

प्रयोग असंगत है । न्यायोत्तर है । दिसम्बर माह की घटनाओं में धारा 356 के तहत जारी उद्घोषणा की आवश्यकता नही थी क्योंकि वास्तविक स्थिति शासनतंत्र के स्वतः प्रख्लन से स्पष्ट होती है । दबाव से नही । उक्त घटनाओं में राज्यपालों पर दबाव डाला गया कि वे राज्य सरकारों के खिलाफ रिपोर्ट राष्ट्रपति को दे ।

राजस्थान बनाम भारत संघ के वाद (1977) में उच्चतम न्यायालय ने पद संख्या 1361 में न्यायमूर्ति एस० चन्द्रचूढ़ ने अपने निर्णय में कहा कि अनुच्छेद 356 की शक्ति का प्रयोग सद्भावनापूर्ण ढंग से होना चाहिए । यदि दुर्भावपूर्ण है तो विधि में इसका कोई अस्तित्व नही है ।

अनुच्छेद 356 के अधीन राष्ट्रपति राज्यों में विधानमण्डलों को भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू कर सकता है । यह निर्णय राष्ट्रपति के व्यक्तिपरक समाधान पर आधारित है तथा राष्ट्रपति इसके लिये कारण बताने के लिये बाध्य नही है । अतः न्यायालय यह जांच नही कर सकता कि उद्घोषणा को उचित ठहराने के लिये उचित परिस्थितियॉ विद्यमान थी अथवा नही । जनता पार्टी के शासन में आने पर तत्कालीन प्रधानमंत्री मोरारजी देसाई के अनुसार नौ राज्यों की कांग्रेस सरकारों (बिहार, हरियाणा, हिमांचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, राजस्थान, उत्तर प्रदेश तथा पश्चिम बंगाल) को नैतिक आधार पर सत्ता में बने रहने का औचित्य नही था । मुख्यमंत्रियों के विरोध के बावजूद इनके विधानमण्डलों को भंग कर दिया गया यह मामला अनुच्छेद 131 के अन्तर्गत सर्वोच्च न्यायालय में विचारार्थ ले जाया गया ।

राजस्थान बनाम भारत के वाद में सर्वोच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया कि विधान मण्डलों को भंग करने का मामला राजनीतिज्ञ है, अतः यह न्यायालय के वाद योग्य नही है तथा राष्ट्रपति द्वारा अनुच्छेद 356 के अधीन की गई घोषणा के कारणों के आधार पर राष्ट्रपति के निर्णय को अवैध नही ठहराया जा सकता है । इस प्रकार की पुनरावृत्ति केन्द्र में कांग्रेस सरकार बन जाने पर की गई (जब फरवरी 1980 में गैर कांग्रेसी सरकारों बिहार, मध्य प्रदेश, राजस्थान, गुजरात, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा, पंजाब, तमिलनाडु तथा महाराष्ट्र राज्यों में) को अपदस्थ करके विधानमण्डल भंग कर दिया गया । यह मामला पुनः सर्वोच्च न्यायालय में ले जाया गया, लेकिन न्यायालय ने पूर्व निर्णय की ही पुष्टि कर दी ।

अनुच्छेद 356 के खण्ड (3) में उद्घोषणा की समाप्ति के विषय में कहा गया है कि खण्ड (1) के उपखण्ड (क) से (ग) तक के सभी उपखण्डों के अधीन प्रयोग की गई शक्तियॉ तभी विधिमान्य होगी जब उद्घोषणा की समाप्ति से पूर्व उनका प्रयोग भी संविधान में उल्लिखित रीति से किया जाय ।

उद्घोषणा की समाप्ति को लेकर यह प्रश्न उठा कि क्या अनुच्छेद 357(1)(क) के साथ पठित अनुच्छेद 356(1)(क) के अधीन राष्ट्रपति को दी शक्तियों का प्रयोग करते हुये जब राष्ट्रपति द्वारा कोई आदेश दिया जाता है तो उद्घोषणा की समाप्ति पर राजपत्र में प्रकाशित होता है तो ऐसा आदेश विधिमान्य होगा या नही । उच्चतम् न्यायालय ने निर्धारित किया कि राजपत्र में वाद की तिथि में प्रकाशित होना तत्व की बात नही है, क्योंकि आदेश में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि वह तुरन्त लागू होगा अर्थात वह उसी दिन से लागू माना जायेगा जब से राष्ट्रपति ने उसे जारी किया है ।

कुछ अवसरों को छोड़कर अब तक अनुच्छेद 356 का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये किया गया है । इस अनुच्छेद के प्रयोग द्वारा लोकतंत्र की परम्परा को भंग करने की शुरूआत कांग्रेस सरकार ने केरल में 1959, साम्यवादी मण्डल को बर्खास्त करके डाली ।

1967 के आम चुनाव के पश्चात राजस्थान, पश्चिम बंगाल, उत्तर प्रदेश, बिहार, हरियाणा और पंजाब में संवैधानिक संकट की घोषणा के शासक दल द्वारा अपने दलीय हितों के लिये की गयी । 1967 में राजस्थान में भी इसी अनुच्छेद का प्रयोग किया गया । जिसकी सर्वत्र आलोचना हुई । 1977 में जनता सरकार ने 9 राज्यों की विधान सभायें भंग करके राष्ट्रपति शासन लागू किया यह 9 सरकारें जनता पार्टी की नही थी । अतः यह कार्य पूर्णतः राजनीतिक लाभ के लिये किया गया । इसके प्रत्युत्तर में 1980 में केन्द्र में कांग्रेस सरकार ने नौ राज्यों की गैर कांग्रेसी सरकारों को बर्खास्त करके राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया । यह कार्य भी पूर्णतः राजनीतिक उद्देश्य की पूर्ति के लिये था । इस अनुच्छेद से यदि हम 6 दिसम्बर को घटी घटना के परिप्रेक्ष्य में विश्लेषण करके देखें तो ऐसा कुछ भी नही हुआ; जो संविधान में उल्लिखित है क्योंकि न तो राष्ट्रपति को ऐसा समाधान हुआ कि राज्यों में शासन संविधान के अनुरूप नही चल रहा है और न ही राज्यपालों ने अपनी रिपोर्ट में यह शिकायत की कि यहॉ संवैधानिक परम्परायें भंग हो चुकी

हैं । बल्कि ऐसी भी कोई परिस्थिति नही आयी कि राष्ट्रपति के पास इसके अतिरिक्त कोई विकल्प न हो । लेकिन वास्तविकता यह है कि पहले कांग्रेस के कुछ नेताओं ने यह आवाज उठाई कि भाजपा शासित राज्यों की सरकारें बर्खास्त करके वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू किया जाये फिर कांग्रेस कार्यकारी परिषद ने निर्णय लिया ।

संविधान सभा में डॉ० भीमराव अम्बेडकर ने यह स्वीकार किया था कि इन अनुच्छेदों का दुरुपयोग किये जाने या राजनीतिक उद्देश्यों के लिये प्रयोग किया जा सकता है । उनकी सम्भावना निरर्थक नही गई । जैसा कि पूर्व विवेचन से स्पष्ट है कि केन्द्रीय सरकार अनुच्छेद 356 का प्रयोग अपने राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये भी करती रही है । सरकारिया अयोग ने इस अनुच्छेद को तभी प्रयोग करने की संस्तुति की है जब अन्य कोई विकल्प न बचा हो । अनेक नेताओं ने समय-समय पर यह मांग भी उठाई है कि अनुच्छेद 356 को समाप्त कर दिया जाये तथा यदि किसी राज्य में ऐसी स्थिति बन जाये कि केन्द्र का हस्तक्षेप आवश्यक हो तो उसके लिये कुछ अन्य प्रावधान किये जाने चाहिए । इस अनुच्छेद 356 के रहते केन्द्र एवं राज्य के मध्य सौहार्द्र का रिश्ता नही बन सकता । इसका मुख्य कारण यह है कि संविधान निर्माताओं ने इस अनुच्छेद को विशिष्ट परिस्थितियों के लिये 'अभय दीप' सुरक्षा कवच (Sefty Value) समझकर रखा था । वह व्यवहार में केन्द्र सरकार द्वारा विपक्षी दलों की राज्य सरकारों को उखाड़ फेकने का साधन बन गया है ।

यद्यपि यह सच है कि राज्यों में कानून व्यवस्था को बनाये रखने के लिये एवं राष्ट्रीय अखण्डता के लिये केन्द्र का हस्तक्षेप भी आवश्यक है । अनुच्छेद 356 को संशोधित करने की आव¯यकता है । जिससे इसके दुरुपयोग की सम्भावनायें कम से कम हो जाये । राष्ट्रपति शासन लागू करने से पहले राज्यपाल की राय को ही अन्तिम नही माना जाना चाहिए मुख्यमंत्री को भी इस सम्बन्ध में कुछ अधिकार दिया जाना चाहिए । यह भी हो सकता है कि शीघ्र ही एक संसदीय समिति को संसद के अनुमोदन से पूर्व उस राज्य का दौरा करके अविलम्ब प्रतिवेदन देने का प्रावधान होना चाहिए । जिससे अनुच्छेद 356 का प्रयोग राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिये न किया जा सके । केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में 356 की भूमिका के बारे में सरकारिया आयोग का कहना है कि यदि हम अनुच्छेद 356 का उचित प्रयोग करें तो यह सुरक्षा तन्त्र का काम कर सकती है

किन्तु दुरुपयोग करने से मात्र दोनो केन्द्र और राज्य के मध्य सन्तुलन को विनष्ट करना है । अगर कोई राज्य संविधान के अनुरूप नही चल रहा है तो अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत उसे चेतावनी देनी चाहिए और उसके द्वारा दिये गये स्पष्टीकरण पर विचार करना चाहिए । अनुच्छेद 356 का प्रयोग बहुत कम, पराकाष्ठा की स्थिति में पहुँचने पर केवल अन्तिम हथियार के रूप में किया जाना चाहिए ।

केन्द्र और राज्य सम्बन्ध पर बोलते हुये प्रधानमंत्री श्री नरसिंहाराव ने फ्रंटलाइन के सम्पादक एन० राम० के सवालों का उत्तर देते हुये कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन 96 बार लागू किया जा चुका है, आप उन्हे किन परिस्थितियों में लागू करेंगे जहाँ पर विरोधी दल की सरकारें हैं? कहा अपने अभी तक के छोटे से कार्यकाल में मैने यही प्रयत्न किया है कि राज्य सरकारें चाहे वे किसी पार्टी की हो ये न समझ सके कि उनके साथ भेदभाव किया जा रहा है केन्द्रीय स्तर पर भेदभाव करने से परेशानी होती है मैं उड़ीसा गया जहाँ पर गम्भीर बाढ़ थी मैंने हवाई सर्वेक्षण किया क्योंकि हम लोग गाँव में नही जा सकते थे जनता को अपार दु:ख था मैने राज्य सरकार को केन्द्र सरकार से पूर्ण सहयोग का आश्वासन दिया । सवालों के जबाव में मैंने कहा एक घंटे के सर्वेक्षण में मै सब कुछ नही कर सकता । राज्य में मुख्यमंत्री है जो उनकी परेशानियों को हल करेगा जनता अपनी परेशानियों से उन्हे अवगत कराये ।

एन० राम० के दूसरे सवाल पश्चिमी बंगाल के राज्यपाल डॉ० नूरूल हसन के पुनः नियुक्ति के सम्बन्ध में कि मुख्यमंत्री से उनसे वार्ता हुई है कि वे सहमत है? कहा मै हमेशा से ये कोशिश करता हूँ कि राज्यपाल की नियुक्ति या किसी अन्य फैसले पर राज्य सरकारों से असहमति न हो वे इस में केन्द्र सरकार को सहयोग दें । सरकारें निभिन्न राजनैतिक दलों कि है और विभिन्न सिद्धान्तों की है ।

एन० राम के सवाल- भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 के जबाव में कहा कि अनुच्छेद 356 के प्रयोग की आवश्यकता उन्हे नही पड़ेगी परन्तु वो ये नही कह सकते कि ये हमेशा बन्द रहेगा ये भारतीय संविधान का अंग है उसमें ये लिखा है कि इसका प्रयोग कब होगा मै यही कह सकता हूँ कि जब तक मै पूर्णतः सन्तुष्ट नही हो जाऊँगा इसका प्रयोग नही करूँगा ।

प्रधानमंत्री श्री नरसिंहा राव ने भारत छोड़ो आन्दोलन कि स्वर्ण जयन्ती समारोह में जय प्रकाश नगर बलिया में बोलते हुये दिनॉक 19 अगस्त 1992 को सभी पार्टियों से अनुरोध किया कि वे भेदभाव, वैमनस्य का रास्ता छोड़ दें और केन्द्र व राज्य सरकारों में आपसी सामन्जस्य, सद्भावना स्थापित करने मे अपना सहयोग दें उस अवसर पर उन्होने घोषणा किया कि -

"कोई भी राज्य सरकारें अपने पाँच वर्ष का कार्यकाल पूरा किये बिना पद्च्युत नही कि जायेगी । कार्यकाल की समाप्ति के बाद इसका पाँच वर्ष का कार्य जनता के समक्ष रखा जायेगा जो उस पर निर्णय देगी । सजा देगी या पुन· निर्वाचित करके पुरूस्कृत करेगी ।"

इस घोषणा का स्वागत सभी राज्य सरकारों ने किया और सभी ने समझा कि प्रधानमत्री नरसिंहाराव भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 का दुरूपयोग नही करेंगे, केन्द्र व राज्य सरकारों में सद्भावना, भाईचारा स्थापित हो जायेगा और दोनो ही मिलजुल कर कार्य करेंगे । जबाव में विधानसभा निर्वाचन में आकाली दल के भाग न लेने के सवाल पर उन्होने कहा मैनें किसी को कुछ नही दिया है और न आश्वासन दिया है मैं उन लोगों से बात करना चाहता हूँ जो बात करना चाहते हैं ।

श्री नरसिंहाराव के कार्यकाल में पंजाब में आतंकवाद विकट रूप से फैला हुआ था श्री नरसिंहाराव जी ने प्रधानमंत्री होते ही उस आतंकवाद को दबाया वहाँ विधानसभा का निर्वाचन कराया जिसका बहिष्कार अकाली दल ने किया कांग्रेस उसमें विजयी हुयी कांग्रेस विधानसभायी दल के नेता बेयन्त सिंह मुख्यमंत्री बने उन्होने पंजाब के पुलिस महानिदेशक के० पी० एस० गिल के सहयोग से आतंकवाद को कुचल दिया और पंजाब भारत के मुख्य धारा में शामिल हो गया ।

19 फरवरी 1992 को पंजाब में लोकसभा की 13 तथा विधानसभा की 117 सीटों के लिये शान्तिपूर्वक चुनाव करवाकर वहाँ मई 1987 से चले आ रहे राष्ट्रपति शासन को समाप्त कर एक लोकतन्त्रात्मक सरकार स्थापित करने में भी सफलता पायी ।

नरसिंहाराव ने कश्मीर में भी चुनाव कराने पर विचार किया । कश्मीर के सम्बन्ध में अनुच्छेद 370 के अस्थायी होने पर उन्होने कहा कि मैने नही कहा कि यह अस्थायी है । राष्ट्रीय एकता परिषद की बैठक में मैने कहा जब तक कश्मीर की जनता चाहेगी

अनुच्छेद 370 भारतीय संविधान में रहेगा । श्री नरसिंहाराव ने कश्मीर में भी चुनाव कराने पर विचार किया । जम्मू कश्मीर में आतंकवाद बढ़ रहा था । प्रधानमंत्री वी० पी० सिंह ने जम्मू कश्मीर के राज्यपाल; जनरल के० वी० कृष्णाराव को हटा कर पूर्व राज्यपाल श्री जगमोहन को पुनः राज्यपाल नियुक्त किया उन्होने 17 जनवरी 1990 को पदभार ग्रहण किया जिसके विरोध स्वरूप मुख्यमंत्री फारूख अब्दुल्ला ने त्यागपत्र दे दिया और जम्मू व कश्मीर के संविधान के अन्तर्गत वहाँ राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया प्रशासन में परिवर्तन किया गया लेकिन स्थिति में सुधार नही हुआ और राष्ट्रपति शासन का छः महीना समाप्त हो गया । 17 जुलाई 1990 को राज्य में भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत राष्ट्रपति शासन लागू किया गया परन्तु आतंकवाद बढ़ता ही गया । प्रधानमंत्री विश्वनाथ प्रताप सिंह ने श्री जगमोहन को राज्यपाल पद से हटाया और रॉ (RAW) के भूतपूर्व निदशक गिरीश चन्द्र सक्सेना को राज्यपाल बनाया गया परन्तु कोई निष्कर्ष नही निकला । श्री वी० पी० सिंह 7 नवम्बर 1990 को लोकसभा में अपना बहुमत नही सिद्ध कर सके और उन्होने त्यागपत्र दे दिया इसके बाद श्री चन्द्रशेखर प्रधानमंत्री हुये वे भी कुछ न कर सके । श्री नरसिंहाराव जी ने 21 जून सन् 1992 को प्रधानमंत्री पद की शपथ ली ।

श्री नरसिंहाराव ने गिरीश चन्द्र सक्सेना को राज्यपाल के पद से हटाया और पुनः के० वी० कृष्णाराव को राज्यपाल बनाया तथा हर सम्भव कश्मीर में आतंकवाद को समाप्त करने का प्रयत्न करते रहे उन्होने विधानसभा निर्वाचन करवाने का प्रयत्न किया वह यह समझते थे कि अन्य कोई सरकार नही कर सकती है । कश्मीर के राज्यपाल जनरल के० वी० कृष्णाराव ने विधानसभा निर्वाचन कराने की अपनी संतुति केन्द्र सरकार को भेजी । केन्द्रीय सरकार ने अपनी चुनाव कराने की संतुति निर्वाचन आयोग को भेजी पर वह चुनाव करवाने को सहमत नही हुये और श्री नरसिंहाराव कश्मीर में निर्वाचन कराने की इच्छा पूरा न कर सके और कार्यकाल समाप्त हो गया ।

श्री नरसिंहाराव की सरकार ने दिल्ली को राज्य का दर्जा दिये जाने की वर्षों से चली आ रही दिल्ली वासियों की मांग को 69वॉं संविधान संशोधन अधिनियम 1991 पारित कर तथा पूर्वोत्तर राज्य के लोगों की मांग कि नेपाली, कोकणी, मणिपुरी भाषा को संविधान में शामिल किया जाये 71वाँ संविधान संशोधन विधेयक अगस्त 1992 में पारित

करने में सफलता प्राप्त की । सरकांर ने देश के सबसे महत्वपूर्ण एवं प्रतिष्ठित पद राष्ट्रपति और उपराष्ट्रपति क्रमशः 13 जुलाई 1992 तथा 19 अगस्त 1992 को शान्तिपूर्वक निर्वाचन द्वारा भरने में पूर्ण सफलता प्राप्त की ।

सरकार अपनी अच्छी विदेश नीति के कारण पड़ोसी एवं विश्व के अन्य देशों के साथ सम्बन्ध सुधारने में भी सफलता प्राप्त की । जिसके परिणामस्वप अनेक शासनाध्यक्षों का भारत आगमन हुआ तथा महत्वपूर्ण समझौतों पर हस्ताक्षर भी हुये जिसमें नेपाल के प्रधानमंत्री श्री गिरिजा प्रसाद कोइराला का आगमन 5 दिसम्बर 1991 को हुआ । युगाण्डा के राष्ट्रपति का आगमन 12 अक्टूबर 1992 को हुआ । इसी प्रकार मालद्वीप, श्रीलंका, पाकिस्तान, बंग्लादेश, भूटान, अफगानिस्तान इत्यादि अन्य देशों का आगमन हुआ । 40 वर्षों के बाद इज़राइल से राजनयिक सम्बन्ध जोड़ने का निर्णय 29 जनवरी 1992 को लिया । तीन बीघा गलियारा 26 जून 1992 को बंग्लादेश को पट्टे पर दिया गया । अमेरिका से सम्बन्ध सुधारने में भी सरकार ने सफलता प्राप्त की । जिसके परिणामस्वरूप रक्षा सहयोग के मामले में समझौता हुआ तथा संयुक्त नौ सैनिक अभ्यास भी किये गये आतंकवाद पर काबू पाने के लिये सरकार ने ब्रिटेन से आतंकवादियों का प्रत्यावर्तन सम्बन्धी समझौता करने में भी सफलता प्राप्त की । 12 अक्टूबर 1992 को जर्मनी से राष्ट्रीय नवीनीकरण कोष के लिये 1 अरब 19 करोड़ रूपये तथा 638 करोड़ रूपये का ऋण आसान किस्तों पर पाने के लिये समझौते पर हस्ताक्षर करने में वह सफल हुये ।

रियो डि जेनेरो में पृथ्वी सम्मेलन में श्री नरसिंहाराव द्वारा प्रभावी भूमिका अदा किये जाने से तथा पृथ्वी के सफल परीक्षण से, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में भारत की छवि उजागर हुई ।

साप्ताहिक ब्लिट्ज से बोलते हुये उन्होने कहा कि जनवरी 25 सन् 1992 के प्रकाशित समाचार में कि भारत निःशस्त्रीकरण का दुनिया भर में सहयोग करता है उन्होने यह भी कहा कि केन्द्र व राज्य सरकार विकास कार्यों में एक दूसरे के भागीदार हैं उन्होने एकता यात्रा का भी समर्थन किया । उन्होने ब्लिट्ज में सन् 1992 को प्रकाशित में कहा कि राष्ट्रीय विकास सब गरीब का विकास है इससे ये विदित होता है कि वे आम जनता की भलाई व विकास से चिन्तित रहे ।

श्री नरसिंहाराव ने पत्रिका जेंटिलमैन में फरवरी 1992 के साक्षात्कार में कहा था-

"मेरा आधार धर्मनिपेक्षता; गुटनिरपेक्षता; गरीबी हटाना; नवजवानों के लिये रोजगार दिलाना रहेगा ताकि जनता प्रफुल्लित हो मै वह सब बाधायें दूर करूँगा जो राष्ट्र की प्रगति को अवरूद्ध करती है । वे हटाई जायेंगी मै यह सभी बातें पूर्ण करूँगा ये सभी बाधायें कल दूर करने का आश्वासन नही दे सकता ये मेरा तथा कांग्रेस पार्टी का उद्देश्य है ।"

बस्तुओं के मूल्य की बृद्धि पर टिप्पणी करते हुये उन्होने कहा था कि सरकार उस पर कार्यवाही करेगी । उन्होने नयी आर्थिक नीति का जोरदार समर्थन किया इस सवाल की एक हजार सरकारी नौकरियों के कम करने के उत्तर में उन्होने कहा कि ये नयी आर्थिक नीति के कम करने का असर नही है बल्कि अनावश्यक रूप से ये बोझ था । श्री नरसिंहाराव की सरकार ने जून 1991 में सत्ता संभाली जिसमें मनमोहन सिंह वित्तमंत्री बने । श्री नरसिंहाराव प्रधानमंत्री बने । श्री नरसिंहाराव ने मनमोहन सिंह के साथ मिलकर आजादी के बाद महत्वपूर्ण सुधार किया ।

कुछ दशकों में भारतीय अर्थतन्त्र में कई गम्भीर रूकावटें निर्मित हो रही थी जो उसे अधिकाधिक हानि पहुँचा रही थी साथ ही कुछ नयी समस्यायें भी पैदा हो रही थी वित्तीय सावधानी में कदम ब कदम कमी सरकार के बढ़ते खर्चों में दिख रही था । इसका मुख्य कारण सब्सीडी और सहायता में वृद्धि वेतन में बढ़ोत्तरी जिसका काम व उत्पादन में कोई सम्बन्ध नही था; स्टाफ की अति भर्ती; और भारी पैमाने पर कर्जा-माफी जैसे प्रचारवादी कदम थे । राजनीतिक अस्थिरता बढ़ती जा रही थी । निर्यात में भारत की कमी उसके उत्पादकता स्तरों से सम्बन्धित थी । जो उद्यम तथा व्यापार घटाने क्षमतावाद न होने के कारण प्रतियोगिता में ठहर न सके उन्हे कार्यवाही रजिस्टर्ड में दर्ज करा लिया गया और उन्हे गम्भीर नतीजे भुगतने पड़े । भारी वित्तीय खर्चे से केन्द्र व राज्य सरकारों का कुल वित्तीय घाटा 1974-75 में सकल घेरेलू उत्पाद के 4.1 प्रतिशत से बढ़कर 1979-80 में 6.5 प्रतिशत हो गया । सरकारी बचत और निवेश के बीच बढ़ते अंतर तथा वित्तीय घाटे के भुगतान का सन्तुलन तथा कर्जे की स्थिति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा 1977-78 में चालू खाते में भुगतान संन्तुलन की 1.5 अरब डालर (सकल घेरेलू उत्पाद का 1.4 प्रतिशत की अतिरिक्त राशि थी; 1980-81 में घाटे की स्थिति पैदा हो गयी; यह घाटा 2.9 अरब डालर का था (सकल घेरेलू उत्पाद का 1.7 प्रतिशत) यह घाटा 1984-85 में में बढ़कर 3.5 अरब डालर (सकल घेरेलू उत्पाद का 1.8 प्रतिशत)

और 1990-91 में तेजी से बढ़कर 9.9 अरब डालर (सकल घरेलू उत्पाद का 3.5 प्रतिशत)हो गया परन्तु भुगतान सन्तुलन की स्थिति में वास्तविक बेहतरी हुई और डालर के हिसाब में निर्यात औसतन 14 प्रतिशत वार्षिक की तेज दर से बढ़ा । अर्थतन्त्र में बचत और निवेश के बीच का कुल अन्तर 1985-90 में बढ़कर सकल घरेलू उत्पाद के 2.5 प्रतिशत के औसत आंकड़े पर आ गया था । सार्वजनिक बचत निवेश अन्तर इतना अधिक था कि उसे निजी निवेश की तुलना में घरेलू और निजी कारपोरेट बचत में अधिकता के बावजूद पूरा नही किया जा सकता था । इस कारण भारी कर्जे लेने पड़े, जिसके फलस्वरूप भुगतान संतुलन में घाटा पैदा हो गया ।

यद्यपि अस्सी का दशक उच्च विकास दर का काल था 1985-90 की अवधि मे भारत का सकल घरेलू उत्पाद 5.5 प्रतिशत प्रतिवर्ष के हिसाब से बढ़ा । लेकिन यह विकास बचत और निवेश और भुगतान सन्तुलन की स्थितियों के कारण घरेलू तथा विदेशी कर्जे की समस्या बढ़ने लगी अस्सी के दशक के अन्त आते-आते गहन संकट की स्थिति पैदा हो गयी कुल सरकारी (केन्द्रीय एवं राज्य) घरेलू कर्जा 1974-75 में सकल घरेलू उत्पाद के 31.8 प्रतिशत से बढ़कर 1984-85 में 45.7 प्रतिशत और 1989-90 में 54.6 प्रतिशत हो गया । अगस्त 1990 में कुवैत पर इराकी हमला हुआ । इससे तेल की कीमतों में वृद्धि हुई, और मध्यपूर्व या खाड़ी क्षेत्र में भारतीय निर्यात में भारी गिरावट आ गयी । इस कारण भी विदेशी मुद्रा स्थिति गम्भीर हो गयी । भारत की अन्तर्राष्ट्रीय साख काफी कम हो गयी । बाहर कर्जा उठाना कठिन होता चला गया । इसके अलावा अनिवासी भारतीयों द्वारा जमा की गई विदेशी मुद्रा तेजी से वापस ली जाने लगी । ऐसी परिस्थिति में जहॉ विदेशों द्वारा भारत को उधार देना लगभग बन्द हो गया था, सरकार को मार्च 1991 में स्विट्रलैण्ड की यूनियन बैंक को 20 टन सोना बेचना पड़ा । जुलाई 1991 तक विदेशी मुद्रा भंडार अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष द्वारा किये गये कर्जों के बावजूद मात्र दो सप्ताह के आयात को ही पूरा कर सकता था । देश दिवालियापन के कगार पर पहुँच चुका था ।

ऐसी विकट परिस्थिति में श्री नरसिंहाराव की सरकार ने सत्ता संभाली । इस परिस्थिति से निकलने के लिये भारत ने आर्थिक सुधारों एवं ढॉंचागत पुनर्गठन का रास्ता अपनाया । श्री नरसिंहाराव की सरकार ने इन सुधारों को शुरू किया और इसका निर्देशन

आजाद भारत के अत्यन्त महत्वपूर्ण अर्थशास्त्रियों में से एक मनमोहन सिंह ने वित्तमंत्री के रूप में किया ।

नियन्त्रणों में जकड़े; अन्तर्मुखी और ठहराव में फंसते भारतीय अर्थतंन्त्र में सुधारों की जरूरत काफी समय से थी । साठ के दशक की शुरूवात में ही मनमोहन सिंह ने तर्क पेश किया था कि नियति बढ़ाने के बारे में भारत की आशंका-निराशा सही नही थी । सत्तर के दशक में कुछ सुधार लागू किये गये जिन्हे चोरी छिपे सुधार कहा गया । रूपये का मूल्य अवमूल्यन के जरिये नही बल्कि बाजार में स्वतः ही कम होने दिया गया । अवमूल्यन करना राजनीतिक दृष्टि से अव्यवहारिक था ।

हलांकि सुधारों की जरूरत काफी समय से महसूस की जा रही थी, लेकिन कई कारणों से उन्हें लागू नही किया जा सका । विपरीत परिस्थितियों में पड़ने के कारण सरकार ऐसे कदम उठाने से बचती रही । 1991 में भुगतान का संकट चरम सीमा पर पहुँच गया । इस समय तक विचाराधात्मक तथा निहित स्वार्थों द्वारा विरोध काफी कम हो चुका था । इसलिये नरसिंहाराव सरकार ने पुरानी मानसिकता पर चोट करते हुये असाधारण और व्यापक सुधार आरम्भ किये । 1991 में श्री नरसिंहाराव सरकार द्वारा आरम्भ सुधारों की प्रक्रिया में निम्नलिखित बातें शामिल थी; तुरन्त वित्तीय सुधार (विनिमय दर को बाजार से जोड़ देने पर आरम्भ में ही रूपये का 20 फीसदी अवमूल्यन हो गया); व्यापार तथा औद्योगिक नियंत्रणों का उदारीकरण जैसे- आयात आसान बनाया जाना; औद्योगिक लाइसेंसिंग का काफी हद तक सरलीकरण और एम० आर० टी० पी० की समाप्ति; सार्वजनिक क्षेत्र के कदम-व-कदम निजीकरण समेत सुधार, पूंजी बाजार और वित्तीय क्षेत्र में सुधार; विदेशी निवेश तथा बहुराष्ट्रीय कंपनियों पर कई बंधनों का हटाया जाना और उनका स्वागत; खासकर विदेशी निवेश का; इत्यादि ।

यद्यपि आरम्भिक वर्षो के नतीजे प्रशंसनीय है हलांकि कई समस्यायें व चुनौतियॉं अभी बची थी । भारत का कुल घरेलू उत्पाद की दर 1991-92 के संकट के वर्ष में गिरकर मात्र 0.8 फीसदी रह गई थी लेकिन जल्द ही बढ़कर 1992-93 में 5.3 फीसदी हो गई और 1993-94 में अयोध्या संकट के बावजूद 6.2 फीसदी हो गई । सबसे अधिक महत्व की बात यह है कि अगले तीन वर्षों में भारतीय अर्थतंत्र की विकास दर 7.5 फीसदी के असाधारण आंकड़े तक पहुँच गई । यह पहली बार पूर्वी एशिया के

अत्यन्त सफल अर्थतन्त्रों की विकास दर के इतने करीब थी । संकट और अनावश्यक ढाँचागत सुधारों के बावजूद आठवीं योजना 1992-97 में विकास दर का औसत लगभग 7 फीसदी रहा । यह सातवीं योजना (1985-90) के 6 फीसदी के उच्चतर और अधिक स्थायी थी 1991 तथा 1997 के बीच कुल घेरेलू बचत 23 फीसदी थी जो सातवीं योजना के 20.6 फीसदी के औसत से अधिक थी । 1992 तथा 1997 के बीच कुल घेरलू पूंजी निर्माण (निवेश) और कुल घेरलू स्थिर पूजी निर्माण भी 25.2 फीसदी और 22.3 फीसदी का सम्मानजनक औसत बनाये रखा, जो सातवीं योजना के क्रमशः 21.8 तथा 19.8 फीसदी से अधिक था 1991-92 में औद्योगिक उत्पादन विकास दर बहुत ही कम; एक फीसदी से भी कम थी । उत्पादन क्षेत्र में यह नकारात्मक थी । 1992-93 में यह बढ़कर 2.3 फीसदी; और 1993-94 में 6 फीसदी हो गई । कई वर्षों से मूल बस्तुओं का क्षेत्र नकारात्मक विकास दर दर्शा रहा था । यह दर बढ़कर 1994-95 में 25 फीसदी हो गई कि उदारीकरण घेरलू मूल वस्तु उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव डालेगा । छोटे पैमाने का उत्पादन कुल औद्योगिक उत्पादन से अधिक तेज रहा । इससे पता चलता है कि एम० आर० टी० पी० (M. R. T. P.) की समाप्ति से इस पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ने के बजाय इसके विकास को मदद ही मिली । कृषि में 1991-92 की गिरावट के बाद अगले वर्ष विकास हुआ । 1996-97 तक आमतौर पर विकास दर 3 फीसदी बनी रही ।

केन्द्रीय सरकार का वित्तीय घाटा 1990-91 में कुल राष्ट्रीय उत्पाद के 8.3 फीसदी तक पहुंच चुका था । यह 1992 तथा 1997 में बंट कर लगभग 6 फीसदी पर आ गया । देश के अर्थतन्त्र के विदेशी क्षेत्र में भी काफी सुधार दिखाई दिया । निर्यात के मामले में डालर के हिसाब से 1.5 फीसदी की गिरावट आयी लेकिन इसमें जल्द ही सुधार हुआ और 1993-96 में औसत विकास दर 20 फीसदी तक पहुँच गयी । महत्वपूर्ण बात यह है कि भारत की आत्मनिर्भरता इस हद तक बढ़ रही थी कि आयात के काफी बड़े भाग का भुगतान अब निर्यात के ज़रिये किया जा रहा था । आयात के भुगतान की तुलना में निर्यात से आय का अनुपात अस्सी के दशक में 60 फीसदी से बढ़कर नब्बे के दशक में 90 फीसदी हो गया ।

कर्जे का संकट भी समाप्त होने लगा । भारत का विदेशी कर्जा/सकल घरेलू उत्पाद का अनुपात 1995-96 में गिरकर 28.7 फीसदी ही रह गया । भारत में विदेशी पूंजी निवेश के नतीजे सकारात्मक निकले । श्री नरसिंहाराव के काल में 1991 से 1996 के बीच प्रत्यक्ष विदेशी निवेश लगभग सौ फीसदी बढ़ गया । 1996 में कांग्रेस की हार के बाद साझा सरकार के मिले-जुले न्यूनतम कार्यक्रम के कम्युनिस्ट भी हिस्सेदार थे । इस कार्यक्रम में इच्छा प्रकट की गई कि भारत में प्रत्यक्ष पूंजी निवेश 10 अरब डालर प्रतिवर्ष तक बढ़ जाये । लेकिन विदेशी पोर्टफोलियों निवेश तुलनात्मक रूप से अस्थायी होता है । इसलिये किसी अप्रत्याशित कारणों से उनके अचानक वापस लिये जाने की आशंका बनी रहती है । जैसा कि मैक्सिको तथा दक्षिण पूर्वी एशिया में हुआ । इस सच्चाई को भारत की बाद की सरकारों ने समझा और अल्पकालिक पूंजी आगमन और पूंजी-पलायन को रोकने की कोशिश की गई । आर्थिक सुधारों के जरिए भारत में उच्चतर विकास हासिल करने के साथ-साथ गरीबी का स्तर कम करने की भी आशा थी । मुख्य सवाल यह है कि संक्रमण काल में गरीबी पर क्या प्रभाव पड़ेगा; खासकर तब जबकि भुगतान सन्तुलन की स्थिति सुधार कर आवश्यक स्थायित्व हासिल किया जाये; वित्तीय घाटा कम होगा और सरकारी खर्चे में संभावित कमी होगी । यह कहा गया है कि भारत का आरम्भिक स्थायित्व कार्यक्रम असाधारण रूप से सफल रहा जिसके फलस्वरूप बहुत ही कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा यह उन देशों की तुलना में अधिक स्पष्ट हो जाता है जिन्हे चालू बाहरी खाते में बड़े पैमाने की तीव्र कमियाँ लानी पड़ी । गरीबी की स्थिति में सुधार इसलिये भी हुआ कि सरकार ने सामाजिक सेवाओं और ग्रामीण विकास पर 1993-94 में खर्चा बढ़ा दिया ।

हलांकि कुल मिलाकर सुधारों की पहल सफल होती लग रही है; लेकिन अभी बहुत दूर जाना है । निरन्तर राजनीतिक अस्थिरता जो किसी भी पार्टी को स्पष्ट बहुमत न मिलने के कारण और भी बढ़ गई है किसी भी सरकार के लिये यह एक कठिन कार्य है ।

श्री पी० वी० नरसिंहाराव सरकार द्वारा प्रोत्साहित की गई नई आर्थिक नीति का अनेक कारणों से स्वागत किया गया:

1. इसमें बहुत से ऐसे आवश्यक नियन्त्रण समाप्त कर दिये गये जो बहुत सी परिस्थितियों में या तो विनियोग में विलम्ब उत्पन्न कर देते थे या इनमें बाधा डालते थे । जिसके परिणामस्वरूप विकास गति मंद हो गई थी ।
2. यह बात अधिकाधिक अनुभव की जाने लगी थी कि सार्वजनिक क्षेत्र उत्पादन में तेजी नही पा रहा है । अतः उसके लिये निर्धारित क्षेत्रों को निजी क्षेत्र के लिये खोलने की मांग की जा रही थी, जिसे बड़ी सीमा तक नही आर्थिक नीति में स्वीकार किया गया ।
3. इसने भारतीय उद्योगों की उत्पादकता एवं कुशलता बढ़ाने के लिये आवश्यक उच्च प्रौद्योगिकी के प्रयोग हेतु भारतीय औद्योगिक घरानों के लिये बड़े अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार के साथ सहयोग की परिस्थिति सुविधाजनक बना दी है जबकि पहले एम० आर० टी० पी० एक्ट (M.R.T.P.A.) और फेरा (FERA) के अन्तर्गत इस पर बड़ी पाबन्दियाँ थी । परिणामस्वरूप 1985-86 के दौरान ही 1976 विदेशी सहयोग के समझौते किये गये ।

भारतीय आर्थिक और राजनीतिक स्थिति में यथास्थितिवादी शक्तियों की शक्तिशाली पकड़ के कारण राजीव गाँधी; उदारीकरण की इन आर्थिक नीति और सुधारों के बावजूद मिश्रित अर्थव्यवस्था, सार्वजनिक क्षेत्र के प्रमुख कार्यभाग और समाजवादी योजना की नेहरूवादी अवधारणाओं में कोई आधारभूत परिवर्तन नही ला सके यहाँ तक कि 1987 के बजट भाषण में बार-बार समाजवाद, योजना और सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति अपनी आस्था की अभिव्यक्ति करते रहे ।

उनके पश्चात वी० पी० सिंह सरकार, चन्द्रशेखर की अल्पकालीन सरकार तथा श्री पी० वी० नरसिंहाराव सरकार ने आर्थिक नीतियों में कोई मौलिक अथवा द्रुतगामी परिवर्तन नही किये है । मोटे तौर पर उदारीकरण की नीति अब भी चल रही है जिसके अलग-अलग अर्थ भी लगभग वही है ।

श्री नरसिंहाराव की सरकार ने निर्धनता निवारण तथा बेरोजगारों को रोजगार उबलब्ध कराने के लिये भी फिर से तथा संकल्प लिया और एक ऐसा फार्मूला तैयार किया जिसमें प्रतिवर्ष 1 करोड़ रोजगार पैदा किये जा सकेंगे । इसके साथ ही साथ गरीबों को आवास उपलब्ध कराने के लिये एक नई केन्द्रीय योजना शुरू की जा रही है । सरकार ने

अत्यधिक पिछड़े दुर्गम, रेगिस्तानी तथा पहाड़ी इलाकों में रह रहे गरीब लोगों के लिये सार्वजनिक वितरण प्रणाली का विस्तार किया । संशोधित सार्वजनिक वितरण प्रणाली के अन्तर्गत लगभग देश के 1700 इलाकों में उचित मूल्य पर दुकाने खोली गई ।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त देश में पंचायती राज व्यवस्था को लागू करने के लिये अनेक प्रयत्न हुये । गाँव के चहुंमुखी आर्थिक विकास के उद्देश्य से सन् 1950 से ग्रामीण विकास के कई कार्यक्रम शुरू किये गये । 1991 में जब नरसिंहाराव की सरकार सत्ता में आयी तो 72वॉ संविधान संशोधन विधेयक 26 दिसम्बर 1991 को फिर संसद में प्रस्तुत किया गया यह विधेयक वी० पी० सिंह सरकार ने संसद में पेश किया था परन्तु विधेयक पारित होने के पहले जनता दल की सरकार गिर गई थी और पंचायती राज व्यवस्था को सुचारू बनाने का सिलसिला एक बार फिर रूक गया । श्री नरसिंहाराव की सरकार ने विधेयक को फिर संसद मे प्रस्तुत किया । जिसे बाद में ब्यौरेवार समीक्षा के लिये दिसम्बर 1991 को संसद की प्रकट समिति को सौंप दिया गया जिसके अध्यक्ष श्री नाथू राम मिर्धा थे । संयुक्त समिति ने सभी राज्य सरकारों और सांसदों की राय जानकर अपनी रिपोर्ट सरकार के समक्ष जुलाई 1992 में प्रस्तुत किया 22 दिसम्बर 1992 को लोकसभा ने इस 72वें संविधान संशोधन विधेयक को पास कर दिया तथा राज्य ने इसे 23 दिसम्बर 1991 को पारित कर दिया । भारत के राष्ट्रपति ने 20 अप्रैल 1993 को इस विधेयक को अपनी स्वीकृति दे दी । संविधान का 72वाँ संविधान संशोधन अधिनियम 1992, 24 अप्रैल 1993 से लागू हो गया । अब उसे 73वाँ संविधान संशोधन विधेयक के नाम से जाना जाता है ।

अध्याय - 6

उपसंहार
(समीक्षा)

विश्व में दो प्रकार की सरकारें हैं एकात्मक और संघात्मक । एकात्मक व्यवस्था में विधायिका की सारी सत्ता केन्द्र द्वारा प्रयोग मे लायी जाती है जबकि संघात्मक व्यवस्था में विधायिका शक्ति को केन्द्र व राज्यो के मध्य विभाजित किया जाता है । संविधान निर्माताओं के सामने मुख्य प्रश्न था कि संविधान का स्वरूप एकात्मक हो या संघात्मक इस प्रश्न पर मध्यम मार्ग अपनाया गया । भारतीय संविधान का बहिरंग संघात्मक है पर अंतरंग एकात्मक । संविधान में भारत को राज्यों का संघ कहा गया है और संविधान में जहॉ कुछ संघवाद के मान्य लक्षण पाये जाते हैं वहॉ एकात्मक राज्य के लक्षणों का प्रभुत्व भी जहाँ-तहाँ दिखता है । संविधान निर्माताओ की इच्छा भारत मे संघात्मक व्यवस्था की स्थापना करना था लेकिन संविधान में कहीं पर भी संघ शब्द का प्रयोग नही किया गया वरन् 'संघ' के स्थान पर राज्यों का संघ शब्द के प्रयोग का स्पष्टीकरण देते हुये प्रारूप समिति के अध्यक्ष डॉ० अम्बेडकर ने संविधान सभा में कहा था, "प्रारूप समिति के द्वारा इस शब्द का प्रयोग यह स्पष्ट करने के लिये किया गया है कि यद्यपि भारत एक संघ राज्य है; लेकिन यह संघ राज्य किसी प्रकार से राज्यों के पारस्परिक समझौते का परिणाम न होने के कारण किसी भी राज्य को संघ से पृथक होने का अधिकार नही है ।"[1]

संदिधान शास्त्रियों में यह एक गम्भीर विवाद का विषय बन गया है कि भारतीय संविधान में संघात्मक शासन की स्थापना की गयी है कि एकात्मक शासन की ।

के० सी० व्हीयर के अनुसार "भारत मुख्यतः एकात्मक राज्य है, जिसमें संघीय विशेषतायें नाममात्र की है । भारत का संविधान संघीय कम है, एकात्मक अधिक है ।"[2]

डी० एन० बनर्जी का विचार है कि "भारतीय संविधान का ढांचा संघीय हैं किन्तु उसका झुकाव एकात्मकता की ओर है ।"[3]

डी० डी० बसु का विचार है कि "भारत का संविधान न तो पूर्ण रूप से एकात्मक है और न ही पूर्णरूप से संघात्मक बल्कि दोनों का सम्मिश्रण है ।"[4]

---

1 अम्बेडकर बी० आर० : फेडरेशन बनाम फ्रीडम (बाम्बे आर० के० टेटनिस कला मेमोरियल लेक्चर 1939 गोखले इन्स्टीट्यूट)

2 व्हीयर के० सी० : फेडरल गवर्नमेंट (2nd ed) (आक्सफोर्ड यूनिर्वसिटी प्रेस लंदन 1963)

3 बनर्जी डी० एन० : स्वराज्य 17 अक्टूबर 1970 पृष्ठ 3-4

4 बसु डी० डी० : कान्सटीट्यूशन आफ इंडिया . (प्रैन्टिस हाल आफ इण्डिया प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली)

जी० एन० जोशी के अनुसार "भारत संघ राज्य नही है अपितु अर्द्ध-संघ है उसमें कतिपय एकात्मकता के भी लक्षण है ।"[5]

प्रो० पायली का विचार है, "कि भारत के संविधान का ढांचा संघात्मक है किन्तु उसकी आत्मा एकात्मक हैं"।[6]

डॉ० सुभाष कश्यप का विचार है कि "संविधान दोहरे शासन तन्त्र की स्थापना करता है । सरकारों की दो श्रेणियॉ हैं- संघ की सरकार और अव्ययी राज्यों की सरकारें । संविधान ने संघ सरकार और राज्य सरकार के बीच शक्तियों का वितरण किया है- संघवाद के इन बहिरंग लक्षणों के बावजूद भारतीय संविधान का प्रधान स्वर एकात्मकता है "।[7]

इस प्रकार भारतीय संविधान का स्वरूप संविधान विशेषज्ञों के मध्य विवाद का विषय बना हुआ है । हमारे संविधान निर्माताओं का ध्येय कोई मौलिक संविधान बनाना नही था अपितु वे तो एक कामचलाऊ और व्यवहारिक संविधान निर्मित करना चाहते थे । इसी कारण उन्होने प्रचलित संघीय संविधानों से ऐसे तत्वों को लिया जिन्हे उन्होने अपने लिये उपयोगी समझा ।

हमारे संविधान के अनुच्छेद 1 में भारत को "राज्यों का संघ कहा गया है । जब भारत में ब्रिटिश सत्ता की स्थापना हुई तो उस समय उसका रूप अति केन्द्र प्रधान तथा एकात्मक था । भारत को अपने साम्राज्यवादी शिकंजे में रखने के लिये अंग्रेजों को उसका नियंन्त्रण केन्द्र से करना था और यह सुनिश्चित करना था कि सत्ता उनके हाथ में रहे । साम्राज्य तथा प्रशासन दोनों ही दृष्टियों से अंग्रेजों के लिये एक सशक्त केन्द्रीय प्राधिकार आवश्यक था । भारत शासन अधिनियम 1919 में उपबन्ध किया गया कि काफी हद तक प्राधिकार का अन्तरण प्रान्तों को कर दिया जाये 1934 में संविधान सुधार सम्बन्धी समिति ने कहा-

---

[5] जोशी जी० एन० : इंडियन फेडरेलिज्म (बाम्बे, यूनिर्वसिटी)
[6] पायली एम. बी० : कान्सटीट्यूशनल गर्वनमेंट इन इंडिया (एशिया पब्लिशिंग हाऊस बाम्बे)
[7] काश्यप डा० सुभाष : हमारा संविधान (निशनल बुक ट्रस्ट इंडिया)

1919 के अधिनियम के फलस्वरूप प्रान्तों को दिये गये प्राधिकार की मात्रा के बावजूद भारत सरकार एक एकात्मक तथा केन्द्र प्रधान सरकार है और मूलतः वैसी बनी रहेगी, और गर्वनर जनरल इन काउंसिल समूचे सवैंधानिक सांचे-ढांचे का प्रमुख स्तम्भ होगा ।

भारत शासन अधिनियम, 1935 में प्रस्ताव किया गया कि भारत में फेडरल (परसंघीय) राज्य व्यवस्था हो एक केन्द्रीय सरकार हो और प्रान्त अपनी अधिकारिता तथा शक्तियाँ क्राउन से सीधे अन्तरण द्वारा प्राप्त करें । 1935 के अधिनियम का प्रान्तीय स्वायत्तता वाला भाग लागू किया गया । चूँकि केवल प्रान्तीय स्तर पर सीमित दायित्व वाली सरकार की स्थापना की गई, अतः स्वाभाविक था कि राष्ट्रवादियों ने प्रान्तीय विधानमण्डलों के लिये और अधिक शक्तियों की मांग की । लेकिन यह प्रयोग अधिक समय तक नही चला बहरहाल 1919 के अधिनियम के अधीन समूचे देश पर केवल केन्द्रीय प्राधिकार का शासन चलता रहा ।

जब पहले-पहल 1946 में तथा 1947 के प्रारम्भ में सविधान सभा की बैठक हुई तो उस समय विचार यह था कि सीमित शक्तियों के साथ केन्द्र सहित फेडरेशन (परिसंघ) हो । इसके पूर्व कि संघीय संविधान समिति कोई सार्थक कार्यवाही कर पाती; 3 जून 1947 की माउन्टबेटन योजना की घोषणा कर दी गई । राष्ट्र की अखंडता को बनाये रखने की सभी आशायें धूल में मिल गई और साम्प्रदायिक आधार पर देश का विभाजन एक दृढ़ निश्चय बन गया । आशा के अनुरूप एक सशक्त केन्द्र का पलड़ा भारी हो गया संघीय संविधान समिति तथा प्रान्तीय संविधान समिति ने 5 जून को एक संयुक्त बैठक में निश्चय किया कि 3 जून की घोषणा को देखते हुये संविधान के स्वरूप के बारे में कैबिनेट मिशन की योजना द्वारा थोपी गयी सीमायें समाप्त हो गयी थी । जब विभाजन एक वास्तविकता बन ही गया तो इस बात की कोई जरूरत नही रह गई कि मुस्लिम लीग की तुष्टि की जाये और संघ सरकार की शक्तियों को सीमित किया जाये । 6 जून 1947 की बैठक में संघीय संविधान समिति ने अस्थायी रूप से निश्चय किया कि एक सशक्त केन्द्र सहित संविधान का एक सशक्त ढाँचा हो और तीन सर्वांगपूर्ण सूचियां हों और अवशिष्ट शक्तियाँ केन्द्र में निहित हों ।

5 जुलाई 1947 को संघीय शक्तियाँ समिति ने संविधान सभा के अध्यक्ष के सामने एक रिपोर्ट प्रस्तुत की । उसमें इस बात पर जोर दिया गया कि संविधान के लिये सर्वाधिक ठोस संरचना है सशक्त केन्द्र वाला संघ । रिपोर्ट में कहा गया कि कैबिनेट मिशन की योजना में केन्द्रीय प्राधिकार क्षेत्र पर जो कठोर अंकुश लगाया गया था उसे संविधान सभा ने देश की प्रशासनिक जरूरतों के अपने आकलन की घोर उपेक्षा करके समझौते के रूप में इसलिये स्वीकार किया था कि मुस्लिम लीग की भी बात रह जाये । संघीय शक्तियॉ समिति ने सर्व सम्मति से यह दृष्टिकोण अपनाया कि यह देश के लिये हितकर नही होगा कि एक अशक्त केन्द्रीय प्राधिकार की व्यवस्था की जाये क्योंकि ऐसा प्राधिकार न तो शान्ति की एवं सामूहिक हित सम्बन्धी महत्वपूर्ण मामलों में समन्वय की व्यवस्था कर सकेगा और न ही अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र में समूचे देश के लिये प्रभावशाली ढंग से आवाज उठा सकेगा ।

इन घटनाओं के सन्दर्भ में प्रारूप समिति ने निर्णय किया कि भारत को एक संघ कहा जाये भले ही उसके संविधान का स्वरूप परिसंघात्मक हो । भारत के संघ होने पर जोर देने के पीछे आशय यह था कि यह संघटक इकाइयों के बीच किसी संविदा या समझौते की उपज नही है बल्कि उस संविधान सभा की घोषणा है जिसने अपना प्राधिकार भारत के लोगों से प्राप्त किया है । इसके अलावा, संकल्पना का स्पष्ट उद्देश्य था कि राज्य व्यवस्था के संघात्मक स्वरूप को दर्शाया जाय पर उसमें राज्यों की स्थिति गौण हो और संरचना एवं संचालन का सन्तुलन संघ की सर्वोच्चता के पक्ष में हो । इस बात को उच्चतम न्यायालय ने *पश्चिमी बंगाल बनाम भारत संघ*[अ] में उचित ठहराया था । चाहे संविधान निर्माता हो या राज्यों के पुनर्गठन एवं संघ तथा राज्यों के आपसी सम्बन्धों पर विचार के लिये आजादी के बाद नियुक्त विभिन्न आयोग तथा समितियाँ हो तथा जे० पी० सी० समिति, दर आयोग, राज्य पुनर्गठन आयोग, राजमन्नार समिति; सरकारिया आयोग आदि, सभी की सर्वोपरि चिंता का विषय भारत की एकता तथा अखण्डता रहा है । राज्य पुनर्गठन समिति की रिपोर्ट का निष्कर्ष था ।

[अ] ए० आई० आर० 1963 एस सी 1241

भारत का संघ ही हमारी राष्ट्रीयता का आधार है । राज्य तो केवल संघ के अंग है और जहॉ हम यह मानते हैं कि अंगों को स्वस्थ एवं सशक्त होना ही चाहिए । वहाँ संघ की सशक्तता तथा स्थिरता तथा विकास एवं संवर्धन की उसकी क्षमता ही वह तत्व है जिसे देश के सभी परिवर्तनों का नियामक आधार माना जाए ।

विधायी सम्बन्ध-

संघ और राज्यों के बीच विधायी सम्बन्ध होता है । अनुच्छेद 245-255 में संघ तथा राज्यों की बीच विधायी शक्तियों के वितरण का घोषणा पत्र है । संसद भारत के समूचे राज्य क्षेत्र या उसके किसी भाग के लिये विधियॉ बना सकती है । किसी राज्य का विधानमण्डल समूचे राज्य या उसके किसी भाग के लिये विधियॉ बना सकता है । राज्य की कोई विधि शून्य (void) हो जायेगी यदि उसका राज्य क्षेत्रातीत परिवर्तन (Extra Territorial Operation) होता है, *(कोचुनी बनाम मद्रास राज्य)*[ब] और जब तक कि उद्देश्य तथा राज्य के बीच पर्याप्त सम्बन्ध नही दर्शाया जा सकता *(बंबई राज्य बनाम आर० एम० डी०)*[स], *(टाटा आइरन एंड स्टील कम्पनी बनाम बिहार राज्य)*[द], लेकिन संसद द्वारा बनाये गये कानूनो के बारे में राज्य क्षेत्रातीत प्रवर्तन के आधार पर आपत्ति नही की जा सकती (अनुच्छेद 245) संविधान की सातवीं अनुसूची में तीन सूचियाँ हैं अर्थात् संघ सूची, राज्य सूची और समवर्ती सूची जिनमें क्रमशः 97, 66 तथा 47 विषय हैं । अनुच्छेद 246 में व्यवस्था है कि संघ सूची की मदों के बारे मे संसद को विधियाँ बनाने की अनन्य अधिकारिता होगी; राज्य सूची की मदों के बारे में राज्य के विधानमण्डल को विधियाँ बनाने की अनन्य शक्ति होगी और समवर्ती सूची में शामिल मदों के बारे में संघ तथा राज्यों के विधानमण्डल दोनों ही विधान बना सकते हैं । यदि समवर्ती सूची की मदों के बारे में संसद तथा राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा बनाई गई विधियों के बीच कोई असंगति हो तो संघ की विधियां प्रभावी होगी, और राज्य की विधि उस विसंगति की मात्रा तक शून्य होगी; सिवाय उस स्थिति के जहाँ राज्य की विधि राष्ट्रपति के विचार के लिये आरक्षित रखी गई हो, और उस पर उसकी अनुमति मिल गयी हो इसका वर्णन अनुच्छेद

[ब] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 1080

[स] ए० आई० आर० 1957 एस० सी०, 699

[द] ए० आई० आर० 1958, एस० सी०, 452

245 में है । विधायी शक्तियों के त्रिविध वितरण में अनुच्छेद 248 के अन्तर्गत विधान की अवशिष्ट शक्तियां संघ को सौंपी गई हैं, साथ ही संसद को यह शक्ति दी गई है कि वही किसी अन्तर्राष्ट्रीय संन्धि, करार, अभिसमय अथवा विनिश्चय को कार्यरूप देने के लिये समूचे देश या उसके किसी भाग के लिये कोई विधि बना सके ।

संघ सूची में ऐसे विषय शामिल है जिसका सम्बन्ध संघ के सामान्य हित में है और जिनके बारे में समूचे संघ के भीतर विधान की एकरूपता अनिवार्य है । राज्य सूची में ऐसे विषय शामिल हैं जो हित तथा व्यवहार की विविधता की छूट देते हैं । समूचे संघ के भीतर विधान की एकरूपता वांछनीय तो है पर अनिवार्य नही है । भले ही राज्य सूची में शामिल विषयों के बारे में राज्यों को अनन्य शक्तियां प्रदान की गयी है पर इस सामान्य नियम के दो अपवाद हैं अनुच्छेद 249 के अधीन यदि राज्य सभा के उपस्थित तथा मत देने वाले दो तिहाई सदस्यों द्वारा समर्पित संकल्प के जरिए यह घोषणा कर दी जाये कि राष्ट्रीय हित में यह आवश्यक या समीचीन है कि राज्य सूची में शामिल किसी विषय के बारे में संसद विधियां बनाने के वास्ते सक्षम होगी । ऐसा संकल्प एक वर्ष तक वैध रहता है । उसकी अवधि को और एक वर्ष के लिये बाद के संकल्प द्वारा बढ़ाया जा सकता है । ऐसे संकल्प के अधीन बनाई गई विधि संकल्प की अवधि बीत जाने के बाद 6 मास की समाप्ति पर प्रभावी नही रहेगी पुनः अनुच्छेद 250 के अधीन; जब आपात की घोषणा लागू हो तो संसद को अधिकार दिया गया है कि वह समूचे भारत या उसके किसी भाग के वास्ते राज्य सूची में शामिल किसी मद के लिये विधियाँ बना सकती है ऐसी विधियों की बैधता की अधिकतम अवधि आपात की समाप्ति के बाद छः मास की होगी ।

यदि अनुच्छेद 249 तथा 250 के अधीन संसद द्वारा बनायी गई विधियों तथा राज्यों के विधानमण्डलों द्वारा बनाई गई विधियों के बीच कोई असंगति हो तो संसद द्वारा बनाई गई विधि अभिभावी होगी और राज्य की विधि विरोध की मात्रा तक अप्रवर्तनीय होगी और संसद द्वारा बनाई गई विधि प्रभावी रहेगी । इसका वर्णन अनुच्छेद 251 में हैं । अनुच्छेद 252 के अनुसार दो या दो से अधिक राज्यों के विधानमण्डल एक संकल्प पारित करके संसद से अनुरोध कर सकते हैं कि वह राज्य सूची के किसी विषय के बारे

में विधियाँ बनाये । ऐसी विधियों का विस्तार अन्य राज्यों पर किया जा सकता है बशर्ते कि सम्बद्ध राज्यों के विधानमण्डल उस आशय के संकल्प पारित करें ।

प्रशासनिक सम्बन्ध-

अनुच्छेद 256 तक संघ तथा राज्यो के बीच प्रशासनिक सम्बन्धों के विनियमन की व्यवस्था करते हैं । संघात्मक प्रणालियों में सामान्यता ऐसा होता है कि संघ तथा राज्यों के आपसी प्रशासनिक सम्बन्ध झमेलों से ग्रस्त रहते हैं । भारत के संविधान का उद्देश्य है कि दोनों स्तरों के बीच सम्बन्धों का निर्वाह सहज् रूप से होता रहे । वह उपबन्ध करता है कि राज्य सरकार की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार हो कि संसद द्वारा बनाई गई विधियों का पालन सुनिश्चित हो सके । संघ की कार्यपालिका को राज्यों को ऐसे निर्देश देने का भी अधिकार प्राप्त है जो भारत सरकार को इस प्रयोजन के लिये आवश्यक प्रतीत हो ।

इस प्रकार अनुच्छेद 257 का उपबन्ध है कि हर राज्य की कार्यपालिका शक्ति का प्रयोग इस प्रकार किया जाये कि वह संघ की कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग में बाधक न हो । संघ इस सम्बन्ध में तथा रेलों के संरक्षण एवं राष्ट्रीय या सैनिक महत्व के संचार साधनों को बनाये रखने के बारे में आवश्यक निर्देश जारी कर सकता है । केन्द्रीय निर्देशों के पालन में जो अतिरिक्त व्यय राज्य करेगा; केन्द्र उसकी भरपाई राज्य को करेगा । अनुच्छेद 261 का उपबन्ध निर्देश देता है कि भारतीय राज्य क्षेत्र के सभी भागों में संघ तथा राज्यों के सार्वजनिक कार्यों, अभिलेखों, तथा न्यायिक कार्यवाहियों को पूरा विश्वास एवं पूरी मान्यता दी जाएगी । यह बात संघ एवं राज्यों के आपसी सम्बन्धों के सुचारू निर्वाह में अति सहायक होती है । अंतर्राष्ट्रीय नदियों पर संसदीय निर्णयन सम्बन्धी उपबन्धों के कारण संघ तथा राज्यों के बीच तथा स्वयं राज्यों के बीच संघर्ष की ढेर सारी संभावनाए समाप्त हो गई हैं अनुच्छेद 262 के अन्तर्गत वास्तविकता तो यह है कि संविधान निर्माता किसी बात की संभावना को नही छोड़ना चाहते थे । अतः उन्होने अंतर्राज्यिक परिषदों की व्यवस्था की । अनुच्छेद 263 राष्ट्रपति को अंतर्राज्यिक परिषद की स्थापना का अधिकार प्रदान करता है । इन परिषदों का उद्देश्य है कि वे राज्यों के आपसी विवादों तथा राज्यों के या संघ एवं राज्यों के सामान्य हित के आपसी मामलों के बारे में जाँच करे और उन्हे सलाह दें और नीति एवं कार्यवाही के बेहतर समन्वय के बारे में सिफारिशें करें ।

अनुच्छेद 258 के अधीन राष्ट्रपति किसी राज्य सरकार की सहमति से उस सरकार को या अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से सम्बन्धित कृत्य सौंप सकेगा जिन पर संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है । इस प्रकार अनुच्छेद 258(क) के अधीन किसी राज्य का राज्यपाल भारत सरकार की सहमति से उस सरकार को या उसके अधिकारियों को ऐसे किसी विषय से सम्बन्धित कृत्य सौंप सकेगा जिन पर उस संघ की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है ।

वित्तीय सम्बन्ध-

संघ तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों के बारे में भी केन्द्रीय प्रधानता वाली भारतीय संघवाद की सामान्य प्रवृत्ति के दर्शन कर सकते हैं । यह कहा जा सकता है कि वित्तीय दृष्टि से संघ अधिक सशक्त है । सुनियोजित अर्थव्यवस्था के माध्यम से देश की उन्नति की जरूरतों के स्वरूप को देखते यह स्थिति न केवल वांछनीय बल्कि नितांत आवश्यक हो सकती है लेकिन राज्यों के अपने संसाधन है । सहायता अनुदानों, कतिपय करों के अंश आगमों आदि के रूप मे संघ राज्यों के लिये सारवान राशियों की व्यवस्था करता है । संविधान का उपबन्ध है कि हर पांचवे वर्ष की समाप्ति पर वित्त आयोग का गठन किया जाये और वह संघ तथा राज्यों के बीच कर-आगमों के वितरण की जाँच करे एवं सहायता अनुदानों का नियमन करने वाले सिद्धान्तों का निर्धारण करें । यह भारतीय संविधान की एक नयी देन है । इसने संघ तथा राज्यों के बीच सामान्यता सूचारू सम्बन्धों को और भी सहज बनाया है ।

संघ और राज्यों के बीच राजस्वों के वितरण की एक योजना का उपबन्ध अनुच्छेद 258-273 में किया गया है । उसके अनुसार राज्य द्वारा उद्‌गृहीत सभी करों के आगम संबद्ध राज्य पूर्णतया स्वयं अपने पास रखेंगे जबकि संघ सूची में शामिल कर अंशतया राज्यों को आवंटित किये जा सकते हैं ।

जिन करों पर संघ का अनन्य अधिकार है उनमें सीमा शुल्क (Customs Duty), निगम कर (Carporation Tax), आस्तियों के पूँजीगत मूल्य पर कर (Taxes on Capital Value of Assets), आयकर पर अधिभार (Surcharge on Income Tax) आदि एवं सूची के विषयों से सम्बन्धित कर शामिल है ।

जिन करों पर कर का अनन्य अधिकार है उनमें ये मदें शामिल है यथा भू-राजस्व; राज्य सूची में शामिल मदों पर स्टाम्प शुल्क; अंतर्देशीय जलमार्गो से ढोये जाने वाले यात्रियों एवं माल पर कर, भूमि एवं भवन खनिज अधिकार, पशु एवं नौकाएं, सड़क पर चलने वाले वाहन; विज्ञापन, बिजली का खपत; विलास सामग्री मनोरंजन आदि; स्थानीय क्षेत्र में माल के प्रवेश पर कर राज्य चुंगी कर; राज्य सूची से सम्बन्धित शुल्क और 2500 रूपये प्रतिवर्ष से अनधिक व्यवसाय, व्यापार आदि पर कर जो अनुच्छेद 276 तथा सातवीं अनुसूची की सूची 2 प्रविष्टि 60 में वर्णित है । विनिमय पत्रों आदि पर स्टाम्प शुल्क तथा संघ सूची में वर्णित औषधीय और प्रसाधन निर्मितियों पर उत्पादन शुल्कों का उद्ग्रहण तो संघ करेगा लेकिन उनका संग्रह एवं विनियोजन राज्य करेंगे और संघ राज्य क्षेत्रों के अलावा वे उनके आगमों के अंश होंगे । इसका उल्लेख अनुच्छेद 268 में है । वे सब शुल्क तथा कर जो विधि द्वारा संसद के विनिश्चय के अनुसार सम्बद्ध राज्यों को सौंपि जायेंगे और उनके बीच वितरित किये जायेंगे वे इस प्रकार है । कृषि भूमि से इतर सम्पत्ति के सम्बन्ध में सम्पदा शुल्क रेल समुद्र या वायु मार्ग द्वारा ले जाए जाने वाले भाड़ों पर कर; स्टाक एक्सचेंजों और वायदा बाजारों के सौदों पर कर; समाचार पत्रों के क्रय-विक्रय तथा उनमें प्रकाशित विज्ञापनों पर कर; समाचार पत्रों से इतर माल के अन्तर्राज्य क्रय-विक्रय पर कर; माल के अंन्तर्राज्य पारेषण पर कर । लेकिन संघ राज्य क्षेत्रों को संदेय आगम भारत की संचित निधि के अंश होंगे संघ सूची में शामिल आयकर तथा उत्पादन शुल्क जैसे कुछ करों का उद्ग्रहण तथा संग्रह तो संघ करता है लेकिन उनके आगमों का वितरण संघ एवं राज्यों के बीच किया जाता है । वित्त आयोग के गठन के बाद आयोग की सिफारिशों पर विचार करके आयकर से प्राप्त आगमों के वितरण के सम्बन्ध में राष्ट्रपति का आदेश जारी किया जाएगा । उत्पादन शुल्क के मामले में आगमों के वितरण का निर्धारण संसद विधि द्वारा करेगी ।

अनुच्छेद 273, 275 तथा 282 में तीन प्रकार के सहायता अनुदानों तथा उन परिस्थितयों का उपबन्ध है जिनमें संघ यह अनुदान राज्यों को दे सकता है । जैसे जूट पर तथा जूट उत्पादों पर निर्यात शुल्क के बदले में असम; बिहार, उड़ीसा तथा पश्चिमी बंगाल के राज्यों को संघ अनुदान दे सकता है, अनुच्छेद 273 किसी भी जरूरत मंद राज्य को जैसा आवश्यक समझा जाए, अनुदान दिये जा सकते हैं अनुच्छेद 275A

अनुच्छेद 282 के अधीन संघ अथवा राज्य किसी लोक प्रयोजन के लिये अनुदान दे सकता है; भले ही वह प्रयोजन संघ अथवा राज्य की विधायी अधिकारिता से परे हो ।

अनुच्छेद 274 अपेक्षा करता है कि ऐसे कराधान पर प्रभाव डालने वाले विधेयकों के बारे में, जिनसे राज्यों का हित जुड़ा हो, राष्ट्रपति की पूर्व सिफारिश आवश्यक होगी ।

राज्यों के विधानमण्डल विधि द्वारा व्यवसायों, व्यापारों, धंधों अथवा रोजगार पर कुछ कर लगा सकते हैं । लेकिन किसी व्यक्ति द्वारा देय इन करों की राशि 2500 रूपये प्रति वर्ष से अधिक नही होगी । व्यवसायों आदि से होने वाली आय के बारे में विधि बनाने की संसद की शक्ति पर उपबन्ध का प्रभाव नही पड़ेगा । अनुच्छेद 280 का उपबन्ध है कि हर पाँचवे वर्ष की समाप्ति पर राष्ट्रपति एक वित्त आयोग का गठन करेगा जिसमें एक अध्यक्ष और चार अन्य सदस्य होंगे । आयोग राष्ट्रपति को इस बारे में सिफारिशें करेगा कि संघ तथा राज्यों के बीच आगमों का वितरण किस प्रकार किया जाये । वह इस बारे में भी सुझाव देगा कि भारत की संचित निधि से राज्यों को सहायता अनुदान किन सिद्धान्तों के आधार पर दिये जाये । राष्ट्रपति आयोग की सिफारिशेंा का तथा उन पर की गई कार्यवाही को संसद के प्रत्येक सदन के समक्ष रखवायेगा (अनुच्छेद 280-281)।

संघ राज्य सम्बन्धों के क्षेत्र में इस बात पर विशेष बल दिया जाना चाहिए कि संघ-राज्य के स्थान पर केन्द्र-राज्य शब्द के गलत प्रयोग के कारण भारी नुकसान हुआ है और व्यापक गलतफहमी फैली है । संविधान में केन्द्र शब्द का इस्तेमाल नही किया गया है वास्तविकता यह है कि केन्द्रीय सरकार, केन्द्रीय विधानमण्डल, केन्द्रीय विधियां आदि शब्द औपनिवेशिक शासन के केन्द्र प्रधान शासन काल की अशुभ थाती के रूप में चले आ रहे हैं । केन्द्र तथा संघ शब्द नितांत भिन्न-भिन्न छवियॉ प्रस्तुत करते हैं और अति भिन्न संकल्पनाओं को दशति हैं । केन्द्र किसी परिधि के मध्य का बिन्दु है और संघ पूर्ण परिधि । संघ और राज्यों का आपसी सम्बन्ध वैसा ही है जैसा की समग्र देह का अपने अंगों से होता है न कि प्राधिकार के केन्द्र और उसकी परिधियों जैसा ।

संघात्मक शासन चाहे कैसा भी हो, उसमें केन्द्र-राज्य और अन्तर्राज्यीय सम्बन्धों में सदैव जटिलता उत्पन्न होती है । फिर भी एक ऐसे राष्ट्र में जहाँ आर्थिक नियोजन के माध्यम से अर्थव्यवस्था के संचालन और विकास का एक बहुत बड़ा उत्तरदायित्व राज्यों को

सौंपा गया हो, यह समस्या और भी अधिक ज्वलंन्त और जटिल बन जाती है । यह स्थिति केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में उनके नये और अतिरिक्त आयाम भी जोड़ती है । समग्र राष्ट्र के लिये नियोजन के माध्यम से विकास की समस्या केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की दृष्टि से कितनी महत्वपूर्ण है ।

केन्द्र तथा राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों पर विचार करते समय इस आधारभूत सिद्धान्त को ध्यान में रखना चाहिए कि संघात्मक शासन में विधायी और कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्र तथा राज्यों के बीच वितरण स्वयं संविधान द्वारा किया जाता है । केन्द्र निर्मित विधि द्वारा नही । इसलिये राज्य अपनी विधायी तथा कार्यपालिका शक्तियों के लिये किसी प्रकार भी केन्द्र पर आश्रित नही है । इस सम्बन्ध में राज्य तथा केन्द्र एक ही स्तर पर है ।

इस प्रकार के संविधान को केन्द्रवाद की संज्ञा किस प्रकार दी गई, यह समझना कठिन है । हो सकता है कि इसका कारण यह हो कि हमारा संविधान अन्य संघात्मक संविधान की अपेक्षा केन्द्र को विधायी तथा कार्यपालिका शक्ति के प्रयोग के लिये अधिक विस्तृत क्षेत्र प्रदान करता है । यह भी हो सकता है कि अवशिष्ट शक्तियाँ राज्यों के हाथ में न होकर केन्द्र के हाथ में हैं; किन्तु संघात्मक शासन प्रणाली का सार ये विशेषतायें नही है ।

संघात्मक सरकार का मुख्य लक्षण संविधान द्वारा विधायी तथा कार्यपालिका शक्तियों का केन्द्र और राज्यों में वितरण करना है । इस सिद्धान्त का हमारे संविधान में अनुसरण किया गया है अतः यह कथन असत्य है कि राज्यों को केन्द्र के अधीन रखा गया है । केन्द्र अपनी इच्छा से विभाजन रेखा नही बदल सकता । इसमें न्यायालय भी परिवर्तन नही कर सकते । वे संशोधन कर सकते हैं किन्तु इस वितरण को बदल नही सकते । नई युक्तियों तथा नये दृष्टिकोण को प्रस्तुत कर न्यायालय इन उपबन्धों की व्याख्या में कुछ अन्तर ला सकते हैं । किन्तु फिर (Marginal Case) में सीमा रेखा को थोड़ा इधर उधर कर सकते हैं । किन्तु फिर निश्चित रूप से विपरीत सत्ता द्वारा ऐसी सीमा रेखा सी बन जाती है जिसे वे लाँघ नही सकते न ही वे निश्चित रूप से दी गई शक्ति का पुर्नविभाजन ही कर सकते हैं । सत्ता वितरण की वर्तमान व्यवस्था को न्यायालय द्वारा व्यापक रूप दिया जा सकता है, किन्तु एक अधिकारी को नही सौंप सकते हैं ।

भारतीय संविधान में अब तक दृष्टि डालें तो व्यवहार में आपात् शक्ति के प्रयोग में अथवा विधायी, प्रशासनिक और वित्तीय सम्बन्धों के क्षेत्र में राज्यों पर छा जाने की प्रवृत्ति केन्द्र में कभी नही रही है । अधिकांशतः राज्य केन्द्र की नीति को पर्याप्त मात्रा मे प्रभावित करते रहे हैं, केन्द्र महत्वपूर्ण मसलों पर राज्यों के परामर्श को महत्व देता रहा है और उसका सदैव यही प्रयास रहा है कि प्रत्येक राज्य को अपने क्षेत्र में पूर्ण स्वतन्त्रता से कार्य करने का अवसर मिलता रहे ।

आपात शक्तियों के उपयोग को लें तो राज्यों में राष्ट्रपति ने आपात स्थिति की घोषणा प्रायः तभी की है जब सम्बन्धित राज्यपाल ने राज्य में संविधानिक तन्त्र की असफलता का प्रतिवेदन प्रस्तुत किया हो और यह भी केवल राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति पुनः पैदा न हो जाने तक ही चली है । विधायी सम्बन्ध में भी संसद की स्थिति यद्यपि प्रधानता की है और राज्य विधानमण्डलों की विधायी शक्तियॉ मर्यादित हैं । तथापि बहुत कम स्थितियों में केन्द्र ने राज्यों द्वारा उसकी अनुमति के लिये प्रस्तुत विधेयकों को अस्वीकार किया है । राज्य सूची के विषयों में केन्द्र ने अनावश्यक हस्तक्षेप कभी नही किया और यदि किया भी है तो राज्य सरकारों को अपने विश्वास में लेकर ही । पुनश्च, राज्य सरकारों के वे ही अधिनियम प्रायः निष्प्रभावी हुये हैं जो केन्द्रीय विधि से टकराते है ।

प्रशासनिक सम्बन्धों में भी केन्द्र में संविधान प्रदत्त अपने प्रभुत्व क्षेत्र के उल्लंघन करने की प्रवृत्ति नही रही है । संघात्मक शासन व्यवस्था की शक्ति और सफलता संघ तथा राज्यों के बीच अधिकतम सहयोग और समन्वय पर निर्भर है और भारत में कुछ अपवादों को छोड़कर अधिकांशतः दोनों ही सरकारों ने अपने सम्बन्धों का कुशल समायोजन किया है । संविधान ने केन्द्र को राज्यों की अपेक्षा अधिक कर्त्तव्य सौंपे हैं और देश में शान्ति और व्यवस्था का उत्तरदायित्व मुख्यतः केन्द्रीय सरकार पर है तो भी केन्द्र राज्यों पर अपना नियंन्त्रण लादने की स्थिति से सदैव बचता रहा है । आपातकालीन स्थिति में राज्य सरकार जब पूरी तरह केन्द्रीय सरकार के अधीन कार्य करती है तो भी केन्द्रीय सरकार ऐसी स्थिति को प्रायः टालती रहती है, जिससे राज्य सरकार के महत्व का लोप होता हो । संविधान प्रदत्त शक्तियों के अधीन रहते हुये केन्द्र राज्यों को निर्देश दे सकता है संघीय कार्यो को राज्यों को सौंपता है, अखिल भारतीय लोकसेवाओं की व्यवस्था करता

है तथा केन्द्रीय अनुदान देता है पर इन सब बातों के बावजूद भी उसने यथासम्भव राज्यों की इच्छाओं और स्वायत्तता का आदर किया है । अखिल भारतीय सेवाओं का उपयोग भारतीय एकता के हित में होता है । अखिल भारतीय सेवा के प्राधिकारी राज्यों में उच्च पदों पर आसीन रहकर राज्य सरकार के प्रति पूरी निष्ठा से अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करते हैं और वह भी इस कुशलता के साथ कि ''ऐसे बहुत कम अवसर आये हैं जबकि उसकी अखिल भारतीय निष्ठा और किसी राज्य सरकार के प्रति निष्ठा में विरोध उत्पन्न हुआ हो जैसा कि सन् 1967 में बंगाल में संयुक्त मंत्रिमण्डल में परस्पर मतभेद होने पर उत्पन्न अस्पष्ट स्थिति में हुआ था ।''[8] संविधान ने केन्द्रीय सरकार और राज्य सरकार के बीच मतभेदों को सुलझाने के लिये कुछ उपाय सुझाए हैं जो लोकतांत्रिक भावना के अनुकूल हैं ।

वित्तीय सम्बन्धों के क्षेत्र में केन्द्र प्रारम्भ से ही राज्यों को विभिन्न प्रकार से सहायता और सहयोग देता रहा है, केन्द्रीय सरकार खुले दिल से राज्यों को अनुदान देती रही है, तथापि उसकी भी अपनी सीमायें हैं प्रति पाँचवें वर्ष वित्त आयोग की नियुक्ति की जाती है जो संघ और राज्यों में विभाजित होने वाले करों से प्राप्त आय, केन्द्रीय अनुदान की राशि आदि के बारे में सिफारिश करता है । राज्यों की प्रायः यह शिकायत रही है कि केन्द्र पर उनकी वित्तीय निर्भरता बढ़ती जा रही है अथवा राज्य की आवश्यकता के अनुरूप केन्द्रीय अनुदान नही मिल पाता, आदि लेकिन धन की थैली लुटाई नही जाती, केन्द्र को सभी वित्तीय कदम राष्ट्रीय हित को ध्यान में रखकर उठाने पड़ते हैं । केन्द्र के बारम्बार आग्रह करने के बावजूद राज्यों ने ग्रामीण क्षेत्रों से अपने राजस्व साधन बढ़ाने में उदासीनता दिखाई है और साथ ही उनकी प्रवृत्ति अपने अनुत्पादक खर्चों को बहुत अधिक बढ़ाने की रही है । केन्द्रीय सरकार ने अपनी शक्तियों के प्रयोग में मनमानी नही की है । सरकारों की स्वायत्तता तभी प्रभावयुक्त रह सकती है जब केन्द्र राज्यों के और राज्य-केन्द्र के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करें । इस व्यवस्था से प्राप्त साधनों एवं किये गये व्यय में असन्तुलन नही आ पाता । इस शासन व्यवस्था के विपरीत संघात्मक शासन व्यवस्था में साधनों एवं कार्यों के असन्तुलित बंटवारे के कारण राज्यों के प्राप्त साधनों तथा

[8] काश्यप डॉ० सुभाष : संविधान की आत्मा पृ० 76-77

व्यय में गहरा अन्तर देखा जा सकता है । राज्यों की इस असन्तुलित अर्थव्यवस्था के कारण राज्यों के कार्यक्षेत्र में केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप अपेक्षाकृत सरल हो जाता है ।

"भारत संघ के राज्यों में अक्षम नेतृत्व, दलबदल, दलो की आन्तरिक गुटबन्दी आदि के कारण राजनीतिक स्थायित्व प्रायः कम ही रहा है । अधिकांश राज्य काफी हद तक राजनीतिक अस्थिरता के शिकार रहे हैं । वहाँ सांविधानिक संकट पैदा होते रहे हैं और फलस्वरूप बार-बार राष्ट्रपति शासन लागू करता पड़ा है" ।[9]

निष्कर्ष रूप में यही कहना चाहेंगे कि संसद को इस बात के लिये सतर्क रहने की आवश्यकता है कि वह यह परीक्षण करती रहे कि संविधान के अनुच्छेद 352, 356, 360 तक के विभिन्न आपात उपबन्धों के अधीन राष्ट्रपति को प्राप्त व्यापक शक्तियों का उचित उपयोग हो । संसद को यह सुनिश्चित करना है कि आपात स्थिति में विधि-शासन का उल्लंघन न हो । आपातकाल में भी लोकतंत्र को सुदृढ़ता से प्रतिष्ठापित करने की आवश्यकता है, परन्तु यह दृढ़ता इसी सिद्धान्त पर आधारित है कि उसकी शक्तियों का उपयोग विधि अनुरूप हो । कार्यपालिका को आपातस्थिति की उद्घोषणा करने सम्बन्धी समस्त शक्तियाँ संसद एवं संविधान से प्राप्त करनी चाहिए ।

भारत के संविधान ने एक शक्तिशाली केन्द्र की स्थापना की है और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के प्रत्येक क्षेत्र में केन्द्र की प्रधानता है । सांविधानिक प्रावधानों में केन्द्र को एक शक्तिशाली साझेदारी के रूप में प्रस्तुत किया गया है । गत 100 वर्षों में ब्रिटिश शासन की अनेक सरकारी परम्परायें ऐसी हो रही हैं जिन्होने केन्द्रीकरण की प्रवृत्ति को अधिकाधिक सुदृढ़ बनाया है । स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व प्रान्तीय सरकारें केन्द्र की अधीनस्थ संस्थायें मात्र थी, यद्यपि आज यह स्थिति नही है तथापि केन्द्रीकरण का प्रमाण स्वतः स्पष्ट नही है । अखिल भारतीय सेवाओं की विधमानता केन्द्रीय प्रशासनिक इकाईयों का वर्चस्व तथा लोक सेवाओं के वरिष्ठ अधिकारियों की उपस्थिति भारतीय व्यवस्था में केन्द्र सरकार की शक्तिशाली द्योतक हैं । विधायी सम्बन्धो में भी केन्द्र का वर्चस्व है और वित्तीय सम्बन्धों में भी केन्द्र सबल है, उसके विस्तृत और लचीले आय स्रोत कुछ कठोर और सीमित हैं । न्यायिक सम्बन्धों को लें तो संविधान ने एकल न्यायिक व्यवस्था की स्थापना

---

[9] काश्यप डॉ० सुभाष : दल-बदल एवं राज्यों की राजनीति 1970, पृ० 409-410

की है, और सर्वोच्च न्यायालय का कोई भी लेख समूचे देश में और विधि के प्रत्येक क्षेत्र में लागू होता है पर फिर भी राज्यों की स्थिति 'नगरपालिकाओं' जैसी नही है। वे अनेक दृष्टियों से प्रभावशाली हैं और स्वतन्त्र भारत का इतिहास बताता है कि केन्द्र की शक्ति राज्यों के समुचित सहयोग पर निर्भर है। केन्द्र और राज्यों के मतभेदों को सदैव विचार विमर्श द्वारा सुलझा दिया गया है। दोनों के बीच टक्कर की नौबत कम ही आयी है।

संविधान में संशोधन की प्रक्रिया सरल रखी गयी है ताकि सामाजिक स्थिति के अनुसार इसमें परिवर्तन किया जा सके। वित्त आयोग और चुनाव आयोग जैसे स्वायत्त प्राधिकरणों को कार्य विधि में महत्वपूर्ण परिवर्तन के अधिकार प्राप्त है। विशेष अधिकार प्राप्त सम्मेलन और आयोगों के जरिए केन्द्र और राज्यों के मतभेद कम करने की व्यवस्था की गई है।

वास्तव में योजना क्षेत्र में केन्द्र की प्रमुखता और एकात्मकता की प्रवृत्ति इस मूलभूत विचार से प्रेरित है कि योजना को राष्ट्रीय हित की दृष्टि से संचालित करने, उसे राष्ट्रीय स्वरूप देने और सम्पूर्ण देश में नियोजन को समान गति से चलाने के लिये इसका ज्वलन्त प्रमाण यही है कि देश मे अभी तक किसी राज्य में कभी वित्तीय आपात की स्थिति लागू नही की गई है। केन्द्र वित्तीय क्षेत्र में राज्यों के प्रति निरन्तर उदार होता जा रहा है। इसका ज्वलन्त प्रमाण सातवें और आठवें वित्त आयोगों की वित्तीय सिफारिशें हैं। इन सिफारिशों में केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों को काफी हद तक सुधारा गया है; या यों कहें कि राज्यों में अपने पाँवों पर खड़े होने का विश्वास भरा है।

स्पष्ट है कि राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी कहना किसी भी स्थिति में ठीक नही है- वस्तुतः भारत में सरकार संघवादी है। यह बात केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की सांविधानिक व्यवस्थाओं से स्पष्ट हो जाती है।

एक आदर्श संघात्मक व्यवस्था के लिये यह आवश्यक है कि वह संघीय व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों में विश्वास करें। इस सम्बन्ध में सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त यह है कि केन्द्रीय तथा राजकीय सरकारें अपने-अपने निश्चित क्षेत्रों में स्वतंत्र रहें। दोनों ही सरकारों की स्वयत्तता तभी प्रभावयुक्त रह सकती है जब केन्द्र-राज्यों के और राज्य-केन्द्र के आर्थिक मामलों में हस्तक्षेप न करें। इस व्यवस्था से प्राप्त साधनों एवं किये गये व्यय

में असन्तुलन नही आ पाता । इस शासन व्यवस्था के विपरीत संघात्मक शासन व्यवस्था में साधनों एवं कार्यों के असन्तुलित बंटवारें के कारण राज्यों के प्राप्त साधनों तथा व्यय में गहरा अन्तर देखा जा सकता है । राज्यों की इस असन्तुलित अर्थव्यवस्था के कारण राज्यों के कार्य क्षेत्र में केन्द्रीय सरकार का हस्तक्षेप अपेक्षाकृत सरल हो जाता है ।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि विधायी; प्रशासनिक वित्तीय और न्यायिक सभी क्षेत्रों में राज्यों की तुलना में केन्द्र को बहुत अधिक अधिकार प्रदान किये गये हैं । भारतीय संघवाद की सामान्य प्रकृति के अनुकूल ही संवैधानिक उपबन्धों की योजना हुई है । राज्यों को केन्द्र का नेतृत्व स्वीकार करना पड़ता है और केन्द्र के आदेशों का पालन भी करना पड़ता है । लेकिन यह कहना ठीक नही है कि राज्यों की स्थिति नगरपालिकाओं जैसी हो गई है व्यवहार में केन्द्र-राज्यों के प्रति उदार, सहनशील व समझौतावादी रहा है । इसके अतिरिक्त संवैधानिक व्यवस्थायें ऐसी हैं जो राष्ट्रीय एकता को बढ़ावा देती हैं, केन्द्र तथा राज्यों में सहयोग व समन्वय का वातावरण उत्पन्न कर संघर्ष या मुकदमेंबाजी की नौबत की बहुत कम गुंजाइश छोड़ती हैं ।

सन्दर्भ ग्रन्थ

PRIMARY SOURCES (मूल स्रोत)

Reports:

- A. I. R 1957, S. C., 699
- A. I. R. 1958, S. C., 452
- A. I R. 1960, S. C., 1080
- A. I. R. 1963, S. C., 1241
- A.R.C. Report
- Cooperative Federalism, as spelt out by the planning commission (see Ninth five year plan 1997-2002 op cit) is different than the one described in the American History.
- Government of India; Report of the administrative reports.
- Government of India; Report on Indian and State Administrative Service and Problems of District Administration.
- I.I.P.A.; Organization of The Government of India year 1990
- India 1988, 1989, 1990, 1992, 1994, 1995, 1996, 1997
- India Administrative Reforms Commission. Report on Center-State Relationship; Delhi Manager of publications, 1969
- Khan Rashceduddin; Political science and the political system in India, ICSSR survey of research in political science vol.-1
- Kothari Rajni; Studies on political perfarmance and policy process, ICSSR survey of research in political science vol-1.
- Lok Prashasan, A Quarterly in Hindi; An associate Publication of IIPA
- Ministry of Home Affairs; Annual reports of various ministries.
- Ministry of Home Affairs; Report of third and fourth finance commission.

- Minitues of the Provinshial Constitution; A study part V New Delhi; The Indian Institute of Public; Administration; New Delhi 1988.
- National Academy of administration; Administration.
- Nehru Report
- Planning Commission, Ninth five year plan, 1997-2002 vol-1, 1998, Chapter 6-P.P. 250- 67; Draft prepared at the Internal meeting of the planning commission.
- Planning Commission; The five years plan.
- Rajamannar P. V. A. — Plea for re-examination of centre-state financial relations, minutes, report of the fourth finance commission 1965 commerce 1967, 114 (2918) 684-5
- Report of the center-state relations Inquiry committee; Government of Tamilnadu; Sarkaria commission Report – 2 vols.
- Reserve Bank of India Bulletin, 1969, 23 (6) 747.
- Secretariat Training; Organization setup and functions of the ministeries and departments of the government of India.; Publications division : GOI; Year 1990
- Tamil Nadu – centre-state relations Inquiry committee, Report, Madras, Director of stationary and printing, 1971. P. 1 282 Chairman : P. V. Rajamannar;Subsequently referred to as Rajamannar report
- The Rajamannar Report–A survey of Relations-B.L.Maheshwari, R.Ram Mohan Rao.
- Venkatarman K.– State Finances in India;London,Allen and union 1966.P.187-190
- भारत सरकार कार्मिक और प्रशासनिक सुधार विभाग वार्षिक रिपोंट 1984-85
- राज्य सभा के वाद-विवाद 1950—1996
- लोक सभा के वाद-विवाद 1950—1996

SECONDARY SOURCES (अन्य स्रोत)

English Books:

- Agrawal R.C. — Bhartiya Sanvidhan Ke Vivechan.

  — — — — — Comparative Study of Indian Constitution and Administration; Allied Publisher.

- Alexendrobitch C. H. — Constitutional Development in India, Oxford University Press
- Ambedkar B. R. — Federation versus Freedom; Bombay R. K Tatnis, 1939,156 P; Kale Memorial Lecture 1939 Gokhale Institute
- Appleby Paul A — Public Administration for a Welfare State; Government of India

  — — — — — — — — — Public Administration in India; Government of India

- Avasthi & Maheshwari — Public Administration;Luxmi Narayan Agrawal Agra
- Aiyer S. P. — Political Context of Indian Administration 1771-17(3); New Delhi Allied Publisher

  — — — — — — Union State Relationship in India; New Delhi Allied Publisher)

- Basham A. L.— The wonder that was India 1954 P. 15.
- Basu D. D. — Constitution of India; Prentice Hall of India Pvt. Ltd. New Delhi
- Bhambhari C. P. — Public Administration in India.;Meerut Meenakshi Prakashan, 1967
- Bhatia K. L. — Federalism and Frictions in Centre-State Relations; Deep & Deep Publications Pvt. Ltd.Delhi 2001

- Chandra Ashok — Indian Administration.

  — — — — — — — Federalism in India; A study of union-state relation.

- Colder R.— The Interitors 1961, p. 99.
- Dicey A. V. — Law of the Constitution 8th edition.
- Finer Harman — Theory and Practice of Morden Government.
- Freeman — History of Federal Government vol-1.
- Gladhil Alan — The Republic of India; Swivence and Sons London
- Gupta D. C.— Indian Government and Politics; New Delhi Vikas Publishing House
- Jain M. P., Kashyap S. C., Srinivasan N. Eds. — Union and The States; Delhi National Publishing House 1972 XV 522
- Jenings Sir Aiver — Some Characteristic of Indian Constitution; Oxford University Press, London
- Jenna B. B. — Parliamentary Committees in India.
- Kapur A. C. — The Indian Political System.
- Kazimi M. R. — The supreme Court and the Centre-State Legislative Relations; in A. P. Vijapur (ed) Op cit P. 140
- Khan Rashceduddin — Political Science and Political System in India.
- Kidwai M. S. — Judiciary and The Federal System, Parliamentary Studies 1972.
- Kothari Rajni — Politics in India; Delhi Orient Longman-1970.
- Kurian M. — Indian State and Society.
- Maheshwari B. L. — Indian Administration; Administrative Staff College of India Hyderabad.

— — — — — — State Government in India; Administrative staff college of India Hyderabad

— — — — — — — — — Centre-State Relations; Administrative staff college of India Hyderabad

- Mazumdar D. L — Note on approaches to the study of centre-state relations; in Jain S.N. and others Ed., The Union and The States, Delhi National Publisher House, 1972.
- Mehta U., Aiyer S. P. Eds — Essay on Indian Federalism; Bombey, Allied Publisher 1965-342, P.
- Menon V. P. — The Story of The Integration of Indian States.
- Mishra R. B. — Administrative History of India.
- Morris Jones W. H. — The Government and Politics of India.
- Munshi K. M. — Centre-State Relations.
- Narain Iqbal — State Politics in India; Meerut Meenakshi Prakashan 1967, 611P
- Narang A. S. — Indian Government and Politics.
- Newton A. P. — Federal and Unified Constitution 1923 edition.
- Palmer — Indian Politics System.
- Punniah K. V. — India as a Federation; Madras Paul & Co. 1956
- Pylee M. V. — Constitutional Govt. in India; Asia Publishing House Bombay

— — — — — — India's Constitution; United Book House-Delhi

- Rao D. N. — Fiscal Federalism in India; in A P. Vijapur (ed) 1998
- Ray Amal — Inter Government Relation in India.
- Saieed S M — Bhartiya Rajnitik Pranali; The Macmillan Company of India Ltd.

- Santhanam K. — Union State Relations in India., Asia Publishing House Bombay 1963
- Saran Parmatama — Public Administration in India.
- Sen D. K. — Comparative Study of Indian Constitution.
- Sharma P. D., Sharma B. M. & Neelam Grover — Bharat Men Lok Prashasan.
- Singh D. P. — Problems of Public Administration in India.
- Singh G. N. — Indian States and British India their Future Relation.
- Singh S. P. — Centre-State Relations in Agricultural Development; Delhi Vikas Publishing House Pvt. Ltd. 1973.
- Siwach J. R. — Politics of Presidents Rules.
- Sri Prakash — State Governors in India; Meerut Meenakshi Prakashan 1966
- Subramaniam V. — Role of Civil Servants in India and Political System.
- Wattal P. K. — Parliamentary Financial Control in India.
- Weiner M.— State Politics in India; Princeton, N. J, Princeton University Press 1968
- Wheare K. C. — Federal Government (IIed); Oxford University Press London 1963

हिन्दी पुस्तकें

- अवस्थी एवं महेश्वरी– लोक प्रशासन 1999; लक्ष्मी नारायण अग्रवाल आगरा
- एम० सी० जे० कागजी– दि जून इमरजेंसी एमेडमेंट्स; मैट्रोपोलिटन पब्लिशर्स 1977
- कोठारी रजनी– भारत में राजनीति; ओरियन्ट लांगमैन लिमिटेड नई दिल्ली

  ––––––– भारतीय सरकार एवं राजनीति; ओरियन्ट लांगमैन लिमिटेड नई दिल्ली
- काश्यप डॉ० सुभाष– दल-बदल और राज्यों की राजनीति नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया

  ––––––––– संविधान की आत्मा; नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया

  ––––––––– हमारा संविधान; नेशनल बुक ट्रस्ट इंडिया
- कौशिक डॉ० सुशीला– भारतीय शासन एंव राजनीति; हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय दिल्ली-विश्वविद्यालय दिल्ली
- गुप्त डी० सी०– इंडियन गवर्नमेंट ऐण्ड पालिटिक्स; विकास पब्लिशिंग हाऊस, दिल्ली
- ग्रैनविल आस्टिन– दि इंडियन कान्स्टीट्यूशन, कार्नरस्टोन आफ ए नेशन; आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस
- चन्द्र विपिन– आजादी के बाद भारत हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय; दिल्ली विश्वविद्यालय 2002
- चन्द्रा अशोक– फेडरलिज्म इन इंडिया; जार्ज एलेन ऐ अनविन 1965
- जैन एस० एन० एंड अदर्स(स)– दि यूनियन एंड दि स्टेट्स; नेशनल पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली 1972
- नारायण इकबाल– राष्ट्रीय आन्दोलन तथा भारतीय संविधान; मेरठ मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
- पाण्डेय जयनारायण– भारत का संविधान
- पायली एम० वी०– भारतीय संविधान स्वरूप और विकास; एशिया पब्लिशिंग हाऊस दिल्ली

- प्रसाद डॉ० राजेन्द्र– भारत का संविधान; दिल्ली केन्द्रीय शासन मुद्राणालय 1950 (डॉ० राजेन्द्र प्रसाद की अध्यक्षता में हिन्दी मे अनुवादित अनुच्छेद 356)
- फाड़िया बी० एल०– भारतीय शासन एवं राजनीति; साहित्य भवन आगरा
- बसु दुर्गादास– भारत की सांविधानिक विधि; प्रैन्टिस हाल आफ इंण्डिया प्राइवेट लिमिटेड नई दिल्ली
- भारत का संविधान– रजत जयन्ती संस्करण
- भाम्भरी चन्द्र प्रकाश– भारत में लोक प्रशासन; मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ
- मिश्र कृष्ण कान्त– भारत की राजनीतिक प्रणाली
- वर्मा कन्हैया लाल– राजनीतिक भारत 1940 ई० में 1951 तक सातवाँ परिच्छेद, भारतीय संघ कार्य विभाजन एवं वित्तीय व्यवस्था ।
- सईद एस० एम०– भारतीय राजनीतिक प्रणाली; दि मैकमिलन कम्पनी आफ इंडिया लिमिटेड दिल्ली
- सुब्रहमण्यम– भारतीय प्रशासन; प्रकाश्न विभाग, भारत सरकारें 1974
- शर्मा एम० पी०– लोक प्रशासन सिद्धान्त एवं व्यवहार
- शर्मा डॉ० हरिश्चन्द्र– भारत में लोक प्रशासन; कालेज बुक डिपो जयपुर
- शर्मा पी० डी०, शर्मा बी०एम०, ग्रोवर नीलम– भारत में राजनीतिक प्रशासन
- शर्मा बी०एम– संघवाद तथा संघात्मक शासन; हिन्दी समिति सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ

ARTICLES

- Banerjee D. N. — Demand for Full Autonomy for State, Swarajya 17 October 1970 P.P. 3-4

  — — — — — — Some Constitutional Implications of the Report of the Centre-State Relations Enquiry Committee; Tamil Nadu; Modern review 1972, 130(6) 449-56.

- Bapat B. G. — Centre-State Relations Rajamannar Panel Report a New Approach; Economic Times 8 July 1971, P. 5;
- Bhai Mahavir— Centre-State Financial Relations-Need for Organization; organizer 5 April 1972
- Bharadvaja B.— Recent Development in Indian Federalism; Supreme Court Journal; India 1987
- Bhatia S. — Federal System under Strain-new challenges; Times of India; Delhi 31 March 1970 P,6.
- Chanda A. K.— Centre and The State-need for new adjustments; Times of India 14 April 1989 P-3

  — — — — — — The Financial Aspect of Union State Relations; In Kashyap S. C. Ed. Union state relations in India: New Delhi. Institute of constitutional and Parliamentory studies, 1989, P. 137.

- Chaubey P. K.— Towards and Ideal System of Federal Goverance; An Attempt to Develop a Proto-type Traternal mode.
- Dwivedi M. K.— Distinctive Federalism of Indian Republic; AICC; Economic Review
- Dwivedi M. L.— Distinctive Federal of The Indian Republic; AICC; Economic Review; I November 1984, 7-10

- Gangal S. C.— Approach to Indian Federalism; Political Science Quarterly 1982, 77(2) 249-53
- Indian Journal of Public Administration
- I.J.P.A. — Journal of The Indian Institute of Public Administration.
- Iqbal Narain — The Office of The Governors Journal of African and Asian Studies 1988.
- Jay Tilak Ray — Restructuring Center-State Relations, The Sarkarıa Commission and Beyound Sibranjan Chatterjee; Calcutta, Minerva Associates 1997, P.P. 137+viii
- Jena B. B. — Governors Right to Suspend M.L.A.; Journal of Constitutional and Parliamentary Studies vol-2.
- Joshi G. N. — Indian Federalism; Law 1988, 8, 287, 99; Bombay University.
- Khanna H. R. — Judgement of Article 356, A.I.R. 1994 journal 145.
- Khurana J. R — Center Vs. State; Hindustan Times 30 March 1969, P-9
- Kothari R. — Union and State Relations.; Economic Weekly; 1981, 13(17)
- Malhotra — Guidelines for Governor.; The Times of India 21 June 1971

———— Pay Now, Regret Later; The Times of India 9 March 1971

- Natrajan R. — Centre-State Relations; Indian Express 3 May 1971,P-6
- Nayar K. — Rajamannar Committee Report-Likely Impact on The Centre.; Stateman 2 June 1971

———— States Deserve a Larger Share of Authority; Statesman 22 April 1989

- Pylee M. V.— Governor and The Constitution; Economic and Political weekly 1987, 2(31) 1367-72

———— State Under Constitutional Emergency; Journal of Common- Wealth and Political Studies 1997, 1,(2)20.

- Rajamannar Pannel Recommendations — DMK keeps pot boiling; Mainstream June 12, 1971.
- Rajamannar Committee Report Examined; Eastern Economist 1971, 57 (3) 102-4
- RajKhowa H. C — Union-State Relations; Mainstream. 1989,13(38) 15-16
- Ramaswami E. K.— Debate over Centre-State Relations; Hindu
- Rao T. P.— Feralism and Parliamentary System; Hindu 31 January 1991, P-80
- Sahay S.— Centre-State Relations; Statesman Delhi; 12 June 1973, P-6. ibid 13 June 1973, P.11
- Sethi J. D. — Centre vs The States; Statesman 4 July 1971
- Shah J. C. — Some Aspect of Centre-States Relations under The Constitution.; Law Quarterly 1989, 6(3), 151-60
- Sham Lal — "The Rajamannar report : More wind Mills to Tilt At"; The Times of India, May 29, 1971
- Sharma B. M. — Relations between The Centre and The Units in The Indian Union; Indian Journal of Political Science 1970, 11(4), 45-56.
- Shiva Rao B.— Centre-State Financial Relation; Hindu 31 May 1998, P.6
- Singa D. N.— Federalism in The Indian Constitution; Law Quarterly 1985 (December) 283-95
- Sri Prakash — Centre and States; Indian Express (Delhi) 15 May 1969, P.6
- Sudarsan P.— Centre-State Relations; Indian Express 16 May 1970
- Sunder Rajan — A New Approach to Federal Finance; Yojana
- Thorny Issue of Centre State Relations; Hindu 11 July 1969, P.6

हिन्दी लेख

- अनुच्छेद 356, योजना 2002
- पार्लियामेंटरी डिबेट्स- भाग 14 पार्ट 2, 7, 29 अगस्त 1951; दि स्टेट्समैन (कलकत्ता), जून 17, 1951
- मध्यप्रदेश संदेश प्रकाशन शाखा सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय भोपाल (पाक्षिक) नवम्बर 1986 और 1988
- लोकसभा के वाद-विवाद, पार्ट टू भाग 8, 1954 कालम 5-10 और 1710-40: दि हिन्दू (मद्रास) नवम्बर 7, 1954
- शिवराय वी- संविधान सभा के वाद-विवाद
- "संघ और राज्य- एक और गोष्ठी नतीजा कुछ नही" नन्द किशोर त्रिखा- दि नवभारत टाइम्स, 23 दिसम्बर 1978
- बड्टवाल विजय बल्लम्—योजना, मार्च 1981 एवं भारत सरकार की प्रेस विज्ञप्तियाँ 1984-85
- सूद ओ० पी०: आजादी से 2002 तक पंचायती राज का सफर कुरूक्षेत्र जनवरी 2002
- 1966-68 की फाइलों; इस काल में पश्चिम बंगाल, राजस्थान, बिहार आदि की तरह मध्यप्रदेश में भी काफी हंगामें हुये और ऐसे उपद्रवी सदस्यों के निलम्बन पर चर्चा भी हुई : नवभारत

English Magzines:

- Frontline
- Gentleman
- India Today
- Indian Republic, AICC Economic review
- Law
- Mainstream
- Organizer
- Political Science Quarterly
- Probe
- Statesman
- Sunday
- The Week
- Weekly
- World Focus

हिन्दी पत्रिकायें

- इंडिया टुडे
- कादम्बिनी
- कुरूक्षेत्र
- दिनमान
- माया
- योजना
- साप्ताहिक हिन्दुस्तान

English News Papers:

- Hindustan Standard (New Delhi)
- Indian Express (New Delhi)
- Indian Express (New Delhi)
- Northern India Patrika.(Allahabad)
- Our Leader (Allahabad)
- The Hindu.(Delhi)
- The Hindustan Times (Lucknow ed.)
- The Hindustan Times (New Delhi)
- The Sunday (Calcutta)
- The Times of India (New Delhi)

हिन्दी समाचार पत्र

- अमर उजाला (इलाहाबाद संस्करण)
- अमृत प्रभात (इलाहाबाद)
- अमृत संदेश
- जनसत्ता
- देशबन्धु (रायपुर) 11-12-1992
- दैनिक भास्कर (जबलपुर) 11-12-1992
- दैनिक जागरण (इलाहाबाद, कानपुर)
- नवभारत (रायपुर) 16 दिसम्बर 1992
- नवभारत टाइम्स (नई दिल्ली)
- हिन्दुस्तान टाइम्स (दिल्ली)